सप्तम अध्याय २२४ श्लोक जत्रा
चतुर्थ अध्याय १६ श्लोक १८८ २२२

निवेदन

मनु के भाषानुवाद की धर्मजिज्ञासुवों को जितनी अधिक आवश्यकता है, उसे जिज्ञासु ही जानते हैं। और सम्प्रति मन... ...टीका और भाषा टीकाओं के होते हु...

...स्मृतिः

...कृत-भाषानुवाद-सहिता

तथाच

यथाऽऽवश्यकं तत्रतत्रोपयुक्त
विशिष्टव्याख्यानैः संवर्धिता

सा चेयम्

सामवेदभाष्यकारेण, वेदप्रकाशसम्पादकेन
तुलसीराम स्वामिना

संस्कृतभाषानुवादादिना सम्पाद्य
स्वकीये (मेरठनगरस्थे) स्वामियन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशिता

सृष्टिसंवत् १९७२९४९००१ वि० सं० १९५१

THE
MANU...TI

...भाजा ने श...
...नी माना। मुख्य...
...यण, कुल्लूक, राघवानन्द, न...

...सी और प्रसिद्ध ६ टीकाकारों की टीकाओं के अतिरिक्त १—बङ्गा... ...टक सोसाइटी। २ उज्जैन के सोरठी बाबा रामभाऊ। ३ उज्जैन के आठवले नाना साहब। ४-७ मुन्शी हनुमान्प्रसाद प्रयाग। ८ खण्डवा के राववहादुर खेरे बल्लालात्मज वासुदेवशर्मा। ९-१० मिरज के महाबल वामन भट्ट। ११ यौतेश्वर के रामचन्द्र। १२—१४ पूना के ज्योतिषी बलवन्तराव। १५ अहमदाबाद के सेठ बेचरदास। १६ शम्भुमहादेव क्षेत्र के जावडे बलवन्तराव। १७ बङ्गाल

सप्तम अध्याय २२४ श्लोक पत्रा
चतुर्थ अध्याय १०६ श्लोक १८८ २२२

निवेदन

मनु के भाषानुवाद की धर्मजिज्ञासुवों को जितनी अधिक आवश्यकता है, उसे जिज्ञासु ही जानते हैं। और सम्प्रति मनु पर अनेक संस्कृत टीका और भाषा टीकाओं के होते हुवे भी एक ऐसे अनुवाद की आवश्यकता थी जो सुगम हो, अल्प मूल्य का हो, संक्षिप्त और मूल का आशय भले प्रकार दिखलाने वाला हो, जिस के अर्थों में खेंचातानी और पक्षपात न हो। इस पर भी यह जाना जासके कि कितने और कौन २ से श्लोक लोगों ने पश्चात् मिला दिये हैं। यह एक ऐसा कठिन काम है, जैसे दूध में मिले पानी का पृथक् करना। इसी लिये हमने ऊपर लिखे गुणों से युक्त यह टीका छापी है और पीछे से जो श्लोक हमारी समझ में औरों ने मिला दिये हैं, उन को ठीक उसी स्थान उपस्थित रक्खा है परन्तु " " चिन्ह उनके ऊपर कर दिया है और संक्षेप से उनके प्रक्षिप्त मानने के हेतु दिखलाते हुवे उस के अर्थ में कुछ हस्तक्षेप न करके अपनी सम्मति ( ) चिन्ह के भीतर लिख दी है। जिस में जिन सज्जनों को उन २ श्लोकों के प्रक्षिप्त मानने का हेतु पर्याप्त (काफी) प्रतीत हो, वे श्रद्धा करें और जिनकी दृष्टि में अग्राह्य हो, वे न मानें। क्योंकि हम निर्भ्रान्त वा सर्वज्ञ नहीं हैं। और न मनुष्य सर्वज्ञ होसकता है। इसीसे अपनी सम्मति को सर्वोपरि मानकर पुस्तक में से वे श्लोक निकाल नहीं दिये हैं। जहां तक बना छान बीन बहुत की है। कितने ही ऐसे श्लोकों का पता लगता है जो अब मूल में से निकल गये। प्राचीन काल में थे। हम ने उनको भी [ ] कोष्ठक में रक्खा है। जिन श्लोकों को स्वामीजी ने अपने ग्रन्थों में माना है उन में से हमने किसी को प्रक्षिप्त नहीं माना। मुम्बई के एक पुस्तक को जिस में मेधातिथि, सर्वज्ञनारायण, कुल्लूक, राघवानन्द, नन्दन और रामचन्द्र; इन परिश्रमी और प्रसिद्ध ६ टीकाकारों की टीकाओं के अतिरिक्त १-बङ्गाल ऐसियाटिक सोसाइटी। २ उज्जैन के सोरठी बाबा रामभाऊ। ३ उज्जैन के आठवले नाना साहब। ४-७ मुन्शी हनुमान्प्रसाद प्रयाग। ८ खण्डवा के रावबहादुर खरे बल्लालात्मज वासुदेवशर्मा। ९-१० मिरज के महाबल वामन भट्ट। ११ यौतेश्वर के रामचन्द्र। १२-१४ पूना के ज्योतिषी बलवन्तराव। १५ अहमदाबाद के सेठ बेचरदास। १६ शम्भुमहादेव क्षेत्र के जावड़े बलवन्तराव। १७ बङ्गाल

ऐसि० के मूल पुस्तक । १८ आर्स्टे लिमये के गोविन्द । १९—लण्डन का पुस्तक मूल । २० कलिकाता राजधानी का छपा । २१ मिरज के वामनभट्ट का राघवानन्दी टीका का । २२ बड़ौदे के वासुदेव । २३ जयपुर के लक्ष्मीनाथशास्त्री (राघ०) । २४ मद्रास के दीवान बहादुर रघुनाथराव । २५ पूने के गणेश ज्योतिर्विद् । २६ पूना के गोखले भट्टनारायण ।२७—जयपुर के लक्ष्मीनाथ शास्त्री का मूलमात्र । २८ सर्वज्ञना० टी० २९—३० आर्ष्टे के लिमये गोविन्द के राघवा०टी०। इन ३० प्राचीन पुस्तकों का संग्रह किया है। पाठान्तर, पाठाधिक्य, श्लोकाधिक्य आदि को देख भाल कर यथासम्भव अपनी सम्मति लिखने में सावधानी की है। और अब तक जो कुछ विचार किया उस से " " चिह्नयुक्त प्रति अध्याय क्रम से ३४ । ४ । १६७ । २८ । ४१ । ०० । ३ । १९ । ५९ । १९ । २२ । ४ सब ३९० श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़े हैं । परन्तु कई जगह अभी विचारणीय भी हैं ।। आशा है कि सज्जन इस श्रम से प्रसन्न होंगे ।।

मनुस्मृति के प्रथमाध्याय के आरम्भ में ही सब से प्रथम एक श्लोक अधिक ३७ प्रकार के प्राचीन लिखे पुस्तकों में से १९ प्रकार के पुस्तकों में पाया जाता है और श्लोकसंख्या उस पर नहीं है । इस से भी पाया जाता है कि वर्त्तमान में जो मनुस्मृति का पुस्तक मिलता है, यह मनुप्रोक्त नहीं, किन्तु अन्य का बनाया है। इसी में यथार्थ मनु के आशय भी हैं। यह श्लोक यह है:—

स्वयंभुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणेऽमिततेजसे ।
मनुप्रणीतान्विविधान्धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥१॥

अर्थात्-मैं (संपादक) अनन्त तेजस्वी स्वयम्भू ब्रह्मा को नमस्कार करके मनुप्रोक्त सनातन विविध धर्मों का वर्णन करूंगा ।। अध्याय १ श्लोक २ में (अन्तरप्रभवाणाम्) के स्थान में ३ पुस्तकों में (सङ्करप्रभवाणाम्) पाठ देखा जाता है । अध्याय १ श्लोक २ के आगे और दो श्लोक भी चार प्राचीन लिखित पुस्तकों में देखे जाते हैं और नन्दन तथा रामचन्द्र ने इन पर टीका भी की है । वे ये हैं:—

जरायुजाण्डजानां च तथा संस्वेदजोद्भिदाम् । भूतग्रामस्य सर्वस्य प्रभवं प्रलयं तथा॥१॥ आचारांश्चैव सर्वेषां कार्याकार्यविनिर्णयम् । यथाकालं (*कामं) यथायोगं वक्तुमर्हस्यशेषतः ॥२॥

अर्थात् जरायुज अण्डज स्वेदज उद्भिज्ज और सब भूतमात्र की उत्पत्ति और प्रलय ।। १ ।। और सब के आचार और कार्य अकार्य का निर्णय,

काल योग वा इच्छा के अनुसार समस्त कहिये ॥२॥ ३ पुस्तकों में *कालम् पाठ देखा जाता है ॥ यदि ये श्लोक प्राचीन माने जांय तो यह संशय सर्वथा नहीं रहता कि मुनियों ने धर्म पूछा था, मनु जी सृष्टि का वर्णन क्यों करने लगे ? । हमारे विचार में तो जैसे बहुत श्लोक मनु में नये मिल गये, वैसे ऐसे २ श्लोक मनु से जाते रहे । और किन्हीं २ पुस्तकों में रहगये ॥

अध्याय १ श्लोक ७ में सर्वज्ञनारायण टीकाकार (अतीन्द्रियोऽग्राह्यः) मानते हैं और इसी श्लोक में ८ पुस्तकों में (सएव=सएषः) पाठ देखा जाता है ॥ १ । ८ में कई पुस्तकों का पाठ अभिध्याय=अभिध्यायन् । बीजम्=वीर्यम् । असृजत्=अक्षिपत् , है ॥ १।९ में दो पुस्तकों में (तस्मिन्=यस्मिन्) पाठ है ॥ १ । १० में ३ पुस्तकों में (अयनं तस्य ताः पूर्वं) पाठ है १।१० के आगेः–

नारायणपरोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपाऽत्रमेदिनी ॥

यह श्लोक दो पुस्तकों के मूल में और एक के टीका में देखा जाता है॥ और एक पुस्तक में उक्त श्लोक के स्थान में निम्न लिखित प्रक्षिप्त श्लोक पाया जाता हैः–

सहस्रशीर्षा पुरुषोरुक्मबाहुस्त्वतीन्द्रियः ।
ब्रह्मा नारायणाख्यस्तु सुष्वाप सलिले तदा ॥

१।११ में (नित्यम्=लोके) एक पुस्तक में देखा जाता है ॥ १ । १३ में (ताभ्यां स शकलाभ्याम्=ताभ्यां च शकलाभ्याम्=ताभ्यां मण्डकपालाभ्यां, भी देखे जाते हैं ॥ तथा (स्थानं च शाश्वतं=स्थानमकल्पयत्–भी है ॥ तथा इस के आगे निम्नस्थ १ ॥ श्लोक ३ पुस्तकों में अधिक हैः–

वैकारिकं तैजसं च तथा भूतादिमेव च ।
एकमेव त्रिधाभूतं महानित्येव संस्थितम् ॥
इन्द्रियाणां समस्तानां प्रभवं प्रलयं तथा ।

१।१५ से आगेः–

अविशेषान्विशेषांश्च विषयांश्च पृथग्विधान् ।

यह अर्ध दो पुस्तकों में अधिक मिलता है ॥ १।१६ में १ पुस्तक में (षण्णामप्यमि=षण्मयानपि । मात्रासु=मात्रास्तु) देखा जाता है ॥ १।१७ में

१ पुस्तक में (तस्येमानि=तानिमानि) है ॥ १ । २५ के १ पुस्तक में (वाचं=वतं) है॥ १ । २७ के १ पुस्तक में (सार्धं=विश्वं) है ॥ १ । ४६ के ७ पुस्तकों में (स्थावराः=तरवः) है ॥ १ । ४९ के १ पुस्तक में (अन्तःसंज्ञा=अतःसंज्ञा) और ४ पुस्तकों में (अन्तसंज्ञाः) और दो पुस्तकों में (सुखदुःखसम०=फलपुष्पसम०) पाठ हैं। उन पाठों से वृक्ष सुखदुःखयुक्त नहीं सिद्ध होते॥ १ । ६३ से आगे १ पुस्तक में और दूसरी में ७० वें श्लोक में यह अर्ध श्लोक अधिक है:—

कालप्रमाणं वक्ष्यामि यथावत्तं निबोधत ॥

१ । ७८ से आगे ३ पुस्तकों में निम्नस्थ श्लोक अधिक है:—

परस्परानुप्रवेशाद्धारयन्ति परस्परम् ।
गुणं पूर्वस्य पूर्वस्य धारयन्त्युत्तरोत्तरम् ॥

१ । ८५ में (युगह्रासानुरूपतः=तत्तद्धर्मानुरूपतः) पाठ है और इस से आगे १ पुस्तक में निम्नस्थ श्लोक अधिक है, जिस की व्याख्या केवल रामचन्द्र टीकाकार ने, जो सब से नवीन है, की है। जिस से प्रतीत होता है कि अति नवीन समय तक युग २ के पृथक्२ धर्मों की शिक्षा की मिलावट होती रही है। वह श्लोक यह है:—

ब्राह्मं कृतयुगं प्रोक्तं त्रेता तु क्षत्रियं युगम् ।
वैश्यो द्वापरमित्याहुः शूद्रःकलियुगःस्मृतः ॥

१ । ९७ से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है कि:—

तेषां न पूजनीयोऽन्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
तपोविद्याविशेषेण पूजयन्ति परस्परम् ॥

तथा अन्य दो पुस्तकों में आधा श्लोक और अधिक है कि:—

ब्रह्मविद्भ्यः परं भूतं न किञ्चिदिह विद्यते ॥

१।१०५ से आगे दो पुस्तकों और रामचन्द्रकृत टीका में यह श्लोक अधिक है:—

यथा त्रिवेदाध्ययनं धर्मशास्त्रमिदं तथा ।
अध्येतव्यं ब्राह्मणेन नियतं स्वर्गमिच्छता ॥

२ । ५ से आगे दो पुस्तकों में ये दो श्लोक अधिक हैं:—

असद्वृत्तस्तु कामेषु कामोपहतचेतनः। नरकं समवाप्नोति तत्फलं न समश्नुते ॥१॥ तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रोक्तं यथाविध्युपपादितम्। काम्यं कर्मेह भवति श्रेयसे न विपर्ययः ॥२॥

२। १५ से आगे भी ३ पुस्तकों में दो श्लोक अधिक हैं, जो हमने उसी स्थान पर छापे हैं ॥ २। ३१ के उत्तरार्ध का पाठ ३ पुस्तकों में–

शूद्रस्यप्रेष्यसंयुतम्।

पाठभेद है ॥ २। ३२ में भी १ पुस्तक में–

राज्ञो रक्षासमन्वितम् = राज्ञो वर्मसमन्वितम्।

पाठभेद है ॥२।५१ के-(यावदन्नं=यावदर्थं) पाठों में मेधातिथि के भाष्यानुसार भेद है ॥२। ६७ वें प्रक्षिप्त श्लोक के पाठ में भी बड़ा अन्तर है। एक पुस्तक में–

संस्कारो वैदिकःस्मृतः=औपनायनिकःस्मृतः।

पाठभेद है। दूसरे एक पुस्तक में–

गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया=गृहार्थोऽग्निपरिग्रहः।

पाठ है और अन्य दो पुस्तकों में इसी की जगह–

गृहार्थेऽग्निपरिक्रिया।

पाठान्तर है। तो क्या ठिकाना है कि यह श्लोक मनुप्रोक्त है॥ इसी ६७ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:–

अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सायमुद्वासमेव च।
कार्यं पत्न्या प्रतिदिनमितिकर्म च वैदिकम् ॥

ऐसे ही एक पुस्तक में यह श्लोक ११७ से आगे मिलाया गया है कि:–

जन्मप्रभृति यत्किञ्चिच्चेतसा धर्ममाचरेत्।
तत्सर्वं विफलं ज्ञेयमेकहस्ताभिवादनात् ॥

नन्दन भाष्यकार के मत में (भोः शब्दं की०) यह १२४ वां श्लोक १२३ वें (नामधेयस्य०) के स्थान में पाया जाता है ॥

इस से आगे १२ वें अध्याय तक पाठभेद, पाठाधिक्य वा जो २ अधिक श्लोक किन्हीं पुस्तकों में पाये गये वे अनुमान ११९ के हैं और उसी उसी स्थान पर [ ] चिन्ह के भीतर हम छापते गये हैं ॥

एकादशाध्याय में प्रायश्चित्तार्थ जिन वेदमन्त्रों के प्रतीक श्लोकों में आये हैं। वे २ मन्त्र वेदों के मण्डल सूक्त अध्याय आदि पते खोज कर लिख दिये हैं।

इस पुस्तक का विषयसूची पृथक् इस लिये नहीं छपाया कि अध्याय १ श्लोक १११ से ११८ तक १२ हों अध्यायों का भिन्न २ विषय सूची किसी ने बना कर मिलाया है, उस की भाषा टीका हम ने की ही है। वहीं जिन को कोई विषय जानना हो,जान लेवें। बड़ा सचीपत्र बनाने को अवकाश नहीं मिला,बहुत शीघ्र केवल सवा दो मास में यह बनाया और छपाया है। इस से जहां तहां जो कुछ अशुद्धि रह गई हों और पाठकगण को दृष्टि पड़ें तो सरलता से मुझे लिखें,दूसरी वार शीघ्र छपेगा,उस में ठीक कर दिया जायगा ॥

इस के अतिरिक्त हेमाद्रि आदि लोगों ने ऐसे कई वचन कहे हैं जो उन्होंने मनुवचन कह के लिखा है, परन्तु वे वचन अब मनु में नहीं मिलते। ऐसे वचनों का संग्रह ४६६ श्लोकों के अनुमान ज्ञात हो चुका है। जैसा कि धर्माब्धिसार में १ स्मृतिचन्द्रिका में ३२ दानहेमाद्रि में ११ व्रतहेमाद्रि में १ श्राद्धहेमाद्रि में ३१ स्मृतिरत्नाकर में ५३ शूद्रकमलाकर में १४ पराशरमाधव में ४७ निर्णयसिन्धु में १५ मिताक्षरा में १३ संस्कारकौस्तुभ में ६ विवादभङ्गार्णव में १७ नारायणभट्टकृत प्रयोगरत्न संस्कारमयूख में २ व्यवहारतत्त्व में १ दायक्रमसंग्रह में २ श्रीमद्भागवत ३। १। ३६ के टीके में १ शङ्करदिग्विजय १ प्रकरण में २ संस्कारमयूख में ४ आचारमयूख में ८ श्राद्धमयूख में २ व्यवहारमयूख में २ प्रायश्चित्तमयूख में १० और वृद्धमनु के नाम से १७४ बृहन्मनु के नामसे १७ इस प्रकार श्लोक ४६६ हुवे। तथा मेधातिथि के समस्त पाठभेद ५०० के लगभग हैं, कुल्लूक के पाठभेद भी ६५० के ऊपर हैं। राघवानन्द ने भी ३०० से ऊपर पाठभेद माने हैं। नन्दन ने १०० के लगभग पाठभेद माने हैं ॥

आप का—

तुलसीराम स्वामी।

मेरठ १७। ४। १९००

ओ३म्

श्री परमात्मने नमः

—o:*:o—

मनुस्मृति भाषानुवाद

—o:*:o—

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ॥
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥१॥

प्रणम्य जगदाधारं वाकपतिं परमेश्वरम् ।
क्रियते मानवी टीका तुलसीरामशर्मणा (स्वामिना) ॥१॥

अर्थ-(एक समय संपूर्ण)महर्षि, एकान्त विराजमान मनुजी के निकट गमन करके, उनका यथोचित पूजन कर, यह वचन बोले कि-॥१॥

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः॥ अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥२॥ त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः॥ अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥३॥

अर्थ—महाराज ! संपूर्ण वर्णों और वर्णसंकरों के धर्मों को यथावत् क्रम से हम लोगों को उपदेश करने में आप समर्थ हैं ॥ २ ॥ क्योंकि संपूर्ण वेद (ऋग्यजुः साम अथर्व) के कार्य (ज्योतिष्टोमादि यज्ञ, चान्द्रायणादि व्रत और नित्यकर्म संध्यावन्दनादि)के यथार्थ प्रयोजन के जानने वाले आप एक ही हो। वह वेद; अचिन्त्य, अप्रमेय, अनादि परमात्मा का विधान (क़ानून) है ॥३॥

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः॥ प्रत्युवाचार्च्य तान् सर्वान्महर्षींञ्छ्रूयतामिति ॥४॥ आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ॥ अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥५॥

अर्थ—जब इन महात्माओं ने महात्मा मनु से इस प्रकार प्रश्न किया, तब मनु जी ने इन सब का सत्कार करके कहा कि आप लोग श्रवण कीजिये ॥ ४ ॥

यह विश्व (महाप्रलय कालमें) प्रकृतिरूप रहा और लक्षणों से रहित तथा तर्क द्वारा और स्वरूप से जाननेके अयोग्य, सब ओर से निद्राकी सी दशा में था ॥

यहां यह प्रश्न होता है कि ऋषियोंने धर्म पूछा था । मनु जी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन क्यों करने लगे ? मनु के सब टीकाकारों ने (१ मेधातिथि ।२ सर्वज्ञनारायण ।३ कुल्लूक ।४ राघवानन्द ।५ नन्दन) एक छठे रामचन्द्र टीकाकार को छोड़ कर यह प्रश्न सबने उठाया है। और थोड़े से भाव में भेद करते हुवे प्रायः सब का तात्पर्य उत्तर में यह है कि सृष्टि का वर्णन करते हुवे, चार वर्णों के धर्म क्रमशः वर्णन करने के लिये प्रथम सृष्टि की उत्पत्ति से आरम्भ करना साङ्गोपाङ्ग धर्म का वर्णन कहा जा सकता है। इस लिये और ब्रह्मज्ञान की सब धर्मों में उत्तमता होने से मनु जी ने परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति दिखलाते हुवे, धर्मोपदेश का आरम्भ किया ॥५॥

ततःस्वयंभूर्भगवानऽव्यक्तोऽव्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादिवृत्तौजाःप्रादुरासीत्तमोनुदः॥६॥ योसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ॥ सर्वभूतमयोचिन्त्यः सएव स्वयमुद्बभौ ॥७॥

अर्थ—इस दशा के अनन्तर उत्पत्तिरहित और इन्द्रियों से जो नहीं जाना जाता तथा (प्रलयकाल के अन्त में) प्रकृति को प्रेरणा करने वाले, महत्तत्व आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी आदि कारणों के बल से युक्त, परमात्मा ने इन को प्रकाशित करके अपने को प्रकट किया ॥ परमेश्वर का प्रकट होना यही है कि जगत् की रचना और जगत् के लोगों को अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान कराना ॥६॥ जो कि इन्द्रियों से नहीं किन्तु आत्मा से जाना जाता है और परमसूक्ष्मस्वरूप, नित्य और संपूर्ण विश्व में व्याप्त हो कर रहने वाला तथा आकाररहित अतएव अचिन्त्य है, वही आप ही प्रकट हुआ ॥७॥

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाःप्रजाः॥ अपएव ससर्जादौ तासु वीजमवासृजत्॥८॥ तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥९॥

अर्थ—उस ने (स्वस्वामिसंबन्ध से) अपने शरीर से नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा करके ध्यानमात्र से प्रथम अप् तत्व उत्पन्न किया,

उस में बीज को आरोपित किया॥ यहां शरीर शब्द से उपादान कारण का ग्रहण है। परमेश्वर उस का अधिष्ठाता=स्वामी है। इस लिये उसे "परमेश्वर का" कहा गया है ।।८।। यह बीज चमकीले अणु के समान ऐसा हुआ जिस की प्रभा सूर्य के समान थी, उस अण्डे में वह परमात्मा (ब्रह्मा) सर्व लोक का पितामह आप प्रकट हुआ (अर्थात् प्रथम उपादान कारण का एक चमकीला गोला सा बना) ।।९।।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणःस्मृतः ।।१०।। यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्। तद्विसृष्टः सपुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ।।११।।

अर्थ—अप् को नारा कहते हैं क्योंकि नर जो परमात्मा, उस से उत्पन्न हुवा, वह नारा प्रथम स्थान है जिस का, इस कारण परमात्मा को नारायण कहते हैं ।।१०।। जो कि संपूर्ण जगत् का उपादान और नेत्रादिकों से देखने में नहीं आता, तथा नित्य और सत् असत् वस्तुओं की प्रकृतिभूत प्रधान (प्रकृति) है, उस सहित परमात्मा को लोक में 'ब्रह्मा' कहते हैं ।।११।।

तस्मिन्नण्डे सभगवानुषित्वा परिवत्सरम्। स्वयमेवात्मनोध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ।।१२।। ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे। मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपांस्थानं च शाश्वतम् ।।१३।।

अर्थ—उस अंडे में परिवत्सरसंज्ञक काल पर्यन्त स्थित होकर, उस परमात्मा ने आप ही अपने ध्यान से उस अंडे के दो (कल्पित) टुकड़े किये॥ कल्प के समय का १०० वां भाग परिवत्सर जानो। जिस प्रकार १०० वर्ष की सामान्य आयु वाला मनुष्य एक वर्ष के लगभग गर्भ में तैयार होता है, इसी प्रकार यह जगत् भी अपने १०० वें कालभाग तक गर्भ के सी अवस्था में रहा ।।१२।। उसने उन दो टुकड़ों से द्युलोक और पृथ्वी, बीच में आकाश और आठ दिशा तथा शाश्वत जल का स्थान बनाया ।।१३।।

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्। मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ।।१४।। महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि

त्रिगुणानि च। विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥१५॥

अर्थ—और अपने स्वभूल, तमः=प्रकृति से उस जगत्कर्ता ने संकल्प विकल्पात्मक मन उत्पन्न किया और मन से अभिमानी सामर्थ्य वाले अहन्तत्व को उत्पन्न किया ॥ १४ ॥ महान् आत्मा=महत्तत्व और रजः सत्व तमः इन गुणों के साथ विषयों को ग्रहण करने वाली पांच इन्द्रियां शनैः उत्पन्न कीं ॥ १५ ॥

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्षण्णामप्यमितौजसाम्। सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे॥१६॥यन्मूर्त्यवयवाःसूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्।तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः१७

अर्थ—बड़े बल वाले पूर्वोक्त छः६(अर्थात् पांच इन्द्रिय और एक अहङ्कार इस प्रकार छः) के सूक्ष्म अवयवों को अपनी २ मात्राओं में अर्थात् आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी में योजना करके स्थावरजङ्गमरूप प्राणियों को परमात्मा ने बनाया ॥१६॥ ये जो शरीर के सूक्ष्म छः अवयव हैं अर्थात् अहंकार और पांच इन्द्रियों से पांच महाभूत, ये सब कार्यों के हेतुरूप होकर उस परमात्मा के आश्रय में रहते हैं। इस कारण उस ज्ञानस्वरूप परमात्मा के रचित(मूर्ति)जगत् को उस का शरीर कहते हैं।।यद्यपि परमात्मा निराकार=शरीररहित है। यह वेदों का सिद्धान्त है। और पूर्व छठे श्लोक में यहीं मनु जी ने भी उसे (अव्यक्त) निराकार इन्द्रियाऽतीत कहा है। परन्तु कल्पना की रीति से जैसे शरीर में जीवात्मा रहता है वैसे ही जगत् में परमात्मा रहता है।इस एकदेशीय दृष्टान्त से इस सारे जगत् को परमात्मा का शरीर कल्पित कर लिया जाता है। वेदों में इसप्रकार के अलङ्कार की शैली बहुत आई है।।१७॥

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः। मनश्चावयवैः सूक्ष्मैःसर्वभूतकृदव्ययम् ॥१८॥तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्। सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥१९॥

अर्थ—५ महाभूत और मन जो सब का कर्त्ता और अन्यों की अपेक्षा अविनाशी है,ये ६ सब पूर्वोक्त जगद्रूप शरीर में,अपने २ कामों और सूक्ष्म अवयवों सहित प्रविष्ट होते हैं ॥१८॥

पूर्वोक्त सात पुरुष अर्थात् जगत्‌रूपी पुर में रहने वाले १ अहंकार २ महत्तत्व और आकाशादि पांच, इस प्रकार सात जो कि बड़े सामर्थ्य वाले हैं इनकी सूक्ष्म मूर्तिमात्रा अर्थात् पञ्चतन्मात्रा, इन से अविनाशी परमात्मा नाशवान् जगत् को उत्पन्न किया करता है ॥१९॥

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परःपरः। यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणःस्मृतः ॥२०॥ सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्। वेदशब्देभ्यएवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥२१॥

अर्थ–इन पञ्चमहाभूतों में से पूर्व २ के गुण को परला २ प्राप्त होता है (आकाश का गुण शब्द परले वायु में व्याप्त हुवा। ऐसे ही वायु का स्पर्श अग्नि में, अग्नि का रूप जल में, जल का रस पृथ्वी में। इसी से पृथ्वी के शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ५ हैं) इन में जो जो जितनी संख्या वाला है, वह वह उतने २ गुणों वाला कहलाता है ॥२०॥ उस परमात्मा ने सृष्टि के प्रथम काल में सबके पृथक्२ नाम और कर्म और व्यवस्था वेदों से निर्माण कीं ॥२१॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः। साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥२२॥ अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनानतम्। दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥२३॥

अर्थ–उस प्राणियों के प्रभुने, कर्म है स्वभाव जिन का, ऐसे देवों (अग्नि वायु आदित्यादि) को और साध्यों के सूक्ष्म समुदाय को और सनातन (ज्योतिष्टोमादि) यज्ञ को उत्पन्न किया ॥२२॥ उसने यज्ञ के अर्थ सनातन वेद, जिस के भेद, ऋग्यजुः साम हैं, इस को अग्नि वायु सूर्य अर्थात् अग्निसे ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्यसे सामवेद, इस क्रमसे प्रकट किया ॥ २३ ॥

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
सरितः सागरान् शैलान् समानि विषमाणि च ॥२४॥

अर्थ–समय, वर्ष मास पक्ष तिथि प्रहर घटिका पल कला काष्ठा इत्यादि काल विभाग, तथा नक्षत्र ग्रह नदी समुद्र पर्वत और ऊंची नीची भूमि (ये सब उत्पन्न किये) ॥ २४ ॥

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेवच । सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्त्रष्टुमिच्छन्निमाःप्रजाः ॥२५॥कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्। द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिःप्रजाः ॥२६॥

अर्थ–प्रजा के उत्पन्न करने की इच्छा करते हुवे ने तप,वाणी,रति अर्थात् जिस से चित्त को प्रसन्नता होती है, काम तथा क्रोध इन को उत्पन्न किया ॥ २५ ॥ कर्मों के विवेक के लिये धर्म अधर्म को जताया (और धर्माऽधर्मानुसार) सुख दुःखादि द्वन्द्वों से प्रजा का योजन किया ॥ २६ ॥

अण्व्यो मात्राऽविनाशिन्यो दशार्द्धानां तुयाः स्मृताः । ताभिः सार्द्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः॥२७॥ यं तु कर्मणि यस्मिन्सन्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः । स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानःपुनःपुनः ॥२८॥

अर्थ–सूक्ष्म जो दश की आधी अविनाशिनी पांच तन्मात्रा अर्थात् शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध कहीं हैं, उनसे यह संपूर्ण सृष्टि क्रमशः उत्पन्न है ॥ २७ ॥ उसने सृष्टि के आदि में जिस स्वाभाविक कर्म में जिस की योजना की, उस जीव ने पुनः पुनः जब जब उत्पन्न हुवा, स्वयं वही स्वाभाविक कर्म किया ॥२८॥

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते । यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥२९॥ यथार्तुलिङ्गान्यृतवःस्वयमेवर्तुपर्यये । स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥३०॥

अर्थ–हिंस्रकर्म, अहिंस्र, मृदु (दया प्रधान)क्रूर,इसी प्रकार (मद्यपानादि करना) अधर्म, धृत्यादि धर्म, सत्य,असत्य, जिस का जो कुछ (पूर्व कल्प का) स्वयं प्रविष्ट था, वह २ उस २ को सृष्टि के समय उसने धारण कराया ॥२९॥ जैसे वसन्तादि ऋतुवें अपने अपने समय में निज २ ऋतुचिन्हों को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार मनुष्यादि भी अपने अपने कर्मों को पूर्वकल्प के बचे कर्मानुसार प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३० ॥

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः । ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥३१॥ द्विधा कृत्वात्मनोदेहमर्धेन पु-

रूपोऽभवत् । अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥३२॥

अर्थ–लोकों की वृद्धि के अर्थ,मुख ब्राह्मण, बाहू क्षत्रिय, ऊरू वैश्य, पाद शूद्र (इस क्रम से सृष्टिकर्त्ता ने) उत्पन्न किये ॥३१॥ उस प्रभुने अपने जगत्रूपी शरीर के दो भाग किये, अर्द्ध भाग से पुरुष और अर्द्ध भाग से स्त्री हुई, उस स्त्री में विराट् (सारे जगत् को एक पुरुष रूपक में) उत्पन्न किया ॥३२॥

यहां सब जगत् को एक पुरुष माना है जिस में अर्ध भाग स्त्रीपने का और अर्ध पुरुषपने का है। मनुष्य पशु पक्षी वृक्ष और पृथिव्यादि लोक इत्यादि सबों में स्त्रीभाव और पुरुषभाव है ॥३२॥

"तपस्तप्त्वासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषोविराट् । तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥३३॥ अहं प्रजाःसिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् । पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितोदश" ॥३४॥

" अर्थ–हे द्विजश्रेष्ठो ! उसी विराट् पुरुष ने तप करके जिस को उत्पन्न किया,वह संपूर्ण का उत्पन्न करने वाला मुझ को जानो ॥३३॥ मैंने प्रजा करने की इच्छा कर उग्र तप करके प्रजा के पति दश महर्षियों को उत्पन्न किया॥३४॥ "

"मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् । प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेवच ॥३५॥ एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन् भूरितेजसः । देवान् देवनिकायांश्च ब्रह्मर्षींश्चामितौजसः" ॥३६॥

"अर्थ–(उन दश महर्षियों के नाम) मरीचि १ अत्रि २ अंगिरस् ३ पुलस्त्य ४ पुलह ५ क्रतु ६ प्रचेतस् ७ वसिष्ठ ८ भृगु ९ और नारद १० को ॥३५॥ इन बड़े प्रकाश वाले दश प्रजापतियोंने अन्य सात मनु बड़े कान्ति वाले उत्पन्न किये तथा देवतों और उनके स्थानों और ब्रह्मर्षियों को उत्पन्न किया ॥३६॥ "

"यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् । नागान्सर्पान् सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥३७॥ विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च । उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानिच ३८,,

"अर्थ–और यक्ष रक्षः पिशाच गंधर्व अप्सरा असुर नाग सर्प सुपर्ण (गरुड़ादि) पितरों के गण अर्थात् समूह को ॥ ३७॥ और विद्युत् जो बिजली

बादलों में चमकती है, अशनि जो बिजली लोह आदिकों पर गिरती है, मेघ=बादल, रोहित जो नानावर्ण दण्डाकार आकाश में दिखाई देते हैं, वर्षा ऋतु में इन्द्रधनुष प्रसिद्ध, उल्का जो रेखाकार आकाश से गिरती है, निर्घात उत्पातशब्द अन्तरिक्ष या पृथ्वी से, केतु पूंछ वाले तारे और नाना-प्रकार के तारे, कई प्रकार के आकार वालों को ॥ ३८ ॥„

"किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च विहंगमान् । पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥३९॥ कृमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम् । सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ४०"

"अर्थ–किन्नर, वानर, मत्स्य, नाना प्रकार के पक्षी, पशु, मृग, मनुष्य, व्याल (सिंहादिक) और जिन के दांत ऊपर नीचे होते हैं ॥३९॥ कृमि (छोटें कीड़े) कीट (बड़े कीड़े) पतङ्ग प्रसिद्ध, जूंका, मक्षिका, खटमल और सम्पूर्ण क्षुद्र जीव मच्छर इत्यादि काटने वाले और स्थावर नाना प्रकार के (वृक्ष लता वल्ली इत्यादि) ॥४०॥"

"एवमेतैरिदं सर्वं सन्नियोगान्महात्मभिः । यथाकर्म तपोयोत्सृष्टं स्थावरजङ्गमम्" ॥४१॥ येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् । तत्तथा वोभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥४२॥

अर्थ–पूर्वोक्त (मरीचि आदि) महात्माओं ने मेरी आज्ञा से तथा अपने तप के प्रभाव से यह संपूर्ण कर्म के अनुसार रचा" ॥४१॥

३३ से ४१ तक ९ श्लोक हमारी सम्मति में अवश्य पीछे से मिलाये गयेहैं, क्योंकि इन में बड़ा परस्पर विरोध है । प्रथम कह आये हैं कि प्रकृति सहित परमात्मा ने लोक,मनुष्य,ब्राह्मणादि वर्ण,वेद तथा अन्य सब जगत् बनाया । यहां ४ जगत्कर्त्ता पाये जाते हैं, १ परमात्मा, विराट् ३ मनु ४ मरीच्यादि । इन में ३६ वें श्लोक में मरीच्यादि ऋषियों से और ७ मनुओं का उत्पन्न होना कहा है, सब लोग ब्रह्मा का पुत्र मनु मानते हैं, यहां विराट् का पुत्र मनु कहा है ।३३ वें श्लोक में मनु अपने को सब जगत् का बनाने वाला बताते हैं जो इसी मनु के पूर्व श्लोकों,वेदों और पुराणों तक के विरुद्ध है । तथा १ श्लोक ४० वें के आगे और भी किन्हीं पुस्तकों में पाया जाताहै, सबोंमें नहीं । इस से जाना जाता है कि वह तो बहुत ही थोड़े समय से मिलाया गयाहै । वह यह है–

"यथाकर्म यथाकालं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम्।
यथायुगं यथादेशं यथावृत्ति (यथोत्पत्ति*) यथाक्रमम् ,,

"इस श्लोक का (यथोत्पत्ति *) पाठ उज्जैन नगरी से (आठवले) नाना साहेब की रामचन्द्र कृत टीकायुक्त पुस्तक में पाया जाता है। यह श्लोक सितारा के समीपवर्त्ती यौतेश्वर स्थान से द्रविड शङ्करात्मज रामचन्द्र के मूलमात्रपुस्तक में भी पाया जाता है। तथा उज्जैन के (मोरटी बाबा) रामभाऊ शर्मा के मूल पुस्तक में भी पाया जाता है। शेष २७ प्रकार के पुराणों लिखे पुस्तकों में यह श्लोक नहीं है। हम को आश्चर्य यह है कि मेधातिथि आदि ६ टीकाकारों ने न जाने क्यों इस विरोध पर दृष्टि भी नहीं की ॥४१॥„

इस संसार में जिन प्राणियों का जो कर्म कहा है उसी प्रकार हम कहेंगे तथा उन के जन्म में क्रम भी-॥ ४२ ॥कहेंगे। सो कहते हैं:—

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः। रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्चजरायुजाः॥४३॥अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च॥४४॥

अर्थ—जरायु गर्भ की झिल्ली को कहते हैं उस से जो उत्पन्न हो उसे जरायुज कहते हैं, गाय आदि पशु, हरिणादि मृग, सिंह और जिनके ऊपर नीचे दांत होते हैं वे, और राक्षस (स्वार्थी), पिशाच (कच्चे मांस खाने वाले), मनुष्य ये सब जरायुज हैं ॥४३॥ और अण्डज पक्षी (परंदे जानवर) सर्प, नाके, कछुवा इत्यादि इसी प्रकार और भूमि पर उत्पन्न होने वाले तथा पानी में होने वाले, ये सब अण्डज कहलाते हैं ॥ ४४ ॥

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्। ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम् ॥४५॥ उद्भिज्जाः स्थावराःसर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः। ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः॥४६॥

अर्थ—स्वेदज अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले मच्छर और काटने वाले क्षुद्र जीव जूआं मक्षिका खटमल इत्यादि ये सब गरमी से उत्पन्न होते हैं। और भी इन्हों के सदृश (चूंटियां इत्यादि) उत्पन्न होते हैं ॥४५॥ जो कि

भूमि को फाड़ कर ऊपर निकलें उन को उद्भिज्ज कहते हैं । स्थावर अर्थात् वृक्षादि, ये सब उद्भिज्ज हैं । इन में दो प्रकार हैं, एक बीज से उत्पन्न होने वाले, दूसरे शाखा से धान जव इत्यादि जिन का फलपाक में अन्त होता है और पुष्प फल जिन में अधिक होते हैं, उन को ओषधि कहते हैं ।।४६।।

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः।पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥४७॥ गुच्छं गुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः। बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना बल्ल्यएव च॥४८॥

अर्थ—और जिन में पुष्प नहीं किन्तु फल ही होता है उन को वनस्पति कहते हैं और जो पुष्प फल से युक्त हों उन को वृक्ष कहते हैं ।।४७।। और जिस में जड़ से ही लता का समूल हो और शाखा इत्यादि रहित हो उस को गुच्छ कहते हैं (जैसे मल्लिका) गुल्म(जैसे सलाई इक्षुप्रभृति)तृणजाति, नानाप्रकार के बीज शाखा से उत्पन्न होने वाले और प्रतान (उन को कहते हैं जिन में सूत सा निकले जैसे कद्दू खीरा इत्यादि) और बल्ली (जैसे गुडूच्यादि)।४८।

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना। अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥ एतदन्तास्तु गतयोब्रह्माद्याः समुदाहृताः। घोरेस्मिन्भूतसंसारे नित्यंसततयायिनि ॥५०॥

अर्थ—ये वृक्ष अधिक तमोगुण से और दुःख को देने वाले अधर्म कर्मों से व्याप्त हैं, इन के भीतर लुपा ज्ञान रहता है,सुखदुःख से युक्त रहते हैं* ।।४९।। विनश्वर और प्राणियों को भयङ्कर इस संसार में ब्रह्मा (चतुर्वेदवित्) से स्थावरपर्यन्त यह उत्पत्तिक्रम कहा ।। ५०।।

एवं सर्वं ससृष्ट्वेदं मांचाचिन्त्यपराक्रमः। आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥५१॥ यदा स देवोजागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्। यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥५२॥

अर्थ—उस अचिन्त्यपराक्रम ईश्वर ने संपूर्ण(स्थावर जङ्गम रूप) सृष्टि ऐसे उत्पन्न करके सृष्टिकाल को प्रलयकाल से नाश कर्ते हुवे अपने में लीन कर

* जिस प्रकार जलादि न मिलने से मनुष्यादि मर जाते हैं वैसे वृक्षादि भी।४९।

लिया। (अर्थात् प्राणियों के कर्मवश से पुनः पुनः सृष्टि प्रलय को वह प्रजापति करता है) ॥ ५१ ॥ जब प्रजापति जागता=सृष्टि करने की इच्छा करता है उस समय यह संपूर्ण जगत् चेष्टायुक्त हो जाता है (अर्थात् श्वासप्रश्वास आहारादि चेष्टायुक्त होता है) और जब निवृत्ति की इच्छा होती है तब संपूर्ण लय को प्राप्त होता है (यही उस का सोना जागना है) ॥५२॥

तस्मिन्स्वपति तु स्वस्थे कर्मात्मानः शरीरिणः। स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति॥५३॥ युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि। तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः॥५४॥

अर्थ—जब वह व्यापारों से रहित हो शयन करता है उस समय कर्मात्मा अर्थात् कर्म है आत्मा जिन का (जोकि शरीर के साथ तक कर्मबन्धन से नहीं छूटते हैं) वे अपने २ कर्म से निवृत्त हो जाते हैं और मन लख भी क्षीण हो जाता है॥५३॥ एक ही समय जब वे संपूर्ण ईश्वर में प्रलय को प्राप्त होते हैं उस समय (सुख दुःखादिकों से रहित जीवों को सुषुप्ति का) सुख प्राप्त हो, इस लिये यह परमात्मा निवृत्त और सोता कहा जाता है ॥५४॥

कभी भी अनुभव न किया हुवा प्रलय का वर्णन लोगों की समझ में कुछ न कुछ आजावे, इस लिये प्रलय को परमात्मा की रात्रि करके वर्णन किया गया है। वस्तुतः परमात्मा चेतनस्वरूप सदा जागने वाला ही है॥ जिस प्रकार सूर्य वनस्पतियों के उगने और सूखने का हेतु है परन्तु किसी वृक्षादि को उगाने वा सुखाने के समय सूर्य का स्वरूप नहीं बदलता किन्तु एक सा ही रहता हुवा सूर्य उगाता और सुखाता भी है। किन्तु वे २ वृक्षादि अपने स्वभाव भेद और अवस्थाभेद से सूर्य का प्रभाव अपने ऊपर अनेक प्रकार का डालते हैं। यद्यपि सूर्य का प्रभाव है एक ही प्रकार का। ऐसे ही परमात्मा के सब गुण सदा एक से ही रहते हैं परन्तु प्रकृति कभी विकृत होती है, कभी प्रकृत। और इसी से जब विकृत होती है तब परमात्मा की व्यापकता का फल उत्पत्ति और जब प्रकृत होती है तब उस की व्यापकता फल प्रलय होजाता है ॥५४॥

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः। न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्त्तितः॥५५॥ यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च। समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति॥५६॥

अर्थ—तब यह जीव इन्द्रियों सहित बहुत काल पर्यन्त तम अर्थात् सुषुप्ति को आश्रय करके रहताहै और अपना कर्म (श्वासप्रश्वासादिक) भी नहीं करता, शरीर से पृथक् हुवा रहता है।।५५।।जब अणुमात्रिक होकर (अर्थात् अणु हैं मात्रायें जिस की। अणुमात्र को पुर्यष्टक कहते हैं अर्थात् शरीर प्राप्त होने की आठ सामग्री जीव १ इन्द्रिय २ मन ३ बुद्धि ४ वासना ५ कर्म ६ वायु ७ अविद्या ८ ये आठ मिल कर अणुमात्र कहलाते हैं तो प्रथम अणुमात्रिक हो कर) अचर(वृक्षादि) वा चर (मनुष्यादि) के हेतुभूत जो बीज, उन में प्रविष्ट होता है तब उन में मिल के शरीर को धारण करता है ।।५६।।

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।
संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥

अर्थ—ऐसे वह अविनाशी परमात्मा शयन और जाग्रत् से उसे संपूर्ण चराचर विश्व को निरन्तर उत्पन्न और नष्ट करता है ।।५७।।

"इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः ।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥५८॥"

"मनुजी कहते हैं कि ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रथम इस धर्मशास्त्र का निर्माण करके विधिवत् मुझ को उपदश किया, अनन्तर मैंने मरीचयादि मुनियों को पढ़ाया ।। ५८ ।।,,

"एतद्वोऽयं भृगुःशास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोखिलं मुनिः ॥५९॥ ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः । तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥६०॥"

अर्थ—"यह संपूर्ण शास्त्र भृगु आप लोगों को सुनावेगा, जो मुझ से संपूर्ण पढ़ा है ॥ ५९ ।। अनन्तर महर्षि भृगु ने मनु की आज्ञा पाकर प्रसन्नचित्त होकर उन सब ऋषियों के प्रति कहा कि सुनिये॥६०॥,,

"स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्यामनवोऽपरे । सृष्टवन्तःप्रजाः स्वाःस्वामहात्मानोमहौजसः ॥६१॥ स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसोरैवतस्तथा। चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुतएव च॥६२॥"

अर्थ—"इस स्वायंभुव मनु के वंश में उत्पन्न हुवे छः मनु और हैं, उन महात्मा बड़े पराक्रम वालों ने अपनी २ सृष्टि उत्पन्न की थीं ॥ ६१ ॥ (उन के नाम) स्वारोचिष १ औत्तम १ तामस ३ रैवत ४ चाक्षुष ५ वैवस्वत ६ ये छः बड़े कान्ति वाले हैं ॥ ६२ ॥„

"स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवोभूरितेजसः।
स्वे स्वेन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥६३॥"

अर्थ—"स्वायंभुव से आदिले सात मनु बड़े तेजस्वी हुवे जिन्हों ने अपने अपने अधिकार में संपूर्ण चर अचर अर्थात् स्थावर जङ्गम रूप सृष्टि उत्पन्न करके पालन किया ॥६३॥" ५८ से ६३ तक ६ श्लोक असत्य जान पड़ते हैं। ५८ वें में मनु का यह कहना असंगत है कि मैंने यह शास्त्र परमात्मा से ग्रहण किया। यदि वेदों का तात्पर्य लेकर बनाये हुए को भी ईश्वरीय कहें तौ न्याय शास्त्रादि सब ग्रन्थ परमेश्वर से ही ऋषियों ने पढ़े मानने पड़ेंगे। और मनु का ऋषियों से यहां तक अविच्छिन्न संवाद चला आता है इसलिये यह वाक्य भृगु की ओर से नहीं माना जा सक्ता। और ५८ में यह कह कर कि "मैंने परमात्मा से पढ़ा और फिर मरीच्यादि को पढ़ाया„ ५९ वें में आगे यह कथन है कि "सो मेरा पढ़ाया हुवा शास्त्र भृगु तुम को सुनावेगा„ इस से भी मनु का ही ऋषियों से संवाद चलता रहना पाया जाता है। किन्तु ये श्लोक बनाने वाले ने इस ग्रन्थ की अपौरुषेयता सिद्ध करने और यह सिद्ध करने को कि मैंने साक्षात् मनु से पढ़ा, बनाये हैं। आगे ६१। ६२। ६३ श्लोकों में यह वर्णन है कि स्वायंभुव के वंश में छः और मनु हुवे थे जिन्हों ने अपने २ समय में चराऽचर जगत् बनाये और पाले। इस से यह झलकता है कि श्लोककर्त्ता से पूर्व छः मन्वन्तर बीत चुके थे। तौ छः मन्वन्तर बीतने पर इस भृगु को उपदेश करने स्वायंभुव मनु कहां से आया। इन श्लोकों का यह कहना भी असत्य है कि मनु के वंश में कोई देहधारी मनु नामक मनुष्य हुवे और उन्हों ने अपनी २ प्रजा बनायीं। ७१ चतुर्युगियों का १ मन्वन्तर आगे श्लोक ७९ में कहेंगे। फिर कोई राजा इतने दिनों तक कैसे वर्त्तमान रह सक्ता है। पुराणों ने सत्ययुग में एक लक्ष, त्रेता में १० सहस्र, द्वापर में १ सहस्र और कलि में १०० की आयु लिखी है। यह भृगु तौ उस से भी आगे बढ़ गया। मन्वन्तर किसी पुरुष का नाम भी नहीं है किन्तु जैसे सत्ययुग आदि चार

युग काल की संज्ञा हैं वैसे मन्वन्तर भी आगे ७९ वें श्लोक में कहे प्रमाण ७१ चतुर्युगियों के बराबर काल की संज्ञा है । काल के नाम पर राजा का नाम संभव माने तो भी एक मनु के वंश में दूसरा मनु कैसे रहे । और इतने दीर्घ काल तक एक २ पुरुष की आयु कैसे रहे। क्योंकि ६३ वें श्लोक में (स्वे स्वेन्तरे) कहा है कि अपने २ काल के अन्तर (मन्वन्तर) में उस २ मनु ने अपनी २ प्रजा रची और पाली । और मन्वन्तर का वर्णन कालके विभागों (निमेष से ले कर) को बतलाते हुवे ७९ वें श्लोक में आवेगा । फिर निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त,दिन रात, वर्ष,युग इत्यादि के पश्चात् वर्णन करने योग्य मन्वन्तर का यहां प्रथम ही वर्णन करना असङ्गत और पुनरुक्त भी है। श्लोक ५९ में (अशेषतः) (सर्वम्) (अखिलम्) यह तीन पद एक ही अर्थ में पुराणों की शैली के से व्यर्थ भी हैं ॥ ६३॥

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताःकला ।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥६४॥

(सृष्टि का समय जानने के लिये समय की संज्ञा निरूपण करते हैं) आंख की पलक गिरने के सयम का नाम निमेष है,अठारह निमेष की काष्ठा होती है,तीस काष्ठा की कला,तीस कला का मुहूर्त,तीस मुहूर्त का दिन रात होता है ॥६४॥

अहोरात्रे विभजते सूर्योमानुषदैविके । रात्रिःस्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥६५॥ पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः । कर्मचेष्टास्वहःकृष्णः शुक्लःस्वप्नाय शर्वरी ॥६६॥

अर्थ—सूर्य,मनुष्य देव संबन्धी रात दिन का विभाग करता है,उस में मनुष्यादिकों के शयन के अर्थ रात्रि है और कर्म करने के अर्थ दिन है ॥ ६५॥ (मनुष्य) के एक मास का १ रात्रिदिन पितरों का होता है, उस में कृष्णपक्ष दिन है कर्म करने के लिये, और शुक्लपक्ष रात्रि है शयन के लिये ॥६६॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोःपुनः। अहस्तत्रोदगयनं रात्रिःस्याद्दक्षिणायनम् ॥६७॥ ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।एकैकशोयुगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥६८॥

अर्थ—(इसी प्रकार) मनुष्यों के एक वर्ष में देवतों का रात्रि दिवस होताहै, फिर उन का विभाग यह है कि उस में उत्तरायण दिन है और दक्षिणायन रात्रि

है। (पितरों की दिनरात्रि का तात्पर्य चन्द्रलोक वालों की दिन रात्रि है। उपनिषदों में पितृगति को चन्द्रलोक की गति और दैवगति को सूर्यलोक की गति करके कहा है। सूर्य की परिक्रमा पृथिवी एक वर्ष में करती है, इस विचार से सूर्यापेक्षया उत्तरायण प्रकाश की वृद्धि से दैव दिन और दक्षिणानय प्रकाश की घटती से दैवी रात्रि माना गया है॥ चन्द्रलोक पृथिवी की परिक्रमा एक मास में करता है इस से चन्द्र=पितृलोक की १५ दिन की रात्रि, और १५ दिन का दिन कहा है॥ ६७॥ अब ब्राह्म रात्रि दिवस का जो परिमाण है और (कृत त्रेता द्वापर कलि) युगों का भी, सो क्रम से सुनो॥ ६८॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम्। तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः॥६९॥ इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु। एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥७०॥

अर्थ—(मनुष्यों के ३६० वर्ष का १ दैव वर्ष, ऐसे) चार हज़ार वर्ष को कृतयुग कहते हैं और उस की संध्या (अर्थात् युग का पूर्व काल) चारसौ वर्ष का होता है और संध्यांश (अर्थात् युग का पर काल) चारसौ वर्ष का होता है। (संध्या और संध्यांश मिल के कृतयुग ४८०० दैव वर्ष का होता है)॥६९॥ इतर तीन (अर्थात् त्रेता द्वापर कलि) की संध्या और संध्यांश के साथ जो संख्या होती है वह क्रम से सहस्र में की और शत में की एक एक संख्या घटाने से तीनों की संख्या पूरी होती है। (जैसे कृतयुग ४८००=१७२८००० त्रेता ३६००=१२९६००० द्वापर २४००=८६४००० कलि १२००=४३२०००)॥ ७०॥

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्। एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥७१॥ दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च॥ ७२॥

अर्थ—यह जो प्रथम गिनती चार युगों की बारह हज़ार १२००० दैव वर्ष कहे, यह दैव १ युग कहा है॥७१॥ दैव सहस्र युगों का ब्रह्मा का १ दिन और सहस्र युगों की रात्रि अर्थात् दैव दो सहस्रयुग होने से ब्रह्मा का रात्रि दिन होता है। (दैव १२००० वर्ष का १ युग, इसे १००० से गुणा करने से १२००००००० दैव वर्ष का १ ब्राह्म दिन हुआ। इसे ३६० गुणा करने से ४३२००००००० मा-

नुष वर्षों का ब्राह्म दिन और इतनी ही रात्रि हुई) ॥ ७२ ॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः। रात्रिं च तावतीमेव तेहोरात्रविदोजनाः ॥७३॥ तस्य सोहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुद्ध्यते । प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥७४॥

अर्थ-सहस्र युग से अन्त अर्थात् समाप्ति है जिस की वह ब्रह्मा का पुण्य दिवस है, उतनी ही रात्रि, अहोरात्रज्ञ जानते हैं ॥ ७३ ॥ पूर्वोक्त अहोरात्र के अन्त में वह शयनस्थ और जाग्रत् होता है और जागकर संकल्प विकल्पात्मक मनको उत्पन्न करता है ॥७४॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया । आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥७५॥ आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः। बलवान्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणोमतः ॥७६॥

अर्थ-(परमात्मा की) रचने की इच्छा से प्रेरित किया हुआ मन सृष्टिको विकृत करता है मनस्तत्व से आकाश उत्पन्न हुआ है, उस के गुण को शब्द कहते हैं ॥७५॥ आकाश के विकार से गन्ध को धारण करने वाला पवित्र बलवान् वायु उत्पन्न हुआ है, वह स्पर्शगुणवाला माना है ॥ ७६ ॥

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम्। ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥ ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापोरसगुणाः स्मृताः। अद्भ्योगन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः७८

अर्थ-वायु के विकार से तम का नाश करने वाला प्रकाशित चमकीला अग्नि उत्पन्न हुआ है जिसका गुण रूप है ॥७७॥ अग्नि के विकार से जल उत्पन्न हुआ जिसका गुण रस है और जलसे पृथिवी, जिसका गुण गन्ध है। प्रथम सृष्टि का यह क्रम है ॥ ७८ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् । तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते॥७९॥ मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहारएव च। क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥८०॥

अर्थ—पूर्व जो बारह हज़ार वर्षका देव युग कहा था, ऐसे एकहत्तर युग का एक मन्वन्तर होता है ।।७९।। मन्वन्तर असंख्य हैं । सृष्टि और संहार= प्रलय भी असंख्य हैं और इन को बारम्बार प्रजापति क्रीडावत् (अर्थात् विना श्रम) किया करता है।। ८०।।

"चतुष्पात्सकलोधर्मः सत्यं चैव कृते युगे । नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रतिवर्त्तते॥८१॥इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः ।चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥८२॥"

"अर्थ—सत्ययुग में धर्म पूर्ण चतुष्पाद् और सत्य रहता है क्योंकि तब अधर्म से मनुष्यों को धन प्राप्त नहीं होता ॥ ८१ ॥ इतर जो तीन (त्रेता द्वापर कलि) इन में वेदसे जो धर्म है वह क्रमशः चौथाई घटता है । चोरी, झूठ, माया; इनसे धर्म का चौथाई २ क्षय होता है ।। ८२ ।। "

"अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः॥८३॥वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् । फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥८४॥"

"अर्थ—सत्ययुग में सब रोगरहित होते हैं और संपूर्ण मनोरथ पूरे होते हैं आयु ४०० वर्ष की होती है । आगे त्रेतादि में इन की चौथाई २ आयु घटती है ।।८३।। मनुष्यों की वेदानुकूल आयु, कर्मों के फल और शरीरधारियों के प्रभाव, ये सब युगानुकूल फलते हैं ।। ८४ ।। "

"अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेपरे । अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ ८५ ॥ तपःपरं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते । द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥८६॥ "

" अर्थ—युगों की हीनता के अनुसार, मनुष्यों के धर्म सत्ययुग के और हैं, त्रेता के दूसरे हैं, और द्वापर के दूसरे, कलियुग के और ही हैं ।। ८५ ।। कृतयुत में तप मुख्य धर्म है, त्रेता में ज्ञान प्रधान है, द्वापर में यज्ञ प्रधान है और कलि में एक दान ही प्रधान कहा है ।।८६।। "

८१ से ८६ तक छः श्लोक भी प्रक्षित जान पड़ते हैं । क्योंकि मनु सा धर्मात्मा सत्यवादी पुरुष ऐसा असत्य लिखे सो संभव नहीं प्रतीत होता । जैसा कि ८१ श्लोक में कहा है कि सत्ययुग में धर्म पूरा होता है,अधर्म को मनुष्यों

में प्रवृत्ति नहीं होती । यह बात प्रथम तो "काल क्या वस्तु है" इस बात पर विचार करने से ज्ञात हो सक्ती है :-

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥
वैशेषिकदर्शन अ० २ आ० २

पहले, पीछे, एक साथ और शीघ्र; ये ४ काल के चिन्ह हैं। इस में धर्म वा अधर्म में प्रवृत्त करना काल का काम नहीं। तथा यह इतिहासप्रमाण के भी विरुद्ध है कि सत्ययुग में अधर्म न हुवा हो। पुराणों के विचार से ज्ञात होता है कि सब युगों में पापी पुण्यात्मा देव असुर इत्यादि होते रहे हैं। और यह लेख मनु के ही पूर्व लेख के प्रतिकूल है। मनु में पूर्व श्लोक २६ में लिखा है कि प्रथम धर्माधर्म सुखदुःख से प्रजा युक्त हुई। तो सृष्टि के आरम्भ में पहले सत्ययुग होता है उस में अधर्म और दुःख कैसे उत्पन्न हुवे ? श्लोक २९ में हिंसक अहिंसक, मृदु क्रूर, धर्माऽधर्म, सत्याऽसत्य, ये, तो सत्ययुग में क्यों थे ? इत्यादि प्रकार से और इस कारण से भी कि युगों की व्याख्या ६९। ७० में हो चुकी, मनु जी युग में धर्माऽधर्म का प्रभाव बताते तो उसी के आगे लिखते। यह श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। ८२ वें में त्रेता में चोरी, द्वापर में असत्य और कलि में छल होना बताना भी पूर्वोक्त कारणों से माननीय नहीं। ८३ में सत्ययुग में सब का नीरोग रहना बताना भी उक्त कारणों से अग्राह्य है। ८४। ८५ और ८६ में जो काल के प्रभाव लिखे हैं, वे भी उक्त प्रकार से शास्त्रों इतिहासों और मनुवचनों ही से विरुद्ध हैं। श्लोक ८० का ८७ के साथ संबन्ध भी ऐसा ठीक मिलता है, जिस से बीच के ६ श्लोक अनावश्यक जान पड़ते हैं ॥८६॥

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः। मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्॥८७॥अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥८८॥

अर्थ—उस महातेजस्वी ने इस सब सृष्टि की रक्षार्थ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रों के कर्मों को पृथक् २ बताया ॥ ८७ ॥ ब्राह्मणों के षट्कर्म—पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना, और लेना, ये बताये हैं ॥८८॥

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥८९॥ पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥९०॥

अर्थ—प्रजाका रक्षण, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयों में न फंसना, ये कर्म संक्षेप से क्षत्रिय के।।८९।।पशुओं (गाय बैल इत्यादि) का पोषण,दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, व्याज लेना और खेती, ये वैश्य के ।।९०।।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥ ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः । तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥९२॥

अर्थ—प्रभु ने शूद्रों का एक ही कर्म बताया, (वह यह कि) इन (तीनों) वर्णों की सेवा निन्दारहित (अर्थात् जिस में कोई निन्दा नहीं) ।।९१।। पुरुष नाभि के ऊपर पवित्रतर कहा है, इस से उसका मुख उस में भी पवित्र है । यह परमात्मा ने कहा है ॥ ९२ ॥

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्।सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतोब्राह्मणः प्रभुः।।९३।।तं हि स्वयंभूःस्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत् । हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥९४॥

अर्थ—उत्तमाङ्गोद्भव अर्थात् मुखतुल्य होने और ज्येष्ठता और वेदके धारण कराने तथा संपूर्ण जगत् का धर्मानुशासन करनेसे ब्राह्मण प्रभु है।।९३।। क्योंकि ब्राह्मण को परमात्माने देवता और पितरों के हव्य कव्य पहुंचाने के लिये और संपूर्ण जगत् की रक्षा के लिये (ज्ञानमय) तप करके अपने मुख से उत्पन्न किया है।।९४।।

देवता वायु आदि और पितर चन्द्रकिरणादि को हव्य कव्य नामक पदार्थ अग्नि में होमे जाते हैं, उसे यज्ञ कहते हैं । यज्ञ कराना ब्राह्मण का कर्म बताया जा चुका है । इसलिये हव्य कव्य पहुंचाने का काम ब्राह्मणों का हुआ । "परमात्मा ने अपने मुख से रचा" इस का तात्पर्य श्लोक ८८ के अनुसार यही है कि पढ़ना मुख से, पढ़ाना मुख से, यज्ञ करने कराने में वेदपाठ मुख से, दान और आदान का वाक्य उच्चारण करना प्रायः ये सब काम मुख से ब्राह्मण करता है । परमात्मा ने वेद द्वारा जो धर्मोपदेश किया है सो भी ब्राह्मण ऋषियों के मुख द्वारा किया है । यथार्थ में परमात्मा तो (सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । श्वेता०) इत्यादि प्रमाणों से मुखादिरहित ही है ।।९४।।

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।कव्यानि चैव पि-

तरः किंभूतमधिकं ततः॥९५॥भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।बुद्धिमत्सु नराःश्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः९६

अर्थ–हवन में जिस के मुख से (मुखोच्चारित मन्त्रके साथ) त्रिदिवौकस् पृथिवी अन्तरिक्ष दिवके रहने वाले (निरुक्तोक्त वायु आदि देवता) हव्यों को और पितर कव्यों को पाते हैं उससे अधिक कौन प्राणी हो।।९५।। भूतोंके बीच में (अर्थात् स्थावर जंगमों में)प्राणी श्रेष्ठ हैं (अर्थात् कीटादिक,) इन में भी जो बुद्धिजीवी (अर्थात् पश्वादि,) इन सब में मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में ब्राह्मण ॥९६॥

ब्राह्मणेषु च विद्वांसोविद्वत्सु कृतबुद्धयः।कृतबुद्धिषु कर्त्तारःकर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥ उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती । सहि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥९८॥

अर्थ–ब्राह्मणों में अधिक विद्यायुक्त ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, विद्वानों में जिन की श्रौतोक्त कर्मों के विषय कर्त्तव्यबुद्धि हो, और उन से करने वाले, और करने वालों से ब्रह्मज्ञ श्रेष्ठ हैं।।९७।। ब्रह्मज्ञ की उत्पत्ति ही धर्म की शाश्वत मूर्त्ति है, वह ब्राह्मण धर्मार्थ उत्पन्न हुवा है। मोक्ष का अधिकारी है।।९८।।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ये द्विज कहाते हैं अर्थात् इन का जन्म एक वार माता के गर्भ से, दूसरा जन्म गायत्री माता और गुरु पिता से होता है। यह द्विज कहाने का अधिकारी यथार्थ में दूसरे जन्म से होता है। इस लिये यहां ब्राह्मण की उत्पत्ति का तात्पर्य दूसरे विद्यासम्बन्धी जन्म से है।।९८॥

ब्राह्मणोजायमानोहि पृथिव्यामधिजायते। ईश्वरःसर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥९९॥ सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम्। श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति॥१००॥

अर्थ–ब्राह्मण का उत्पन्न होना यही पृथ्वी में श्रेष्ठ होना है क्योंकि सम्पूर्ण जीवों के धर्मरूपी ख़ज़ाने की रक्षार्थ वह प्रभु है (अर्थात् धर्म का उपदेश ब्राह्मण द्वारा ही होता है)।।९९।। जो कुछ जगत् के पदार्थ हैं वे सब ब्राह्मण के हैं। ब्रह्मोत्पत्तिरूप श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण सम्पूर्ण को ग्रहण करने योग्य है। (यह प्रशंसा ब्राह्मण की है कि सम्पूर्ण को ब्राह्मण अपने ऐसा जाने किन्तु ब्राह्मण यह नहीं समझे कि पराये धनको चोरी आदि से ग्रहण करलूं। क्योंकि ब्राह्मणों को भी चोरी का दण्ड आगे लिखा है) ॥ १०० ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च। आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥१॥ "तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः। स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥१०२॥"

अर्थ—(जो कि ब्राह्मण दूसरे का भी दिया अन्न) भोजन करे या (दूसरे का दिया वस्त्र) पहिने (या दूसरे का दिया लेकर और को) देवे, सो सब ब्राह्मण का ही है। और लोग जो भोजनादि करते हैं यह केवल ब्राह्मण की कृपा से॥१०१॥

तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण के ६ कर्मों में व्यापारादि करना, धन कमाना नहीं कहा, केवल दान और यज्ञ कराना आदि कामों में दक्षिणा लेना ही उस की जीविका है। इस पर कोई कदाचित् यह समझे कि ब्राह्मण मेंत मेंत खावा (मुफ़्तख़ोरे) रहे, सो नहीं किन्तु ब्राह्मण धर्मानुसार सब जगत् को चला कर जगत् का उपकार करता है और इससे अर्थ (धनादि) प्राप्त होते हैं, तो एक प्रकार से धर्मोपदेष्टा होने से सब जगत् की कमाई का ब्राह्मण प्रधान सहायक होने से किसी को यह न समझना चाहिये कि ब्राह्मण व्यर्थभोजी (मुफ़्तख़ोर) है। किन्तु सब को जीविका ब्राह्मण के मुख्य कर्म धर्मोपदेश से है, यही उस की कृपा जानो। परन्तु यह प्रशंसा जन्ममात्रके ब्राह्मणब्रुवों की नहीं। ऐसा यथार्थ ब्राह्मण बड़े तप से कभी कठिन से हो पाता है १०१ "ब्राह्मण के कर्म जानने के लिये और शेष जो क्षत्रियादि उन के भी क्रमशः कर्म जानने के लिये बुद्धिमान् स्वायंभुव मनु ने यह धर्मशास्त्र बनाया ॥ १०२ ॥"

"विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः। शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ्नान्येन केनचित् ॥३॥ इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणःशंसितव्रतः। मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥४॥"

"अर्थ—विद्वान् ब्राह्मण को यह धर्मशास्त्र पढ़ना योग्य है और शिष्यों को पढ़ाना योग्य है परन्तु अन्य कोई (क्षत्रियादि) न पढ़ावे (क्योंकि उसको पठन मात्र का अधिकार है) ॥ ३ ॥ इस शास्त्र को पढकर इस शास्त्र की आज्ञानुसार कर्म करने वाला ब्राह्मण, मन वाणी और देह से उत्पन्न होने वाले पापों से लिप्त नहीं होता ॥१०४॥"

"पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान्। पृथिवीमपि

चैवेमां कृत्स्नामेकोपि सोर्हति ॥५॥ इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम् । इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥६॥"

"अर्थ—अपवित्र पांति को धर्मशास्त्र का जानने वाला पवित्र करता है और अपने वंश के सात पिता प्रपिता इस क्रम से और सात पुत्रादि क्रमसे इन सब १४ को पवित्र करता है तथा इस सम्पूर्ण पृथ्वी को वह (लेने) योग्य है ॥५॥ यह शास्त्र कल्याण का देने वाला और बुद्धि का बढ़ाने वाला तथा यश का देने वाला और आयु का बढ़ाने वाला और मोक्ष का भी (ये सम्पूर्ण पदार्थ इस शास्त्र से प्राप्त होते हैं) ॥१०६॥"

"अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तोगुणदोषौ च कर्मणाम् ।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः" ॥१०७॥

"अर्थ—इस स्मृति में सम्पूर्ण धर्म कहा है और कर्मों के गुण दोष तथा चारों वर्णों का शाश्वत अर्थात् परम्परा से जो होता आया वह आचार कथन किया है ॥१०७॥"

आचारःपरमोधर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्तएव च ।
तस्मादस्मिन्सदायुक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ॥१०८॥

आचार परम धर्म है। श्रुति अर्थात् वेद और स्मृति में जो कहा है। इस लिये अपना कल्याण चाहने वाला द्विज सदा आचारयुक्त रहे ॥१०८॥

आचाराद्विच्युतोविप्रो न वेदफलमश्नुते । आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥१०९॥ एवमाचारतोदृष्ट्वा धर्मस्य मुनयोगतिम् । सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुःपरम् ॥११०॥

अर्थ—आचार से छूटा हुआ विप्र वेद के फल को नहीं पाता और जो आचार से युक्त है, वह सम्पूर्ण के फल का भागी होगा ॥९॥ मुनियोंने आचारसे धर्म की प्राप्ति इस प्रकारसे देखकर धर्म के मूल आचार को ग्रहण किया था ॥११०॥

" जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च । व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥११॥ दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम् । महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पश्च शाश्वतः ॥११२॥"

" अर्थ—और जगत् की उत्पत्ति (प्रथम अध्याय में कही है) और संस्कारों की विधि और ब्रह्मचारियों के व्रताचरण और स्नान की परम विधि तथा गुरु के अभिवादन का प्रकार और उपासनादि (यह दूसरे अध्याय में लिखे हैं, गुरु के पास से विद्याभ्यास कर) ॥१११॥ स्त्रीगमन और (ब्राह्मादि ८) विवाहों का लक्षण, महायज्ञविधि और श्राद्धकल्प जो * अनादि समय से चला आता है (यह तीसरे अध्याय का विषय है) ॥११२॥" श्राद्ध को ही * अनादि काल से सनातन करके लिखा है । इस से सूची बनाने वाले को यह शङ्का झलकती है कि कोई इसे नवीन न समझे ॥११२॥

"वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च । भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च॥ ११३॥ स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च । राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥११४॥,,

" अर्थ—वृत्तियों के लक्षण और स्नातक के व्रत (यह चतुर्थ अध्याय में) भक्ष्य, अभक्ष्य, शौच, द्रव्यों की शुद्धि ॥११३॥ स्त्रियों का धर्मोपाय (यह पांचवें अध्याय में लिखा है) वानप्रस्थ आदि तपस्वियों का धर्म और मोक्ष, संन्यासधर्म (यह सम्पूर्ण षष्ठाध्याय में लिखा है) और राजा का सम्पूर्ण धर्म (सप्तमाध्यायमें) और कार्यों का निर्णय अर्थात् मुकद्दमों की छान बीन ॥११४॥"

"साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि । विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥११५॥ वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च सम्भवम् । आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥११६॥"

अर्थ—साक्षिप्रश्न अर्थात् गवाहों से सवाल, (इस का निर्णय अष्टमाध्याय में है) स्त्री पुरुष के धर्म और विभाग अर्थात् हिस्सा (इस का प्रकार) तथा जुवारी चोर इत्यादि का पता लगाना ॥११५॥ वैश्य शूद्रों के धर्म का अनुष्ठानप्रकार (नवमें अध्याय में) वर्णसङ्करों की उत्पत्ति और वर्णों का आपद्धर्म (यह दशमाध्याय में कहा) और प्रायश्चित्तविधि (एकादश में है) ॥११६॥

" संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसम्भवम् । निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥११७॥ देशधर्माञ्जातिधर्मान्कुलधर्मांश्च शाश्वतान् । पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ११८,,

"अर्थ—देहान्तरप्राप्ति, तीन प्रकार के कर्म (अर्थात् उत्तम मध्यम अधम) से

होती है और मोक्ष का स्वरूप और कर्मों के गुण दोष की परीक्षा ।। १७ ।। देश धर्म (अर्थात् जो प्रचार जिस देश में बहुत काल से चला आता है वह देश धर्म है), और जो धर्म जाति में नियत है वह जाति धर्म है। और जो कुल परम्परा से चला आता है वह कुल धर्म है । और जो पाषण्डगणधर्म अर्थात् वेद शास्त्र में निषिद्ध कर्म करने वाले पाषण्डी कहलाते हैं उनके जो स्वभाव हैं वह पाखण्ड धर्म और उनके जो गण हैं वे इस शास्त्र में *मनु ने कहे हैं ।। १८ ।।

" यथेदमुक्तवाञ्शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया । तथेदं यूयमप्य-द्य मत्सकाशान्निबोधत ।।११९।।,, ।। * ।। इतिमानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां) प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।। * ।।

"अर्थ–जिस प्रकार मनु जी से पूर्व में मैंने पूछा तब यह शास्त्र उन्हों ने उपदेश किया । उसी प्रकार अब आप मुझ से सुनिये ।।११९।।,,

१०२ वां श्लोक इस पुस्तक के संपादक का वचन है । मनु का नहीं । यह श्लोक से स्पष्ट पाया जाता है ।। १०३ में इस ग्रन्थ पर ब्राह्मणों का अधिकार जमाना पक्षपात है । अन्यत्र यह कहीं नहीं लिखा कि स्मृति पर ब्राह्मणों का ही अधिकार है । जो नवीन ग्रन्थ शूद्र को वेदाध्ययन का निषेध लिखते हैं वे भी शूद्र को स्मृति पढ़ने का निषेध नहीं करते । और द्विजमात्र को तौ वेद के अधिकार में भी कोई नवीन वा प्राचीन ग्रन्थ निषेध नहीं करता, फिर यह पक्षपात नहीं तौ क्या है ।। १०४ में पापों का नाश इस ग्रन्थ के पढ़ने से लिखा है, और कर्मदोष न लगना कहा है, वह भी ग्रन्थ की अत्युक्ति करके प्रशंसा है ।।१०५–१०६ में भी यही बात है ।। १०७ वें श्लोक में इस ग्रन्थ के संपादक ने इस ग्रन्थ का सूचीपत्र आरम्भ किया परन्तु १०८ से ११० तक ३ श्लोकों में धर्मशास्त्र की आज्ञा है और १११ से फिर सूचीपत्र है जो ११८ तक चला गया है ।। ११९ में पुस्तक का संपादक कहता है कि मैंने मनु से जैसे सुना वैसे मैं आप को सुनाता हूं। सो सम्पादक का मनु के समकाल होना तौ असम्भावित है, हां, मनु के धर्मशास्त्र से जो कि पूर्व सूत्ररूप से था, इस महापुरुष ने उस मूल से आशय लिया हो और वही मनु से सुनना समझाजाय तौ दूसरी बात है ।। ११९ ।।

इति तुलसीरामस्वामिकृते मनुस्मृतिभाषानुवादे प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

*इस से स्पष्ट है कि ये श्लोक अन्य ने संपादन करके कभी सूचीपत्र बनाया है ।।

ओ३म्

अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

विद्वद्भिःसेवितःसद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः । हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥१॥ कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता । काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥२॥

अर्थ—वेद के जानने वाले और रागद्वेषादिकों से रहित महात्माओं ने जिस धर्म का सेवन किया और हृदय से जिस को अच्छे प्रकार जाना, उस धर्म को सुनो॥१॥ न तो कामात्मा होना और न केवल निष्काम होना ही अच्छा है। क्योंकि वेद की प्राप्ति और वेदोक्त कर्मानुष्ठान कामना करने से ही योग्य हैं॥२॥

संकल्पमूलःकामो वै यज्ञाःसंकल्पसंभवाः । व्रता नियमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥३॥अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित् । यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥४॥

अर्थ—(इस कर्म से यह इष्ट फल प्राप्त होगा, इस को संकल्प कहते हैं। अनन्तर जब पूरा विश्वास होता है तब) संकल्प से उस के करने की इच्छा होती है। यज्ञादि संपूर्ण संकल्प ही से होते हैं और व्रत नियम धर्म; ये सब संकल्प ही से होतेहैं (अर्थात् संकल्प विना कुछ भी नहीं होता)॥३॥ लोक में भी कोई क्रिया (अर्थात् भोजन गमनादिक) विना इच्छा कभी देखने में नहीं आती (अर्थात् विना इच्छा कोई भोजन चलना फिरना तक भी नहीं करता) इस कारण जो कुछ कर्म पुरुष करता है, वह संपूर्ण इच्छा ही से करता है ॥४॥

तेषु सम्यग्वर्त्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् । यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥५॥ वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥६॥

अर्थ—शास्त्रोक्त कर्मों में अच्छे प्रकार आचरण करने वाला अमरलोकता अर्थात् अविनाशी भाव को प्राप्त होताहै और जो २ यहां संकल्प करताहै सो२ संपूर्ण पदार्थ भी प्राप्त होते हैं ॥५॥ संपूर्ण वेद धर्ममूल है (अर्थात् चारों वेदों का मुख्य फल धर्म ही है) और वेद के जानने वालों की स्मृति तथा शील,

यह भी धर्ममूल है (शील अर्थात् रागद्वेष का परित्याग) इसी प्रकार साधुजनों का आचार, और आत्मा का सन्तोष, यह संपूर्ण धर्ममूल है ।।६।।

"यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः । स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः,,।।७।।सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा । श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै।।८।।

अर्थ—"इस स्मृति में जिस वर्ण के लिये जो धर्म मनु ने कहा है, वह संपूर्ण वेद में कहा है (अर्थात् वेद के विरुद्ध इस में नहीं कहा) क्योंकि मनु सर्ववेदज्ञ है (अर्थात् सम्पूर्ण वेद को जान कर यह स्मृति बनाई, इस से सब स्मृतियों से इस की उत्कृष्टता दिखाई है)" ।। इस ७ वें श्लोक में ग्रन्थ के संपादक ने मनु की प्रशंसा और वेदानुकूलता पुष्ट की है ।।७।।

(ग्रन्थकार कहता है कि) विद्वान् को चाहिये कि इस सब धर्मशास्त्र को ज्ञान की आंख से वेद के प्रमाण से जांचे और अपने धर्म में श्रद्धा करे ।।८।।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः। इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्।।९।। श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः । ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ।।१०।।

अर्थ—वेद और स्मृतियों में कहे धर्म को जो मनुष्य करता है, उस की यहां कीर्त्ति होती है और परलोक में अनुत्तम सुख की प्राप्ति होती है ।।९।। श्रुति वेद है और (मन्वादिकों का) धर्मशास्त्र स्मृति है । ये दोनों संपूर्ण अर्थों में निर्विवाद हैं, क्योंकि इन से धर्म का प्रकाश हुवा है ।।१०।।

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ।।११।। वेदःस्मृतिःसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । एतच्चतुर्विधं प्राहुःसाक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।१२।।

अर्थ—जो द्विज कुतर्कादिकों से इन की निन्दा करे, वह साधुवों से निकाल देने योग्य है क्योंकि वह वेदनिन्दक नास्तिक है ।। ११ ।। वेद=श्रुति, स्मृति (मन्वादिकों की), सदाचार शीलादि और अपना सन्तोष, यह चार प्रकार का साक्षात् धर्म का लक्षण (मुनि लोग) कहते हैं ।। १२ ।।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते। धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥१३॥ श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ। उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ १४ ॥

अर्थ—अर्थ और कामों में जो पुरुष नहीं फंसे हैं उन को धर्मोपदेश विधान है और जो पुरुष धर्म जानने की इच्छा रखते हैं उन को परम प्रमाण वेद है (अर्थात् श्रुति स्मृति इन दोनों के प्रमाणों में श्रुतिप्रमाण बलवत्तर है) ॥ १३ ॥ श्रुतियों के जहां दो प्रकार हों (अर्थात् भिन्न भिन्न अर्थ का प्रतिपादन हो) वहां वे दोनों धर्म हैं (तुल्य बल के कारण) दोनों विकल्प करके अनुष्ठेय हैं। यह ऋषियों ने कहा है ॥ १४ ॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्त्तते यज्ञइतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥१५॥ निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितोविधिः।तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥१६॥

अर्थ-(पूर्व जो कहा कि श्रुतिभेद दोनों माननीय हैं, उस को यहां दिखाते हैं) उदित समय में अर्थात् सूर्य के प्रादुर्भाव के समय में, अनुदित उस के विरुद्ध और समयाध्युषित अर्थात् सूर्यनक्षत्ररहित कालमें,सर्वथा यज्ञ (होम) होता है। यह वैदिकी श्रुति है अर्थात् वेदमूलक वाक्य सुनते हैं ॥ (श्लोक १५ के आगे ३० प्रकार के पुस्तकों में से ३ में ये दो श्लोक अधिक पाये जाते हैं:—

[श्रुतिं पश्यन्ति मुनयः स्मरन्ति तु यथास्मृति।
तस्मात्प्रमाणं मुनयः प्रमाणं प्रथितं भुवि ॥१॥
धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः श्रेष्ठानां साहसं तथा।
तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानाः सीदन्त्यपरधर्मजाः ॥२॥]

हमारा तात्पर्य इन के लिखने से यह है कि लोग यह जान लेवें कि मनुस्मृति में पाठों की अधिकता अवश्य होती आई है) ॥ १५ ॥ गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त जिस कर्म की वेदोक्त मन्त्रों ने विधि कही है उस कर्म का अधिकार (प्रकरण) इस (मानवधर्मशास्त्र) में है, अन्य किसी का नहीं ॥१६॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मा-

वर्त्तं प्रचक्षते ॥१७॥ तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

अर्थ–सरस्वती और दृषद्वती इन देवनदियों के मध्य में जो देश है, वह देवतों से बसाया गया है, उस को ब्रह्मावर्त्त कहते हैं ॥१७॥ उस देश में परंपरा से प्राप्त जो वर्णों (अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र) और वर्णसंकरों का आचार है, उस को सदाचार (सदा का आचार) कहते हैं ॥ १८ वें के आगे एक श्लोक मेधातिथि के भाष्य में पाया जाता है, अन्यत्र कहीं नहीं । वह यह है–)

[विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्थादिष्टकारणे।
स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषासंभवश्रुतिः ॥१॥]

इस से भी हमारा सन्देह पुष्ट होता है कि मनु में कुछ पीछे की मिलावट अवश्य है। और वेदविरुद्ध स्मृतियों का होना भी इससे पाया जाताहै ॥१८॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः। एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ॥१९॥ एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥२०॥

अर्थ–कुरुक्षेत्र और मत्स्य देश, पञ्चाल और शूरसेनक, यह ब्रह्मर्षि देश है, जो ब्रह्मावर्त्त से समीप है ॥१९॥ कुरुक्षेत्रादि देशों में उत्पन्न जो ब्राह्मण उन से पृथिवी के सम्पूर्ण मनुष्य अपने २ कामों की शिक्षा (तालीम) पावें ॥ २० ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥ आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

अर्थ–हिमवान् और विन्ध्याचल इन के बीच में जो सरस्वती के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम में देश है उस को मध्यदेश कहते हैं ॥ २१ ॥ पूर्व समुद्र से पश्चिम के समुद्र तक और हिमाचल से विन्ध्याचल के बीच जो देश है, उसको विद्वान् लोग आर्यावर्त्त कहते हैं ॥ २२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः। स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतःपरः ॥२३॥ एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः। शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्शितः ॥ २४ ॥

अर्थ—कृष्णसार मृग जहां स्वभाव से होता है (अर्थात् बलात्कार करके न छोड़ा हो) वह यज्ञिय देश है (अर्थात् यज्ञ करने योग्य देश है) इससे परे जो देश है, वह म्लेच्छ देश है ॥२३॥ इस देश को द्विजाति लोग प्रयत्न के साथ आश्रय करें और शूद्र चाहे किसी देश में वृत्तिपीडित हुवा निवास करै ॥

यद्यपि धर्माऽनुष्ठान मनुष्यके आधीन है, देशके आधीन नहीं, तथापि जिस देश में धर्मात्मा लोग अधिक रहते हैं, वहां धर्मानुष्ठानमें बाधा कम होती है और धर्मानुष्ठान के साधन सुगमता से मिलते हैं, इस लिये देश का धर्म से सम्बन्ध हो जाता है । पूर्वजों ने स्वाभाविक (नेचुरल) रीति पर भी इस देश को अच्छा और यज्ञादि धर्मानुष्ठान के लिये उत्तम जान कर यहां ही रहना स्वीकार किया था । इसी से मनु ने १७ से २३ श्लोक तक धर्म के उपयोगी देश का वर्णन किया है । और २३ में तो यज्ञयोग्य देश की पहचान ही बतलाई है कि "कृष्णसार" मृग जिस का चर्म ऊपर से काला होता है, जिस देश में स्वभाव से उत्पन्न हों और विचरें, उस देश को जानों कि यह यज्ञयोग्य देश है, इस में वे बूंटी उत्पन्न होती हैं, जिन से यज्ञानुष्ठान होता है ॥२४॥

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता । संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥२५॥ वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् । कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥२६॥

अर्थ—यह धर्म की योनि (अर्थात् जानने का कारण वेदादि) और इस सब (जगत्) की उत्पत्ति तुम से संक्षेप से कही, अब वर्णधर्मों को सुनो ॥ २५ ॥ वैदिक जो पुण्य कर्म हैं उन से ब्राह्मणादि तीन वर्णों का (गर्भाधानादि) शरीरसंस्कार, जो दोनों लोक में पवित्र करने वाला है, करना चाहिये ॥२६॥

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः । बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥२७॥ स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः । महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

अर्थ—गर्भाधान संस्कार और जातकर्म, चौडकर्म, मौञ्जीबन्धन ; इन में के होमों से द्विजों के गर्भ और बीज के दोषादि की शुद्धि होती है ॥२७॥ वेदत्रयी का पढ़ना, व्रत, होम, इज्याकर्म, पुत्रोत्पादनादि तथा पञ्च महायज्ञों और यज्ञों से यह तनु ब्राह्मी होती है ॥ (होम=पर्वादि समय का । इज्या=अग्निष्टोमादि । यज्ञ=पौर्णमासादि) ॥२८॥

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते। मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥ नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् । पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥ मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् । वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥३१॥ शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्। वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—नाभि छेदने के पूर्व पुरुष का जातकर्म संस्कार करे और गृह्योक्त वेद मन्त्रों से सुवर्ण मधु घृत का प्राशन करावे (चटावे)।।२९।। दशवें या बारहवें दिन नामकरण करे अथवा जब शुद्ध तिथि मुहूर्त्त (२ घड़ी) नक्षत्र हो ।। (इस का तात्पर्य साफ़ दिन और समय से है, जिस में मेघाच्छन्नादि दुर्दिन न हो) ॥३०॥ सुखवाचक शब्दयुक्त ब्राह्मण का हो, क्षत्रिय का बलयुक्त, वैश्य का धनयुक्त और शूद्र का हीनतायुक्त नाम होवे ।।३१।। ब्राह्मण के नाम शर्मा, क्षत्रिय के वर्मादि, वैश्य के भूतियुक्त और शूद्र के दासयुक्त रक्खे ।।३२।।

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् । मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥३३॥ चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् । षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥३४॥

अर्थ—और स्त्रियों का सुख से उच्चारण करने योग्य और क्रूर न हो जिस के अक्षर स्पष्ट होवें और प्रीति का देने वाला और मङ्गलवाची, दीर्घस्वर अन्त में हो और आशीर्वादात्मक शब्द से युक्त हो, ऐसा नाम रक्खे । (जैसे यशोदा देवी) ॥३३॥ चतुर्थ मास में बालक को घर से बाहर निकालने का संस्कार और छठे मास में अन्नप्राशन संस्कार करावे वा जिस प्रकार कुलाचार हो, उस समय करे ।।३४।।

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः । प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥३५॥गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् । गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

अर्थ—चूड़ाकर्म ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन सब का धर्म से प्रथम वर्ष वा तीसरे में वेद की आज्ञा से करना चाहिये ।।३५।। गर्भ से अष्टमवर्ष में ब्राह्मण का और गर्भ से एकादश में क्षत्रिय का और द्वादश में वैश्य का उपनयन करे।।३६।।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनःषष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥ ३७॥आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते । आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥

अर्थ—वेदाध्ययन के अर्थ ज्ञानादि से बढ़ा तेज ब्रह्मवर्चस है, उस की इच्छा करने वाले विप्र का पांचवें वर्ष में उपनयन करे और बलार्थी क्षत्रिय का छठे वर्ष और कृष्यादि कर्म की इच्छा वाले वैश्यका आठवें में उपनयन करे ।।३७।। सोलह वर्ष पर्यन्त ब्राह्मण की सावित्री नहीं जाती और क्षत्रिय की बाईस वर्ष पर्यन्त,वैश्यकी चौबीस वर्ष पर्यन्त(अर्थात् उपनयन कालकी यह अवधि है)।।३८।।

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः । सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥३९॥नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् । ब्राह्मान्यौनांश्च संबन्धानाचरेद् ब्राह्मणःसह॥४०॥

अर्थ-इस के उपरान्त ये तीनों सावित्रीपतित होजाते हैं, अपने अपने काल में उपनयन से रहित होने से इनकी संज्ञा 'व्रात्य' होती है । और शिष्टों से निन्दित होते हैं ॥३९॥ ये जो अपवित्र व्रात्य हैं, जिनका प्रायश्चित्तादिक विधिपूर्वक नहीं हुवा, उनके साथ आपत्काल में भी ब्राह्मण विद्या वा योनिका सम्बन्ध न करे ।। ४० ।।

कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः । वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥ ४१ ॥मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला। क्षत्रियस्य तु मौर्वीज्या वैश्यस्य शणतान्तवी४२

अर्थ—कृष्णमृग, रुरुमृग, अज, इन के चर्मों का वस्त्र ३ वर्ण के ब्रह्मचारी क्रमशः रक्खें और सन, क्षौम (अलसी), ऊन का भी ॥ ४१ ॥ और ब्राह्मण की मेखला तिलड़ी और चिकनी सुखस्पर्शवाली मूञ्ज की बनावे और क्षत्रिय की मूर्वातृण से धनुष् के गुण सी बनावे,वैश्य की सन के डोरे की बनावे॥४२॥

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः। त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा॥४३॥ कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्। शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्॥४४॥

अर्थ–मुञ्ज के न मिलने से कुश, अश्मन्तक, बल्वज, तृणों से क्रम से तीनों वर्णों की मेखला बनावे। तीन लरवाली, १ या ३ या ५ ग्रन्थि लगाकर बनावे॥४३॥ कपास का जनेऊ ब्राह्मण का, ऊपर को बटा हुआ और त्रिगुण (३ लर) होवे। और सन के डोरे का क्षत्रिय का। और वैश्य का भेड़ की ऊन का होवे॥४४॥

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ। पैप्पलौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः॥४५॥ केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः। ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः॥४६॥

अर्थ–ब्राह्मण बेल वा पलाश के दण्ड, क्षत्रिय वट वा खदिर के तथा वैश्य पीपल वा गूलर के, इस क्रम से सब धर्मानुसार दण्ड बनावें॥ इस श्लोक में नन्दन टीकाकार ने ब्राह्मणादि ग्रन्थों के प्रमाण देकर बिल्वादि के साथ ब्राह्मणादि की समानता दिखाई है। वह लिखता है कि १–(असौ वा आदित्यो यतोजायत ततो बिल्व उदतिष्ठत स योन्यैव ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे इति श्रुतेः) अर्थात् जिस कारण की प्रधानता से सूर्य बना है, उसी से बिल्व का वृक्ष भी उपजा है, इस लिये वह जन्म से ही ब्रह्मवर्चस का प्रभाव (असर) धारण करता है। इस लिये ब्राह्मण बेल का दण्ड धारण करे। २–(तदुक्तमैतरेयब्राह्मणे–क्षत्रं वा एतद्वनस्पतीनां यन्न्यग्रोधः क्षत्रं वै राजन्य इति) अर्थात् ऐतरेय ब्राह्मण में यह लिखा है कि वट वृक्ष वनस्पतियों में क्षत्रिय है। क्षत्रिय राजा है॥ इस लिये क्षत्रिय बड़ का दण्ड रक्खे। ३–(मरुतो वा एतदोजो यदश्वत्थः। मरुतो वै देवानां विशः इति श्रुतेः) अर्थात् अश्वत्थ (पीपल) वायु के बल से प्रधानता से युक्त है और वायु देवतों का वैश्य है॥ (क्योंकि देवतों के हव्य पदार्थ इधर उधर ले चलता है जैसे वैश्य लोग भोजनादि के अन्नादि एक देश से दूसरे देश में ले जाते हैं) इस लिये वैश्य पीपल का दण्ड बनावे। इस के अतिरिक्त अन्य जिन वृक्षों वा तृणों के दण्ड वा मेखला का विधान है, उन में भी उस २ वर्ण के साथ किसी स्वाभाविक समानता का अनुमान होता है, जो ब्राह्मण ग्रन्थों के खोजने से मिल सकता है॥ किन्ही पुस्तकों में (पैलवौदुम्बरौ) भी पाठ है॥४५॥

ब्राह्मण का केशान्तिक लंबा अर्थात् सिर के बाल तक लम्बाई का दण्ड होवे और ललाट तक की लम्बाई क्षत्रिय के दण्ड की होवे, तथा वैश्य के की नाक तक लंबाई होवे, (इस प्रकार तीनों के दण्डों का प्रमाण कहा) ।।४६।।

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः । अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचो नाग्निदूषिताः ॥४७॥ प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्। प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥४८॥

अर्थ—और वे सब (दण्ड) सीधे हों, फटे नहीं हों, देखने में सुन्दर हों तथा वल्कल सहित हों, आग से जले न हों, मनुष्यों को डरावने न हों ।।४७।। ईप्सित दण्ड को ग्रहण करके और आदित्य के सम्मुख स्थित होकर, अग्नि को प्रदक्षिणा देके, यथाविधि भिक्षा करे ।। ४८ ॥

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः । भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम्॥४९॥ मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् । भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥५०॥

अर्थ—उपनीत ब्राह्मण भवत्शब्द को प्रथम उच्चारण करके भिक्षा करे । क्षत्रिय भवत् शब्द को मध्य में । वैश्य अन्त में (अर्थात् ब्राह्मण " भवती भिक्षां ददातु" इस प्रकार उच्चारण करे। क्षत्रिय "भिक्षां भवती ददातु," वैश्य "भिक्षां ददातु भवती" इस प्रकार तीनों का क्रम है) ।।४९।। प्रथम माता से भिक्षा मांगे या मौसी या अपनी भगिनी से, और जो कोई इसका अपमान न करे ॥५०॥

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदर्थममायया। निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखःशुचिः॥५१॥ "आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः। श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः॥५२॥"

अर्थ—वह भिक्षा लाकर निष्कपट होके गुरु को तृप्तिभर देकर आप आचमन करके पूर्वाभिमुख होकर भोजन करे ।।५१।। "आयुष्य के हित के अर्थ पूर्वाभिमुख होकर, यश के अर्थ दक्षिण की ओर होके, संपत्ति के अर्थ पश्चिम और सत्य के अर्थ उत्तर की ओर मुख करके भोजन करे ॥ "

(पूर्वादि दिशाओं का आयु आदि के साथ कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता । केवल किन्हीं टीकाकारों ने इसे काम्य वचन कहा है। यदि उन का

कहना माने तो आयु आदि की कामना वाले क्रमशः पूर्वादि नियत दिशों में मुख करके भोजन किया करें। यह मानना होगा। ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों में यह कोई आवश्यक भी कर्त्तव्य नहीं। इस लिये हम को यह श्लोक प्रक्षिप्त सा प्रतीत होता है और इस से आगे एक अन्य श्लोक है जो कि उज्जैन के (आठवले) नाना साहेब के रामचन्द्रकृत टीकायुक्त पुस्तक और पूना के (जोशी) बलवन्तराव के मूल पुस्तक में पाया जाता है। तथा प्रयाग के (मुन्शी) हनुमान्प्रसाद जी के मूल पुस्तक में (* श्रुतिनोदितम्) पाठभेद है। शेष २७ पुस्तकों में नहीं पाया जाता। इस से जान पड़ता है कि थोड़े समय से ही बढ़ाया गया है। तथा रामचन्द्र टीकाकार के अतिरिक्त शेष ५ में से किसी ने भी इस पर टीका नहीं किया—और रामचन्द्र सब से अन्तिम समय के टीकाकार हैं। इस से भी प्रतीत होता है कि मेधातिथि आदि रामचन्द्र से पुराने टीकाकारों के समय में यह श्लोक न था, जिसका पाठ इस प्रकार है:—

[सायंप्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृति (श्रुति*) नोदितम्।
नान्तरे भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ५२॥]

इस का अर्थ यह है कि—द्विजों को (श्रुति वा) स्मृति ने सायंप्रातः दो वार भोजन की आज्ञा दी है। बीच में भोजन न करे। इस की विधि अग्निहोत्र के समान है ५२॥ यद्यपि हम को इस में कोई बुराई नहीं प्रतीत होती, परन्तु यह श्लोक नवीन समय का है। और कुछ आश्चर्य नहीं कि वह पहला श्लोक जो अब सब पुस्तकों और टीकाओं में उपस्थित है, यह भी कुछ पुराने समय में मिलाया गया हो)॥ ५२॥

उपस्पृश्य द्विजोनित्यमन्नमद्यात्समाहितः। भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिःखानि च संस्पृशेत्॥ ५३॥ पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्। दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥ ५४॥

अर्थ—ब्राह्मणादि नित्य आचमनादि करके पश्चात् एकाग्र हो, भोजन करें। भोजन करने के पश्चात् भले प्रकार आचमन करे और चक्षुरादिकों का जल से स्पर्श करे।।५३।। और भोजन के समय अन्न का प्रतिदिन संस्कार करे, निन्दा न करके भोजन करे और देख के हृष्ट, प्रसन्न होवे और सर्वथा प्रशंसा करे।।५४।।

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति। अपूजित तु तद्भुक्तमु-
भयं नाशयेदिदम् ॥५५॥ नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथा-
न्तरा। न चैवाध्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टःक्वचिद् व्रजेत् ॥ ५६ ॥

अर्थ—संस्कृत अन्न, बल वीर्य को देता है और असंस्कृत, बल सामर्थ्य इन दोनों का नाश करता है। (इस लिये संस्कार करके भोजन करना चाहिये) ॥५५॥ उच्छिष्ट अन्न किसी को न दे, भोजन के बीच में ठहर २ कर भोजन न करे, अधिक भोजन न करे और उच्छिष्ट कहीं गमन न करे ॥५६॥

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् । अपुण्यं लोक-
विद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥५७॥ ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्य-
कालमुपस्पृशेत्। कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन॥५८॥

अर्थ—अति भोजन करना आरोग्य को नहीं देता और आयुष्य को नहीं देता तथा सुख भी नहीं देता, और पुण्य भी नहीं होता और लोगों में निन्दा होती है, इस लिये अति भोजन न करे ॥५७॥ विप्र सर्वदा ब्राह्म तीर्थ से आचमन करे अथवा प्राजापत्य वा देवतीर्थ से करे, परन्तु पित्र्यतीर्थ से कभी न करे ॥

(हाथ से काम करने के वा आचमन करने के वा आहुति छोड़ने के चार (तीर्थ) उतारने के स्थान हैं। उन में ब्राह्मादि उत्तरोत्तर अच्छे हैं अर्थात् सुगमता से काम कर सकने योग्य हैं। पित्र्यतीर्थ से आचमन न करने का हेतु बेढंगापन है क्योंकि अगले श्लोक में तर्जनी अङ्गुलि और अंगूठे के नीचे के स्थान को पित्र्यतीर्थ कहा है। उस से आचमन करना अत्यन्त कठिन होने से वर्जित है। वह तीर्थ अग्नि में पित्र्य आहुति देने के लिये सुगम पड़ता है॥५८॥

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते । कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे
दैवं पित्र्यं तयोरधः॥५९॥त्रिराचामेदपःपूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततोमु-
खम्। खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥ ६० ॥

अर्थ—अङ्गुष्ठ मूल के नीचे (कलाई) को ब्राह्मतीर्थ कहते हैं और कनिष्ठाङ्गुलि के मूल में कायतीर्थ और उसी के अग्रभाग में देवतीर्थ और अङ्गुष्ठ तर्जनी के मध्य में नीचा पित्र्यतीर्थ है॥ (यज्ञादि में आहुति आदिकामों के विभागार्थ यह कल्पना की प्रतीत होती है। विशेष प्रयोजन कुछ नहीं जान

पड़ता) ॥ ५९ ॥ प्रथम जल से तीन वार आचमन करे, अनन्तर दो वार मुख को धोवे, पश्चात् इन्द्रियों, शिर और हृदय का जल से स्पर्श करे ॥ ६० ॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् । शौचेप्सुःसर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥६१॥ हृद्गाभिः पूयते विप्रःकण्ठगाभिस्तुभूमिपः । वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रःस्पृष्टाभिरन्ततः ॥६२॥

अर्थ—फेनरहित शीतल जल से पवित्र होने की इच्छा करने वाला धर्मज्ञ एकान्त में पूर्व या उत्तर मुख होकर आचमन करे ॥६१॥ (वह पूर्वोक्त आचमन जल) हृदय में पहुंचने से ब्राह्मण पवित्र होता है, कण्ठ में प्राप्त होने से क्षत्रिय, और मुख में पहुंचने से वैश्य, तथा स्पर्शमात्र से शूद्र पवित्र होता है ॥६२॥

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः । सव्ये प्राचीनआवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥६३॥ मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् । अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ६४

अर्थ—दक्षिण हाथ को बाहर निकालने (बायें के ऊपर जनेऊ कर लेने) पर द्विज "उपवीती" कहाता है । इस के विपरीत करने पर "प्राचीन आवीती" और जो जनेऊ, कण्ठ से लगा हो तब "निवीती" कहाता है ॥ ६३ ॥ मेखला और मृगचर्मादि तथा दण्ड, जनेऊ और कमण्डलु; इन को टूटे हुवों को पानी में डालकर और नवीन को मन्त्र पढ़ कर ग्रहण करे ॥ ६४ ॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते । राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥६५॥ "अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः । संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्" ६६

अर्थ—केशान्त संस्कार ब्राह्मण का सोलहवें वर्ष में करे और क्षत्रिय का २२ बाईसवें वर्ष में तथा उस से २ अधिक (२४ चौबीसवें वर्ष) में वैश्य का करे ॥ ६५ ॥ " यह (जातकर्मादि) संपूर्ण कार्य, उक्त काल और क्रम से शरीर के संस्कारार्थ स्त्रियोंके अमन्त्रक करे (अर्थात् स्त्रियों के इन संस्कारों में वेदोक्त मन्त्र न पढ़े ॥ ६६ ॥ "

"वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकःस्मृतः । पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥६७॥" एषप्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः । उत्पत्तिव्यञ्जकःपुण्यःकर्मयोगं निबोधत॥६८॥

अर्थ—" स्त्रियों की विवाहसम्बन्धी जो विधि है, वही केवल वेदोक्त कही है और पतिसेवा गुरुकुल वास, गृहकृत्यादि सायंप्रातर्होम है ।।" (६६ वें श्लोक का यह कहना तो ठीक है कि स्त्रियों के भी गर्भाधान से लेकर केशान्त संस्कार पर्यन्त सब संस्कार करने चाहियें, परन्तु इस के लिये किसी पृथक् विधान की आवश्यकता नहीं । क्योंकि तीनों वर्णों के जो जो संस्कार पूर्व कह आये हैं, वे २ सब कन्या और पुत्र दोनों ही के हैं । पुल्लिङ्ग निर्देश अविवक्षित है । अर्थात् वक्ता का तात्पर्य वर्णमात्र में है, चाहे कन्या हो, वा पुत्र । जैसे कोई कहे कि (योऽत्राऽऽगमिष्यति स मृत्युमाप्स्यति=जो यहां आवेगा वह मर जायगा) इस दशा में यद्यपि पुल्लिङ्ग का निर्देश है, परन्तु कहने वाले का तात्पर्य स्त्री पुरुष दोनों से है। अथवा वैद्यक शास्त्र में पुल्लिङ्ग करके निर्देश करते हुवे जो सामान्य विधि निषेध किये हैं, वे सब स्त्री पुरुष दोनों को समझे जाते हैं । ऐसे ही जो साधारण संस्कार हैं, वे सब स्त्री पुरुषों के एक से और एक ही विधिवाक्य से विहित समझने चाहियें । और कन्याओं के विवाह संस्कार को छोड़ कर अन्य संस्कार में वेदमन्त्र न पढ़ने का निषेध भी प्रक्षिप्त है। जहां तक हमने देखा और विचारा है, वहां तक वेदों में कहीं यह निषेध नहीं पाया जाता । इस लिये ६६ । ६७ श्लोक स्त्रीजाति के विद्वेषी अन्य मतों के संसर्ग से प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं । तथा ६५ वें श्लोक को ६८ वें श्लोक के साथ मिलाकर पढ़िये तो ठीक सम्बन्ध चला जाता है)।।६७।। यह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य की उपनयनसम्बन्धी विधि कही । यह विधि जन्म की जतलाने वाली और पवित्रकारक है (अब आगे) कर्त्तव्य को सुनो।।६८।।

उपनीय गुरुःशिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥६९॥अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः। ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः॥७०

अर्थ—गुरु उपनयन कराकर शिष्य को प्रथम शौच, आचार, सायं प्रातर्होम तथा संध्योपासन सिखावे ।। ६९ ।। पढ़ने वाले शिष्य को जो शास्त्रविधि से आचमन करके, हाथ जोड़ कर, उत्तर मुख हो, हलका वस्त्र पहिर, जितेन्द्रिय हो, पढ़ाना चाहिये ।। ७० ।।

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोःसदा।संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिःस्मृतः ॥७१॥ व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसं

ग्रहणं गुरोः। सव्येन सव्यः स्पृष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥७२॥

अर्थ—वेदाध्ययन के आरम्भ और समाप्ति के समय सदा गुरु के चरण छुवे और हाथ जोड़ के पढ़े। इसको ब्रह्माञ्जलि कहते हैं॥ ७१ ॥ अलग २ हाथ करके गुरु के पैर छुवे, दहिने से दहिना और बांवे से बांवां॥ ७२॥

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः। अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥७३॥ ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा। स्रवत्यनोंकृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति॥७४॥

अर्थ—आलस्यरहित गुरु सर्वदा पढ़ने वाले शिष्य के प्रति प्रथम पढ़ने के समय "अधीष्व भोः" अर्थात् 'हे शिष्य पढ़' ऐसे कहै। पश्चात् "विरामोऽस्त्विति" अर्थात् 'अब बस करो, ऐसे कहै, तब पढ़ना बन्द करे ॥७३॥ वेदके पढ़नेके प्रारम्भ में सदा प्रणव (ओ३म्) का उच्चारण करै, और अन्त में भी। यदि पूर्व में और अन्त में प्रणव का उच्चारण न करे तौ उस का पढ़ा हुआ धीरे धीरे नष्ट होजाता है॥ ७४ ॥

प्राक्कूलान् पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः। प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ॥७५॥ अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः। वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च ॥७६॥

अर्थ—पर्वाग्र दर्भों को बिछा कर उस पर बैठे और पवित्रों से मार्जनकर पवित्र हो कर, तीन वार प्राणायामों से पवित्र हो, ओंकार के उच्चारण करने योग्य होता है ॥७५॥ ब्रह्मा ने तीनों वेदों से अकार उकार मकार और भूर्भुवः स्वः यह तीन व्याहृति सार निकाली हैं ॥७६॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्। तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥७७॥ एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्। संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥७८॥

अर्थ—प्रजापति ब्रह्मा ने तीनों वेदों से (तत्सवितुः०) इस सावित्री ऋचा के एक एक पाद को दुहा है ॥७७॥ इस (ओंकाररूप) अक्षर और त्रिपादयुक्त सावित्री को, तीनों व्याहृतियों को पूर्व लगा कर, वेद का जानने वाला दोनों संध्याओं में जपता हुवा विप्र, वेद पढ़ने के फल को प्राप्त होता है ॥७८॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः । महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥७९॥ एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया । ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु॥८०॥

अर्थ—और इस त्रिक (अर्थात् प्रणव, व्याहृति, त्रिपादयुक्त गायत्री) को सहस्रवार (ग्राम के) बाहर (नदीतीर वा अरण्य में) एक मास जपने से द्विज महत्पाप से भी छूट जाता है । जैसे सर्प कंचुकी से (यह १ प्रायश्चित्त जानो प्रायश्चित्त से पाप छूटने पर एकादशाध्याय में व्याख्यान लिखेंगे) ॥७९॥ इस गायत्री जपसे रहित और सायंप्रातः स्वक्रिया (अर्थात् अग्निहोत्रादि)से रहित ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वर्ण, सज्जनों में निन्दा को पाता है ॥८०॥

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः। त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥८१॥योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतःखमूर्त्तिमान्८२

अर्थ—ओंकार से युक्त तीन अविनाशिनी महाव्याहृति और त्रिपदा गायत्री को वेद का मुख जानना (वेद के अध्ययन के पूर्व में पढ़ी जाती हैं और ब्रह्म जो परमात्मा, उस की प्राप्ति का हेतु हैं) ॥८१॥ जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यरहित हो कर तीन वर्ष पर्यन्त ओं, व्याहृति और गायत्री का जप करता है वह परब्रह्म को प्राप्त होता है, वायुवत् स्वतन्त्रचारी हो कर खमूर्त्तिमान्=शरीरबन्धन से रहित हो जाता है ॥८२॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामःपरं तपः। सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते॥८३॥ क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः । अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥८४॥

अर्थ—ओ३म् यह एक अक्षर परब्रह्म का वाचक है और प्राणायाम बड़ा तप है और गायत्री से श्रेष्ठ कोई मन्त्र नहीं, तथा मौन से सत्य भाषण श्रेष्ठ है ॥८३॥ सम्पूर्ण वेदविहित क्रिया(अर्थात्)यज्ञयागादि नाशवान् हैं, परन्तु कठिन से जानने योग्य प्रजापति ब्रह्मका प्रतिपादक ओ३म् अक्षर अविनाशी है८४

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टोदशभिर्गुणैः।उपांशुःस्याच्छतगुणः

साहस्रो मानसःस्मृतः ॥८५॥ ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः। सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८६॥

अर्थ—विधियज्ञ (वैश्वदेवादिकों) से जपयज्ञ दशगुण अधिक है और वही जप दूसरों के श्रवण में न आवे, ऐसा जप शतगुण अधिक है। और (जिह्वा के न हिलने से)केवल मन से जो जप किया जावे, वह सहस्रगुण अधिक कहा है ।।८५।। ये जो ४ पाकयज्ञ हैं (अर्थात् वैश्वदेव १ बलिकर्म २ नित्यश्राद्ध ३ अतिथिभोजन ४),यज्ञ (जो दर्शपौर्णमासादि)से युक्त, ये सब, जप यज्ञ के षोडश भाग को भी नहीं पाते (अर्थात् जपयज्ञ सब से श्रेष्ठ है) ।।८६।।

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥८७॥इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु। संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—ब्राह्मण जप करने ही से सिद्धि को प्राप्त होता है (अर्थात् मोक्ष प्राप्त होने के योग्य होता है) और अन्य (कुछ यागादि) करे अथवा न करे वह मैत्र (अर्थात् सर्वप्रिय) कहा है । इस में संशय नहीं।।८७।। अपहार करने के स्वभाव वाले विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों के संयम में विद्वान् यत्न करे। जैसे सारथि घोड़ों के रोकने में यत्न करता है ।।८८।।

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः। तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥८९॥श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी। पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता॥९०॥

अर्थ—पूर्व मुनियों ने जो एकादश ११ इन्द्रियों को कहा है,उन को क्रमशः ठीक २ अच्छे प्रकार मैं कहूंगा।। ८९ ।। कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और पांचवीं नाक। और गुदा, शिश्न, हस्त, पाद और १० वीं वाणी, कहीं ।।९०।।

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः। कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते॥९१॥एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्। यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतःपञ्चकौ गणौ॥९२॥

अर्थ—उन में श्रोत्रादिक, क्रमशः पांच बुद्धीन्द्रिय (अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय) हैं और इन में गुदा आदि पांच को कर्मेन्द्रिय कहते हैं।।९१।। एकादशवां

मन अपने गुण से दोनों (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों) को चलाने वाला है। जिस के वश्य होने से ये दोनों पांच २ के गण वश में हो जाते हैं॥९२॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यऽसंशयम्। सन्नियम्य तु तान्येव ततःसिद्धिं नियच्छति॥ ९३ ॥ न जातु कामःकामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों के साथ फंसने से निःसंदेह दोष की प्राप्ति होती है और उन्हीं के रोकने से फिर सिद्धि प्राप्त होती है॥ ९३ ॥ विषय भोगने की इच्छा,विषयों के भोग से कभी शान्त नहीं होती,जैसे घृत से अग्नि (कभी शमन नहीं होता किन्तु) अधिक ही बढ़ता है ॥ ९४ ॥

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत्। प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥९५॥ न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया। विषयेषुप्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः॥९६॥

अर्थ—जो इन सब विषयों को भोगे और जो इन को केवल छोड़ देवे, (उन में) संपूर्ण कामनाओं को भोगने से छोड़ना बढ़के है॥९५॥ये जो विषयासक्त इन्द्रिय हैं, इन को विषयों के सेवन विना भी, उस प्रकार नहीं जीत सकते, जैसे कि सर्वदा (विषयों के जो दोष हैं, उन के) ज्ञान से ॥९६॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसिच। न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥९७॥ श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा चयो नरः। न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयोजितेन्द्रियः॥९८॥

अर्थ—वेदाध्ययन, दान,यज्ञ, नियम और तप, ये; दुष्टभाव वाले को कभी सिद्ध नहीं होते ॥९७॥ जिस पुरुष को (निन्दा या स्तुति के) सुनने से और (कोमल वा कड़ी वस्तु के) स्पर्श करने से तथा (सुन्दर वा असुन्दर वस्तु के) देखने से और (अच्छे भोजन या सामान्य) भोजन से और (सुगन्ध वा अगन्ध पदार्थ के) सूंघने से हर्ष, विषाद न हो, उस को जितेन्द्रिय जानना ॥९८॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्। तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेःपात्रादिवोदकम् ॥९९॥ वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्त-

था। सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

अर्थ—संपूर्ण इन्द्रियों में यदि एक भी इन्द्रिय का (निग्रह न हो) विषय में झुकाव हो तो तत्त्वज्ञानी की बुद्धि उस से नष्ट होती है। जैसे दृति=मशक (फटे) पात्र से (उस का) पानी ॥९९॥ इन्द्रियों के गणों को स्वाधीन करके और मन का भी संयम करके युक्ति से शरीर को पीड़ा न देता हुआ, सम्पूर्ण अर्थों (पुरुषार्थचतुष्टय) को साधे ॥ १०० ॥

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात्। पश्चिमां तु समासीनःसम्यगृक्षविभावनात् ॥१०१॥ पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति। पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥१०२॥

अर्थ—प्रातःकाल की सन्ध्या, गायत्री का जप करता हुवा, सूर्यदर्शन होने तक स्थित होकर और सायंकाल की सन्ध्या को नक्षत्रदर्शन ठीकर होने तक बैठकर करे ॥ १०१ ॥ प्रातः सन्ध्या के जप से रात्रिभर की दुर्वासना का नाश होता है और सायं सन्ध्या से दिनभर की उत्पन्न दुर्वासना का नाश होता है ॥१०२॥

न तिष्ठति तु यःपूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद्बहिष्कार्यःसर्वस्माद्द्विजकर्मणः॥१०३॥ अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः। सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥ १०४॥

अर्थ—जो प्रातःकाल की सन्ध्या न करे और जो सायंकाल की भी न करे, वह सम्पूर्ण द्विजों के कर्मों से शूद्रवत् बहिष्कार्य है ॥ १०३ ॥ जल के समीप एकाग्र चित्त से अरण्य (वा एकान्त) में जा कर (सन्ध्या वन्दनादि) नित्यकर्म और गायत्री का जप भी करे ॥ १०४ ॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके। नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥१०५॥ नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्। ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥१०६॥

अर्थ—शिक्षादिकों के पढ़ने में और नित्य के स्वाध्याय और होममन्त्रों में अनध्याय के दिन भी मनाई नहीं है ॥१०५॥ नित्य के कर्म में अनध्याय नहीं है। उस को ब्रह्मयज्ञ कहा है। उस में ब्रह्माहुति का ही होम है और अनध्याय में भी वषट्कार (समाप्तिसूचक शब्द) किया जाता है ॥ १०६ ॥

थः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः । तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥१०७॥ अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम् । आसमावर्त्तनात्कुर्यात्कृतोपयनो द्विजः ॥१०८॥

अर्थ—जो पुरुष एकवर्ष पर्यन्त विधियुक्त स्वाध्याय नियमसे पवित्र होकर करता है, उसके लिये वह (स्वाध्याय) दूध दही घृत मधु को वर्षाता है ॥१०७॥ उपनयन किया हुआ द्विज, ब्रह्मचर्य व्रतको जबतक समावर्त्तन हो, इस प्रकार करेः—(समावर्तन उसको कहते हैं जो गुरुके घरमें संपूर्ण विद्या पढके घर जानेकी अवधि है) सायंप्रातर्होम करे, भिक्षा, भूमि पर सोना, तथा गुरु का हित, किया करे ॥१०८॥

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः । आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥१०९॥ नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः । जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥११०॥

अर्थ—आचार्यपुत्र, सेवक, ज्ञानान्तरदाता, धर्मात्मा, पवित्र, प्रामाणिक, ग्रहण=धारण शक्ति वाला, धन देने वाला, हितेच्छु और ज्ञाति; ये दश धर्म से पढ़ाने योग्य हैं (अर्थात् इन को पढ़ाना धर्म है) ॥१०९॥ बिना किसी के पूंछे न बोले और अन्याय से पूंछते हुवे से भी न बोले । किन्तु जान के भी बुद्धिमान्, उन लोगों में अनजान सा रहे ॥ ११० ॥

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति । तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥१११॥ धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा । तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥११२॥

अर्थ—क्योंकि जो अधर्म से उत्तर देता और जो अधर्म से पूंछता है, उन दोनों में एक मर जाता वा द्वेषी हो जाता है ॥१११॥ जिस (शिष्य के पढ़ाने) में धर्म और अर्थ न हों और वैसी गुरु में भक्ति भी न हो, उस को विद्या न पढ़ावे । जैसे अच्छा बीज ऊषर में न बोवे (बोने से कुछ उत्पन्न नहीं होता) ॥११२ ॥

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना । आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥११३॥ विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेस्मि रक्ष माम् । असूयकाय मां मादास्तथास्यां वीर्यवत्तमा ॥११४॥

अर्थ—चाहे विद्या के सहित मरना पड़े परन्तु वेदाध्यापक, घोर आपत्ति में भी अयोग्य शिष्य को विद्या न देवे ।।११३।। विद्या ब्राह्मण के पास आकर बोली कि मैं तेरी निधि हूं, मेरी रक्षा कर, असूयकादि दोष वाले पुरुष को मुझे मत दे । इस प्रकार करने से मैं बलवती होऊंगी ।।११४।।

यमेव तु शुचिं विद्यानियतब्रह्मचारिणम् । तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाऽप्रमादिने ॥११५॥ ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् । स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते॥११६॥

अर्थ—जिसको पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी जानो और जो निधि रूप मेरी रक्षा करने वाला हो, ऐसे प्रमादरहित विद्वान् को पढ़ाओ ।।११५।। और जो अन्य कोई पढ़ रहा हो, उससे बिना उस के पढाने वाले की आज्ञा के सीख लेवे, वह चोरी से युक्त नरक को प्राप्तहोता है (इस से ऐसा न करे) ।। जो आशय यहां मनु में ११४ ।११५ और ११६ का है, वही आशय निरुक्त २।३–४ से भी प्रमाणित होता है । यथा—

नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूयोपसन्नाय तु निर्ब्रूयाद्यो वाऽलं विज्ञातुं स्यान्मेधाविने तपस्विने वा ॥ ३ ॥ विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि । असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥ य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् । तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ॥ अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा । यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥ यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् । यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ इति, निधिः शेवधिरिति ।।४।।

भावार्थः—विद्या ने अध्यापक (ब्राह्मण) से कहा कि मेरी रक्षा कर, मैं तेरा (ख़ज़ाना)निधि हूं । चुगली करने वाले, क्रूर और ब्रह्मचर्यरहित को मेरा

उपदेश न कर, जिस से मैं बलवती रहूं ॥ जो सत्य से दोनों कान भरता है दुःख दूर करता और अमृत पिलाता है, उसे माता पिता करके मानना चाहिये, उस से कभी द्वेष न करना चाहिये ॥ जो पढ़ लिख कर बुद्धिमान् हो, अपने गुरु का मन वचन वा कर्म से आदर नहीं करते, वे जिस प्रकार गुरु के भोजनीय नहीं, इसी प्रकार उन का पढ़ना सुफल नहीं ॥ किन्तु हे ब्रह्मन् ! जिस को तू–शुद्ध, अप्रमादी, बुद्धिमान्, ब्रह्मचर्य मे युक्त समझे, और जो तुझ से कभी द्वेष न करे, उस निधि के रक्षक शिष्य को मेरा दान दे॥११६॥

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च। आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥११७॥ सावित्रीमात्रसारोपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः। नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥११८॥

अर्थ–जिससे लौकिक विद्या वा वेदविद्या तथा ब्रह्मविद्या पढ़े उस को (प्रतिष्ठितों के बीच बैठे हुए को) प्रथम नमस्कार करे (पश्चात् अन्यों को)॥११७॥ जो गायत्रीमात्र का जानने वाला और जितेन्द्रिय है, वह शिष्टों में मान्य है। और जो तीनों वेदों को भी पढ़ा हो परन्तु भक्ष्याभक्ष्य का विचार न रखता हो, तथा संपूर्ण वस्तुओं का विक्रय करता हो, वह अजितेन्द्रिय शिष्टों में माननीय नहीं है॥११८॥

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्। शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥११९॥ ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति। प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते १२०

अर्थ–जो शय्या वा आसन, विद्यादि से अधिक वा गुरु के स्वीकार किये हुये हों, उन पर आप बराबर न बैठे और गुरु आवे तो आप शय्या वा आसन पर बैठा हुआ भी उठ कर नमस्कार करे ॥ ११९ ॥ बड़ा आदमी घर आने पर छोटे आदमी के प्राण ऊपर को उभरने लगते हैं, वे उठ करके नमस्कारादि करने से (प्राण) स्वस्थता को प्राप्त होते हैं, (इस से अवश्य अपने से विद्यादिकों में अधिक होने वालों को उठकर नमस्कार करे) ॥ १२० ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥१२१॥ अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्। असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् १२२

अर्थ—जो प्रतिदिन वृद्धों की सेवा करता है और नमस्कार करने के स्वभाव वाला है, उस को चार वस्तु बढ़ती हैं; आयु विद्या यश और बल ।।१२१।। वृद्ध को नमस्कार करता हुआ विप्र, "मैं नमस्कार करता हूं" इस अभिवादन शब्द के अन्त में "अमुक नाम वाला हूं" यह कहे ।। १२२ ।।

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते। तान्प्राज्ञोहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥१२३॥ भोः शब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोभिवादने। नाम्नां स्वरूपभावोहि भोभाव ऋषिभिःस्मृतः १२४

अर्थ—जो कोई नामधेय के उच्चारण पूर्वक नमस्कार करना नहीं जानते, उनके प्रति बुद्धिमान् ऐसा कह दे कि "मैं नमस्कार करता हूं" और संपूर्ण मान्य स्त्रियों को भी ऐसा ही कहे॥१२३।। अभिवाद्य के नामों के स्वरूप में "भोः" यह सम्बोधन ऋषियों ने कहा है (अर्थात अपने से बड़े अभिवादनीय पुरुष का नाम न ले, किन्तु उस के नाम की जगह "भोः" शब्द कहे) ।।१२४।।

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोभिवादने । अकारश्चास्य नाम्नोन्ते वाच्यः पर्वाक्षरः प्लुतः ॥१२५॥ योन वेत्त्यभिवादस्य विप्रःप्रत्यभिवादनम्। नाभिवाद्यःस विदुषा यथा शूद्रस्तथैवसः१२६

अर्थ—नमस्कार करने पर "आयुष्मान् भव सौम्य" ऐसा ब्राह्मण से कहे। नमस्कार करने वाले के नाम के अन्त के व्यञ्जन (शर्मन् ! इत्यादि) से पूर्व अकार (वा किसी स्वर) को प्लुत करे (इस से उस का आदर होता है)।।१२५।। जो ब्राह्मण नमस्कार करने पर, क्या कहना चाहिये, इस को नहीं जानता वह ब्राह्मण शूद्रतुल्य नमस्कार करने के योग्य नहीं है ।।१२६।।

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्। वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च।।१२७॥ अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् । भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥१२८॥

अर्थ—(नमस्कार के अनन्तर) मिलाप होने पर ब्राह्मण से "कुशल" पूंछे, क्षत्रिय से "अनामय" वैश्य से "क्षेम" और शूद्र से "आरोग्य" ही पूंछे ।।१२७।। यदि दीक्षित कनिष्ठ (छोटा) भी हो तथापि उस का नाम लेकर न बोले। जो कुछ बोलना हो तो) धर्म का जानने वाला भोःदीक्षित! वा आप (भवान्) कहकर, बोले।।१२८।।

परपत्नी तु यास्त्री स्यादसंबन्धा चयोनितः । तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥१२९॥ मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् । असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥१३०॥

अर्थ—परस्त्री जो योनिसंबन्ध (रिश्ते) वाली न हो, उस को (बोलने के समय में) कहे कि भवति ! सुभगे ! भगिनि ! ॥ १२९ ॥ मातुल पितृव्य श्वशुर ऋत्विग् गुरु, यदि ये कनिष्ठ (छोटे) हों तो भी इन के आने पर उठ कर "असौ अहम्" ऐसा कहे (अर्थात् अपना नाम प्रकट करे) ॥ १३० ॥

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा। संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया॥१३१॥ भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि। विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसंबन्धियोषितः॥१३२॥

अर्थ—माता की भगिनी, या मामी, या सास, वा पितृभगिनी, ये संपूर्ण गुरुभार्या के तुल्य हैं,इस से इन का आदर सत्कार गुरुभार्यावत् करे ॥१३१॥ (ज्येष्ठ) भ्राता की सवर्णा भार्या से प्रतिदिन नमस्कारादि करे और ज्ञातिसंबन्धिनी जो स्त्री हैं (मातृपक्ष की मातुलानी इत्यादि और पितृपक्ष के पितृव्यादिकों की स्त्री) इन को परदेश से आने पर नमस्कार करे ॥ १३२ ॥

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि। मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥१३३॥ दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम्। त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥१३४॥

अर्थ—पितृभगिनी,मातृभगिनी और अपनी ज्येष्ठा भगिनी,इन का माता के समान आदर करे परन्तु माता इन से अधिकतर है ॥ १३३॥ एक पुरनिवासियों का दश वर्ष बड़ा होने तक सख्य(बराबरी)होता है और यदि संगीतादि कला के जानने वाले हों तो पांच वर्ष बड़ा होने तक सख्य(बराबरी)होता है और श्रोत्रियों में तीन वर्ष की ज्येष्ठता तक और अपने ज्ञातियों में थोड़े ही दिनों में सख्य (बराबरी) होता है ॥१३४॥

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्। पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोःपिता ॥ १३५ ॥ वित्तं बन्धुर्वयःकर्म विद्या भवति

पञ्चमी । एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ १३६ ॥

अर्थ—दश वर्ष का ब्राह्मण हो और सौ वर्ष का क्षत्रिय हो तो पिता पुत्र के समान जाने और ब्राह्मण उन में पिता के समान है ॥१३५॥ वित्त=न्यायोपार्जित द्रव्य, पितृव्यादि=बन्धु, श्रौत स्मार्तादिक कर्म, अवस्था और विद्या, ये पांच बड़ाई के स्थान हैं। इन में उत्तरोत्तर एक से एक अधिक है॥१३६॥

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च । यत्र स्युःसोत्र मानार्हः शूद्रोपि दशमीं गतः ॥१३७॥ चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः । स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयोवरस्य च ॥१३८॥

अर्थ—तीन वर्णों (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों) में पूर्वोक्त पांच गुणों में से जिस में जितने अधिक हों वह उतना अधिक माननीय है और शूद्र भी सौ वर्ष का हुआ माननीय है ॥ १३७ ॥ चक्रयुक्त रथादिकों पर सवार हुए और वृद्ध, रोगी, बोझ वाले, स्त्री, स्नातक, राजा और वर=जिस का विवाह हो, इन सब को मार्ग (रास्ता) छोड़ देवे ॥ १३८॥

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ। राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥१३९॥ उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥१४०॥

अर्थ—ये सब जहां इकट्ठे होवें, वहां राजा और स्नातक अधिक माननीय हैं। उन में भी राजा और स्नातक मिल जावें, तो राजा स्नातक को मान (रास्ता) देवे (स्नातक उस ब्रह्मचारी को कहते हैं कि जिसका समावर्तन होचुका हो) ॥१३९॥ जो ब्राह्मण, शिष्यका उपनयन करके कल्प और रहस्य के साथ वेद पढ़ावे, उस को "आचार्य" कहते हैं (कल्प=यज्ञविधि । रहस्य=उपनिषद्) ॥ १४० ॥

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः। योध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायःस उच्यते॥१४१॥ निषेकादीनि कर्माणि यःकरोति यथाविधि। संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥१४२॥

अर्थ—वेद के एक देश वा वेद के अङ्ग (ज्योतिष व्याकरणादि) वृत्ति के लिये जो पढ़ावे, उस को "उपाध्याय" कहते हैं ॥१४१॥ गर्भाधानादि विधि

शास्त्रोक्त कराता है वा अन्न से पोषण करता है, उस ब्राह्मण को "गुरु" कहते हैं।।१४२।।

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान्। यःकरोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते॥१४३॥य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ। स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन॥१४४॥

अर्थ-(आहवनीय अग्नि को उत्पन्न करके कर्म किया जाता है उस को) अन्याधेय (कहते हैं) और पाकयज्ञ (वैश्वदेवादि) और अग्निष्टोमादिक यज्ञों को वरणलेकर जो जिसे करावे उसको इस शास्त्र में उसका 'ऋत्विग्' कहते हैं ।। १४३ ।। जो ब्राह्मण सत्यविद्या वेद से दोनों कर्णों को भर देवे, वह माता पिता के तुल्य जानने योग्य है, इस लिये उस से कभी द्रोह न करे ।।१४४।।

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ।।१४५।।उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता। ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥१४६॥

अर्थ-दश १० उपाध्याय के तुल्य गौरव (बड़ाई) एक आचार्य में होती है और शत १०० आचार्य के समान पिता में गौरव होता है और पिता से सहस्रगुणित गौरव मातामें होताहै।।१४५।।उत्पन्न करने वाला और वेदका पढ़ाने वाला (ये दोनों पिता हैं)इन में ब्रह्म का देने वाला श्रेष्ठ है। क्योंकि ब्रह्मजन्म ही इस लोक तथा परलोक में शाश्वत है (मोक्ष फल का हेतु है) ॥१४६।।

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।संभूतिं तस्य तां विद्याद्योनावभिजायते॥१४७॥आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा॥१४८॥

अर्थ-माता और पिता तो कामवश हो कर भी इस बालक को उत्पन्न करते हैं इस से जिस योनि में वह जाता है, उसी प्रकार उस के हस्तपादादिक होजाते हैं (मोक्ष नहीं)।।१४७।।परन्तु सम्पूर्ण वेद का जानने वाला आचार्य इस बालक को विधिवत् गायत्री उपदेश द्वारा जो जाति उत्पन्न करता है, वह जाति सत्य है और अजर अमर है (क्योंकि उसी से शाश्वत ब्रह्म की प्राप्ति होती है) ।। १४८ ।।

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः। तमपीह गुरुं विद्या-च्छ्रुतोपक्रियया तया॥१४९॥ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता। बालोपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥१५०॥

अर्थ-जो (उपाध्याय) जिसको अल्प वा बहुत वेदाध्ययनादिक कराके उपकार करे, उस को भी इस लोक में पढ़ाई के उपकार करने से "गुरु" जाने ॥ १४९ ॥ ब्रह्म जो वेद उस के पढ़ाने से जन्म किया है जिस ने और स्वधर्म की शिक्षा करने वाला, ऐसा आयु से बालक भी विद्वान् पुरुष, आयु मात्र से वृद्ध मूर्ख का धर्म से पिता है ॥ १५० ॥

"अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः। पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥१५१ ॥ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः। देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥१५२॥"

"अर्थ-अङ्गिरस् मुनि के विद्वान् पुत्र ने अपने पितृव्यादिकों को पढ़ाया और अपने अधिक विद्या ज्ञान से उन को शिष्य जान कर-हे पुत्रकाः ! अर्थात् "लड़को!" ऐसा कहा ॥ १५१ ॥ वे क्रोध युक्त होकर देवताओं से "पुत्र" के शब्दार्थ को पूछने गये, देवताओं ने मिल कर उन से कहा कि उस लड़के ने तुम से ठीक कहा ॥"

(मनु के पश्चात् आङ्गिरस गोत्र कवि हुवा और उसको भी लिट्लकार परोक्ष बहुत पुराना करके इन श्लोकों में कहा होनेसे ये दोनों श्लोक नवीन हैं) ॥१५२॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः। अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥१५३॥न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योनूचानः स नो महान्॥१५४॥

अर्थ-अज्ञानी ही बालक है और मन्त्र का देने वाला पिता है। इस से अज्ञ को बालक और मन्त्रदाता को पिता कहते हैं ॥ १५३ ॥ न बहुत आयु से, न श्वेत बालों से, न द्रव्य से, न नाते में बड़ाई से बड़ाई है, किन्तु जो वेदाध्ययनपूर्वक धर्म का जानने और करने वाला है वही हम ऋषियों में बड़ा है, यह धर्मव्यवस्था ऋषियों ने की है ॥ १५४ ॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः । वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥१५५॥ न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः १५६

अर्थ—ब्राह्मणों का ज्ञान की अधिकता से ज्येष्ठत्व होता है और क्षत्रियों का पराक्रम से, तथा वैश्यों का धन धान्य की समृद्धि से और शूद्रों की जन्म से ही बड़ाई होती है ।।१५५।। शिर के केश श्वेत होने से वृद्ध नहीं होता, यदि युवा भी लिखा पढ़ा हो तो उस को देवता 'वृद्ध' जानते हैं ॥१५६॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः । यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥ १५७॥ यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला। यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥ १५८॥

अर्थ—जैसा काष्ठ का हाथी है और चमड़े का मृग और विना पढ़ा ब्राह्मण का पुत्र, ये तीनों नाममात्र को धारण करते हैं ॥ १५७ ॥ जैसा स्त्रियों में नपुंसक निष्फल और गौ, गौ में, तथा अज्ञानी में दान निष्फल है, वैसे ही वेदरहित ब्राह्मण निष्फल है ॥ १५८ ॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् । वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥ १५९ ॥ यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा । स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥ १६०॥

अर्थ—प्राणियों को श्रेय अर्थात् कल्याणरूपी अर्थ, अहिंसा ही (दुःख न देकरके) से उपदेश करे और वाणी मधुर और स्पष्ट कहे, धर्म की इच्छा करने वाला (क्रूर संभाषणादि न करे) ॥ १५९ ॥ जिस के वाणी और मन शुद्ध हैं और (क्रोध मिथ्या भाषणादिकों से) सदा सुरक्षित हों, वह वेदान्त के यथार्थ सब फल को प्राप्त होता है (अर्थात् मोक्ष लाभ करता है) ।।१६०॥

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः । ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥ १६१॥ संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव । अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १६२ ॥

अर्थ—दबाव पड़ने पर भी किसी के मर्मछेदन करने वाली बात न बोले ।

दूसरे के साथ द्रोह करने वाली बुद्धि न करे। और जिस वाणीसे दूसरा डरे, उस लोक की अहित करने वाली, ऐसी कोई बात न बोले ।।१६१।। ब्राह्मण सन्मान से सर्वदा (सुख को नहीं मानते) विषवत् डरे और सर्वदा अवमान की अमृतवत् इच्छा करे (अर्थात् मान अपमान से उन को दुःखादिक नहीं होवें) ।।१६२।।

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ।।१६३।। अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजःशनैः । गुरौ वसन् संचिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ।।१६४।।

अर्थ—दूसरे से अपमान किये होने पर भी खेद को न करता हुआ सुखपूर्वक शयन करता है और सुखपूर्वक जागता है। लोगों में सुखपूर्वक व्यवहार करता है और अपमान करने वाला (उस पाप से) नष्ट हो जाता है ।।१६३।। इस क्रम से (जातकर्म से उपनयन पर्यन्त) संस्कार किया हुआ द्विज, गुरु के समीप वास करता हुआ, वेद के ग्रहणार्थ तप सञ्चय करे ।। १६४ ।।

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः । वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना।।१६५।।वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।।१६६।।

अर्थ—विधिविहित विविध तपोविशेष (समयनियमादिक) और व्रतों (गुरुसेवा इत्यादिकों) से सम्पूर्ण वेद उपनिषदों के सहित, द्विजन्मा=ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को पढ़ना योग्य है ।। १६५ ।। तप करना हो तो ब्राह्मण वेद ही का सदा अभ्यास करे। वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का परम तप कहा है।।१६६।।

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः । यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्।।१६७।। योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।।१६८।।

अर्थ—जो द्विज पुष्पमाला को भी धारण करके (ब्रह्मचर्य समाप्त करके भी) प्रतिदिन यथाशक्ति वेदाध्ययन करता है वह निश्चय नख शिख तक परम तप करता है। (अर्थात् इस से अधिक कोई तप नहीं है) ।।१६७।। जो द्विज वेद को विना पढ़े अन्य में श्रम करे, वह जीता हुआ ही वंश के सहित शूद्रता को प्राप्त होता है ।।१६८।।

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने। तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात्॥ १६९॥ तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिन्हितम्। तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥ १७०॥

अर्थ—श्रुतिकी आज्ञा से द्विज के, प्रथम माता से जन्म, दूसरे मौञ्जीबन्ध, तीसरे यज्ञ की दीक्षा में, यह तीन जन्म होते हैं ॥१६९॥ उन पूर्वोक्त तीनों जन्मों में वेदग्रहणार्थ उपनयन संस्कार रूप जो जन्म है, उस जन्म में उस बालक की माता सावित्री और पिता आचार्य कहाते हैं ॥१७०॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते। न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात् ॥१७१॥ नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते। शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥

अर्थ—वेद के प्रदान से आचार्य को पिता कहते हैं। उस बालक की मौञ्जीबन्धन से पूर्व कोई (श्रौतस्मार्तादि रूप) क्रिया ठीक नहीं है ॥ १७१ ॥ (मौञ्जीबन्धन से पूर्व) वेद का उच्चारण न करावे, परन्तु मृतक संस्कार में वेदमन्त्रों का उच्चारण करे। जब तक वेद में जन्म नहीं हुआ, तबतक शूद्र के तुल्य है ॥१७२॥

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते। ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम्॥१७३॥यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला। यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥

अर्थ—क्योंकि इस बालक को (सायंप्रातःहोम करना और दिनमें न सोना इत्यादि) व्रत, और क्रमपूर्वक विधि से वेद का अध्ययन, उपनयन हुए को कहा है (इसलिये पूर्व न करे) ॥ १७३ ॥ जो जिसको चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड और वस्त्र; (उपनयन में) कहा है वही उसको व्रतों में जानो ॥ १७४ ॥

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्। सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः॥१७५॥ नित्यं स्नात्वा शुचिःकुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्। देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥१७६॥

अर्थ—ब्रह्मचारी गुरुके समीप रहकर इन्द्रियों का संयम करके अपने तपकी वृद्धि के लिये इन (जो आगे वर्णित हैं) व्रतों का अनुष्ठान करे॥१७५॥

प्रतिदिन स्नान करके पवित्र होके देव ऋषि पितृसंज्ञक पुरुषों का जलादि से तर्पण करे और समिधोंका आधान कर होम से देवतों का पूजन करे ॥१७६॥

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः। शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७॥ अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्। कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥१७८॥

अर्थ—इन वस्तुओं को छोड़ देवे—मधु, मांस, गन्ध, माल्य, अच्छे मधुरादि रस, स्त्री और (सिरका इत्यादि) जो सड़ी वस्तु हैं वे सब, प्राणियों की हिंसा ।।१७७॥ तैलादि का मर्दन, आंखों में अञ्जन, जूता पहरना, छत्र धारण, काम, क्रोध, लोभ, नाचना, गाना, बजाना ।। १७८ ॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्। स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१७९॥ एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्। कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १८० ॥

अर्थ—जूआ, झगड़ा, दूसरे की निन्दा, झूंठ, स्त्रियों के साथ देखना वा दिल्लगी करना और दूसरे का उपघात ।।१७९।। सर्वदा एकाकी शयन करे और इच्छा करके शुक्र (वीर्य) को न गिरावे और यदि इच्छा से शुक्र का पात करे तो अपने व्रत का नाश करता है ।। १८० ।।

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः। स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥१८१॥ उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान्। आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥

अर्थ—स्वप्न में द्विज ब्रह्मचारी का विना इच्छा के शुक्र गिर जावे, तो स्नान करके परमात्मा का पूजन करके, तीनबार "पुनर्मामेत्विन्द्रियम्" इस ऋचा को पढ़े ।। १८१ ।। पानी का घड़ा, पुष्प, गोबर, मट्टी, कुश; इन को जितना आवश्यक हो ले आवे और प्रतिदिन भिक्षा ले आवे ।। १८२ ।।

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु। ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥१८३॥ गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु। अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

अर्थ—वेद, यज्ञ से जो हीन नहीं है और अपने नित्यकर्म में प्रतिष्ठित हैं, ऐसों के घरों से ब्रह्मचारी प्रतिदिन नियम से भिक्षा ले आवे ॥१८३॥ गुरु और गुरु के जाति वाले, कुल, बन्धु; उन के कुल से भिक्षा न मांगे। यदि और जगह न मिले तो (उन में से) पहिले पहिलों को छोड़ देवे ॥१८४॥

सर्वं वापि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे। नियम्य प्रयतोवाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥१८५॥ दूरादाहृत्य समिधःसंनिदध्याद्विहायसि। सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥१८६॥

अर्थ—पूर्वोक्तों (वेदयज्ञसहितों) से कहीं न मिले तो चाहे और सब ग्राम से भिक्षा मांगे, परन्तु बहुत न बोल कर, उन में भी महापातकीआदि को छोड़ दे ॥१८५॥ दूर से समिधा लाकर ऊंचे पर रक्खे, आलस्य छोड़ के सायं प्रातः उन से अग्नि में होम किया करे ॥१८६॥

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्। अनातुरःसप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥ भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद् व्रती। भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥१८८॥

अर्थ—(यदि) विना रोगादि बाधा ब्रह्मचारी सात दिन भिक्षावृत्ति न करे और अग्नि में समिधों से सायं प्रातर्होम न करे तो (ब्रह्मचर्य व्रत नष्ट होता है) उस पर अवकीर्णिव्रत (११ अध्यायोक्त) प्रायश्चित्त करे ॥१८७॥ ब्रह्मचारी भिक्षा करके नित्य भोजन करे और एक का अन्न भोजन न करे (किन्तु बहुत घरों से भिक्षा मांग के भोजन करे) क्योंकि भिक्षासमूह से जो ब्रह्मचारी की वृत्ति है वह उपवास के तुल्य (मुनियों ने) कही है ॥

(१८८ के आगे ३० पुराने पुस्तकों में से क० ख० ज० ट० ठ० ह० ल० और च० चिह्न के पुस्तकों के टीका में मूल के स्थान में ये दो श्लोक अधिक पाये जाते हैं। शेष २२ पुस्तकों में नहीं। वे ये हैं:—

[न भैक्ष्यं परपाकः स्यान्न च भैक्ष्यं प्रतिग्रहः।
सोमपानसमं भैक्ष्यं तस्माद्भैक्ष्येण वर्त्तयेत् ॥
भैक्ष्यस्यागमशुद्धस्य प्रोक्षितस्य हुतस्य च।
यांस्तस्य ग्रसते ग्रासांस्ते तस्य क्रतुभिः समाः ॥

ये किसी ने भिक्षा की निन्दा वा ग्लानि देख कर बना दिये हैं। जिन का अर्थ यह है कि "भिक्षा का अन्न न तौ परपाक है, न प्रतिग्रह है, किन्तु सोमपान के तुल्य है, इसलिये भिक्षा के अन्न से वृत्ति करे। भिक्षा का अन्न शास्त्र से विहित शुद्ध,प्रोक्षित,हुत हो तौ उस के जितने ग्रास खाता है उतने यज्ञों का फल खाने वाले को होता है" ।। इस से भी जाना जाता है कि समय २ पर मनु में प्रक्षेप होता रहा है) ।।१८८।।

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत्। काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद्व्रतमस्य न लुप्यते ।।१८९।। ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः। राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ।।१९०।।

अर्थ-परन्तु देवतोद्देश (देवयज्ञसम्बन्धी ब्रह्मभोज) में निमन्त्रित ब्रह्मचारी व्रतवत् (एक के घर भी) चाहे भोजन करे, तौ उस का व्रत लुप्त नहीं होता। तथा श्राद्धादिकों में मुन्यन्नों के ऋषितुल्य भोजन करने से भी (व्रत नष्ट नहीं होता) ।।१८९।। परन्तु मनीषियों ने यह कर्म ब्राह्मण ब्रह्मचारी को कहा है, क्षत्रिय वैश्यों को यह कर्म ऐसा नहीं है ।।१९०।।

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ।।१९१।। शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च। नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ।।१९२।।

अर्थ-गुरु प्रतिदिन कहे वा न कहे, पढ़ने में तथा गुरु की हित सेवा में यत्न करे ।।१९१।। शरीर, वाणी,ज्ञानेन्द्रिय और मन का संयम कर,हाथ जोड़, गुरु का मुख देखता हुआ रहा (सामने) करे ।।१९२।।

नित्यमुद्धृतपाणिःस्यात्साध्वाचारःसुसंयतः। आस्यतामिति चोक्तःसन्नासीताभिमुखं गुरोः।।१९३।।हीनान्नवस्त्रवेषःस्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ। उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ।।१९४।।

अर्थ-निरन्तर ओढ़ने के वस्त्र से दक्षिण हाथ बाहर निकाले रहे और अच्छे आचार से युक्त "बैठो" ऐसा गुरु कहे तब गुरु के सम्मुख बैठे ।।१९३।। गुरु से हीन(घटिया)अन्न वस्त्र वेष हो। गुरु के पास सर्वदा रहे।गुरु से प्रथम जागे और गुरु के पश्चात् सोवे ।।१९४।।

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् । नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥ १९५ ॥ आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः। प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥१९६॥

अर्थ-आज्ञा का उत्तर या संभाषण, गुरु से, सोता हुवा या आसन पर बैठा हुआ या भोजन करता हुआ या और तरफ़ मुख करके खड़ा हुवा, न करे॥१९५॥ आसन पर बैठे हुवे गुरु आज्ञा देवें तो आप आसन से उठकर और गुरु खड़े हों तो आप समीप चलके और गुरु अपनी तरफ़ आवें तो आप भी उन की तरफ़ जाके और गुरु चलते२ बोलें तो आप उनके पीछे दौड़ता हुआ (संभाषणादि करे)॥१९६॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् । प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥१९७॥ नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ । गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्॥१९८॥

अर्थ-गुरु पीछे हों तो सम्मुख होकर और दूर हों तो निकट आकर और सोते हों तो नमस्कार करके और खड़े हों तो समीप होकर कहैं सो सुने॥१९७॥ गुरु के समीप इस का बिछौना वा आसन उनसे सदा नीचा हो और गुरु के सामने हाथ पैर पसार कर (बेअदबी के साथ) न रहै ॥१९८॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् । न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम्॥१९९॥ गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते । कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥२००॥

अर्थ-गुरु का केवल नाम परोक्ष में भी न लेवे और गुरु के चलने बोलने वा चेष्टा की नक़ल न करे ॥ (१९९ के पूर्वार्ध से आगे भी एक श्लोक मु० हनुमान्प्रसाद प्रयाग के पुस्तक में पाया जाता है कि-

[परोक्षं सत्कृपापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन ।
दुष्टानुचारी च गुरोरिह वाऽमुत्र चैत्यधः]

अर्थात्-गुरु का नाम परोक्ष में लेना हो तो "सत्कृपा" नाम से पूर्व लगाकर नाम लेवे, प्रत्यक्ष में सर्वथा नहीं। गुरु का दुष्टानुचारी शिष्य इस लोक और परलोक में नीचता को प्राप्त होता है॥ इस से भी पाया जाता

है कि मनु में श्लोक प्रायः मिलाये गये हैं। क्योंकि यह श्लोक शेष २९ पुस्तकों में नहीं पाया गया)॥ १९९॥ जहां पर कोई गुरु के दोष कहता हो वा निन्दा करता हो, वहां पर कान बंद कर लेवे या वहां से और जगह चला जावे॥२००॥

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः। परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी॥२०१॥ दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः। यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥२०२॥

अर्थ–गुरु के परिवाद के सुनने से (मर के) गधा होता है और निन्दा करने से (दूसरे जन्म में) कुत्ता होता है और गुरु के अनुचित द्रव्य का भोक्ता शिष्य कृमि होता है और मत्सरता करने वाला कीट होता है॥२०१॥ गुरु की दूर से पूजा न करे। क्रोधयुक्त हुआ भी न करे और जब गुरु अपनी स्त्री के पास बैठे हों तब भी। स्वयं यान आसन पर बैठा हुआ इन को उतर के नमस्कार करे ॥२०२॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह। असंश्रवे चैव गुरोर्न किञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥२०३॥ गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्रस्तरेषु कटेषु च। आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥ २०४ ॥

अर्थ–जब सम्मुख शिष्य की ओर से गुरु की ओर हवा आवे वह प्रतिवात है, ऐसी जगह गुरु के साथ न रहे और प्रतिवात=जहां गुरु का वायु अपने ऊपर आता हो वहां भी न रहे–(किन्तु दायें बांये रहे) और गुरु जो न सुन सकें तो कुछ न कहे ॥२०३॥ बैल घोड़े ऊंट, इनकी जोती हुई गाड़ी में और मकान की छत पर, पराल तथा चटाई पर और पत्थर पर या लकड़ी की बड़ी चौकियों या नाव पर; इतनी जगह गुरु के साथ शिष्य बैठ सकता है॥२०४॥

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्। न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥२०५॥ विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु। प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥

अर्थ–गुरु का गुरु समीप आवे, तो उससे भी गुरुवत् वर्त्ताव करे। (गुरु के घर में रहने वाला शिष्य) गुरु के विना कहे अपने गुरु (माता पिता आदि) को नमस्कार न करे ॥ २०५ ॥ विद्यागुरु (जो पूर्वोक्त उपाध्यायादिक उन) में। और पितृव्यादि लोग तथा जो अधर्म से रोकने वाले और हित के उपदेश करने वाले हैं, इन में भी यही वृत्ति रक्खे(आचार्यवत् भक्ति रक्खे

और नमस्कारादि प्रतिदिन विधि अनुकूल करे) ।। २०६ ।।

श्रेयःसु गुरुवद् वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् । गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥ बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि । अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥२०८॥

अर्थ—विद्या , तपसे अधिकों और आर्य गुरुपुत्रों तथा गुरु के बन्धुओं में नित्य गुरु के सी वृत्ति रक्खे ।।२०७।। छोटा हो वा समान आयु वाला हो, वा अपना पढ़ाया हुआ हो, यज्ञ में आय, ऋत्विग् हुआ हो, तब गुरुपुत्र पढ़ाता हुवा गुरु के समान पूजा पाने को योग्य है ।। २०८ ।।

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने । न कुर्याद् गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥ गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः । असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥२१०॥

अर्थ—शरीर मलना, न्हिलाना, उच्छिष्ट (शेष स्वच्छ) भोजन करना और पैर धोना ; इतनी बात गुरुपुत्र की न करे (अर्थात् यह गुरु ही का करना चाहिये) ।।२०९।। सवर्णा गुरु की स्त्रियों का गुरुवत् पूजन करे और सवर्णा न हों तो उठ कर नमस्कार करके ही उनका सत्कार करे, (विशेष न करे) ।। २१० ।।

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च । गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥ २११ ॥ गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः । पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता॥२१२॥

अर्थ—शरीर का तैलादिकों से मर्दन, उबटना लगाना, स्नान कराना, बाल फूलों से गूथना, या शरीर में चन्दनादिकों का लेपन करना; ये सेवा गुरुपत्नी की न करे ।। २११ ।। युवती गुरुपत्नी को पैर छूकर नमस्कार न करे (अर्थात् दूर से भूमि पर प्रणाम करे) जो पूर्ण २० वर्ष का गुण दोष का जानने वाला है (वह इस प्रकार नमस्कार करे) ॥२१२।।

स्वभावएष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ।।२१३।। अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः । प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ।। २१४ ।।

अर्थ—यह स्त्रियों का स्वभाव ही है कि पुरुषों को दोष लगा देना, इस से पण्डित, स्त्रियों में प्रमत्त नहीं होते हैं (बहुत विचारपूर्वक चलते हैं तथा बड़े सावधान रहते हैं) ॥ २१३ ॥ काम क्रोध के वश हुआ पुरुष विद्वान् वा मूर्ख हो, उसको बुरे मार्ग पर लेजाने को स्त्री बड़ी समर्थ होती है (इस से अपने को विद्वान् समझ के स्त्रियों के साथ न रहै) ॥ २१४ ॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥२१५॥ कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि । विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥२१६॥

अर्थ—मा या बहिन या लड़की के साथ भी एकान्त स्थान में न बैठे, क्योंकि अति बलवान् इन्द्रियों का गण, विद्वान् पुरुष को भी खींच सकता है ॥२१५॥ युवती गुरुपत्नी हों और आप भी युवा हो तो यथोक्तविधि से " अमुकशर्माहम्" यह कह कर (पैर विना छुये) पृथिवी पर नमस्कार कर ले ॥२१६॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्। गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥२१७॥ यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति । तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥२१८॥

अर्थ—प्रवास से आकर पादस्पर्श करके और प्रतिदिन सत्पुरुषों के धर्म को स्मरण करता हुआ गुरुपत्नियों को (विना पांव छुवे) नमस्कारमात्र करले ॥२१७॥ जैसे कोई पुरुष कुदाल (फावड़ा) से भूमि को खोदने से पानी को पाता है, वैसे ही गुरुकी विद्या को सेवा करने वाला पाता है ॥२१८॥

मुण्डो वा जटिलोवा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः । नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥२१९॥ तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः । निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥

अर्थ—मुण्डित अथवा शिखा वाला वा जटायुक्त, इन तीन प्रकार में से ब्रह्मचारी कोई प्रकार रक्खे । ग्राम में इस को कभी सूर्य अस्त वा उदित न हो ॥२१९॥ यदि ज्ञानपूर्वक शयन करते हुवे को सूर्य उदय वा अज्ञान से अस्त हो जावे तो दिन भर (गायत्री का) जप करके उपवास करे ॥२२०॥

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तःशयानोऽभ्युदितश्च यः। प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥२२१॥ आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः। शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि॥२२२॥ यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत् । तत्सर्वमाचरे‿.क्तो यत्र वास्य रमेन्मनः॥२२३॥धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एवच । अर्थएवेह वा श्रेयस्त्रिवर्गइति तु स्थितिः ॥२२४॥

अर्थ—और जो सूर्य के उदय वा अस्त के समय सो जाय और प्रायश्चित्त न करे तौ महापाप से युक्त होता है।।२२१॥आचमन करके प्रतिदिन एकाग्र चित्त होकर दोनों संध्याओं को पवित्र देश में यथाविधि जप करता हुवा उपासना करे ॥२२२॥जिस किसी धर्मका स्त्री वा शूद्र भी आचरण करता हो और उस में इसका चित्त लगे, उस को भी मन लगा कर करे।।२२३।धर्म अर्थ ये दो श्रेय कहाते हैं। कोई काम को भी श्रेय मानते हैं। और अन्योंका मत यह है कि अर्थ ही श्रेय है। (अपना मत मनु बताते हैं कि)तीनों पुरुषार्थ त्रिवर्ग श्रेय हैं।।२२४॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिःपिता मूर्त्तिःप्रजापतेः।माता पृथिव्यामूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥२२५॥ आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः। नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥२२६॥

अर्थ—आचार्य वेद की मूर्त्ति है और पिता ब्रह्मा की मूर्त्ति है, माता पृथिवी की और भ्राता आत्मा की मूर्त्ति है। (इस लिये किसी का अपमान न करे) ॥२२५॥ ब्राह्मण को विशेष करके चाहिये कि आचार्य पिता माता और ज्येष्ठ भ्राता, इन का अपमान स्वयं क्लेशित होने पर भी न करे।।२२६।।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्। न तस्य निष्कृतिःशक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥२२७॥ तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा। तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥२२८॥

अर्थ—मनुष्यों की उत्पत्ति समय में और पालनादि में जो क्लेश माता पिता सहते हैं, उस क्लेश का बदला सौ वर्ष में भी नहीं हो सकता ।।२२७।। माता पिता का नित्य प्रिय करे और गुरु का सर्वकाल में प्रिय करे। इन तीनों की ही प्रसन्नता होने पर संपूर्ण तप पूरा होता है ॥ २२८ ॥

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।न तैरभ्यननुज्ञातो धर्म-
मन्यं समाचरेत् ॥२२९॥ त एव हि त्रयो लोकास्तएव त्रय आ-
श्रमाः। तएव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥२३०॥

अर्थ—उन तीनों की शुश्रूषा परम तप कहाती है और कुछ धर्म उनकी आज्ञा के विना न करे ॥२२९॥ माता पिता और गुरु ही तीनों लोक हैं और वही तीनों आश्रम हैं और वही तीनों वेद हैं और वही तीनों अग्नि कहे हैं।॥२३०॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु
साग्नित्रेता गरीयसी ॥२३१॥ त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीँल्लोकान्वि-
जयेद् गृही। दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥२३२॥

अर्थ—(जिन में) पिता तो गार्हपत्याग्नि और माता दक्षिणाग्नि है और गुरु आह्वनीयाग्नि है, ये तीन अग्नि, प्रसिद्ध तीन अग्नियों से बड़े हैं।॥२३१॥ गृहस्थी इन तीनों के विषय में प्रमादको त्यागता हुआ(शुश्रूषा करे) तो मानो तीनों लोकोंको जीते और अपने शरीर से प्रकाशवान् हो, देवताओं के समान सुख में प्रसन्न रहे ॥ २३२ ॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्। गुरुशुश्रूषया त्वेवं
ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥२३३॥ सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आ-
दृताः। अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याऽफलाः क्रियाः ॥२३४॥

अर्थ—मानो माता की भक्ति करके इस लोक को जीतताहै और पिता की भक्ति करके मध्य (अन्तरिक्ष) लोक को, और गुरु की शुश्रूषा करके ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।॥२३३॥ जिस पुरुष के माता पिता और गुरु का सत्कार किया गया, उस को संपूर्ण धर्म फल देते हैं और जिस के इन तीनों का सत्कार नहीं होता, उस के(श्रौत और स्मार्त कर्म) सब निष्फल होतेहैं।॥२३४॥

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्। तेष्वेव नित्यं शुश्रू-
षां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥२३५॥ तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्य-
दाचरेत्। तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

अर्थ—इस कारण उन की प्रीति में परायण होता हुआ जब तक वे जीवें तबतक चाहे और कुछ न करे,किन्तु उन की नित्य शुश्रूषा करे।॥२३५॥ माता

पिता और गुरु की आज्ञा के अनुसार जो परलोक के निमित्त कर्म करे, सो मन वचन और कर्मों से उन ही के निवेदन करे ॥२३६॥

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते। एषधर्मःपरःसाक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥ श्रद्दधानःशुभां विद्यामाददीतावरादपि। अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥२३८॥

अर्थ–माता पिता और गुरु की शुश्रूषा से पुरुष के संपूर्ण (श्रौत और स्मार्त) कर्म पूरे होते हैं इस कारण यही साक्षात् परम धर्महै और अन्य उप धर्म हैं ।।२३७।। श्रद्धायुक्त होता हुवा उत्तम विद्या शूद्र से भी ग्रहण करले और चाण्डाल से भी मोक्ष का उपाय ग्रहण करले और स्त्रीरत्न अपने से नीचे कुल की भी (विवाह के निमित्त) अङ्गीकार करले ॥ २३८ ॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्। अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥२३९॥ स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्। विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥२४०॥

अर्थ–(विष और अमृत मिले होंय तौ) विषसे भी अमृत ग्रहण करले और बालक से भी हित वचन ग्रहण करले। शत्रु से भी अच्छा कर्म ग्रहण करले। अमेध्य में से भी सुवर्णादिक ग्रहण करले ।।२३९।। स्त्री,रत्न, विद्या,धर्म, शौच, अच्छे वचन और अनेक प्रकार की शिल्पविद्या सब से ग्रहण करले ॥२४०॥

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते। अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१॥ नाऽब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्। ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥२४२ ॥

अर्थ–आपत्ति समय में ब्राह्मण के विना (क्षत्री और वैश्य से) भी पढ़ना कहा है और आज्ञा में चलना और शुश्रूषा जब तक पढ़े तब तक करे ॥२४१॥ ब्राह्मण गुरु न होय तौ शिष्य सदा काल गुरुकुल निवास न करे। ब्राह्मण भी साङ्ग वेदों का पढ़ाने वाला न हो तौ मोक्ष की इच्छा करता हुवा शिष्य सदा गुरुकुल निवास न करे ॥ २४२ ॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोःकुले। युक्तःपरिचरेदेनमाश-

रीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥ आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् । स गच्छत्यञ्जसा विप्रः ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥२४४॥

अर्थ—जो गुरुकुल में सदा वास की रुचिही हो, तौ सावधानी से जब तक जीवे गुरु की शुश्रूषा करता रहै और (ब्रह्मचर्य में) युक्त रहै ॥२४३॥ जो शरीर समाप्त होने तक गुरुकी शुश्रूषा करे, वह ब्राह्मण शीघ्र को प्राप्त होता है ॥२४४॥

न पूर्वं गुरवे किंचिदुपकुर्वीत धर्मवित् । स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तःशक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥२४५॥ क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् । धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥२४६॥

अर्थ—धर्म का जानने वाला, स्नान के अतिरिक्त कोई वस्तु गुरु से पूर्व न वर्ते । गुरु की आज्ञा से यथाशक्ति गुरु के लिये जलादि ला देवे ॥२४५॥ पृथिवी, सुवर्ण, गौ, घोड़ा, छत्र, उपानह, आसन, अन्न, शाक और वस्त्र गुरु के निमित्त प्रीतिपूर्वक निवेदित करे ॥२४६॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते । गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥२४७॥ एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् । प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥

अर्थ—गुरु के मरे पीछे गुरु का पुत्र गुणों से युक्त हो और गुरु की स्त्री होवे और गुरु के सपिण्ड अर्थात् भ्रात्रादिक होवें, तौ उन को भी गुरु के तुल्य मानता रहै ॥२४७॥ और ये (गुरुपुत्र, गुरु की स्त्री और गुरु के पितृव्यादिक) न होवें तौ स्नानादिक और होमादिक करता हुवा अपने शरीर को साधे (ब्रह्म की प्राप्ति के योग्य करे) ॥२४८॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां) द्वितीयोऽध्यायः २

अर्थ—जो ब्राह्मण ऐसे अखण्डित ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्म को निश्चय प्राप्त होता है और फिर पृथिवी पर जन्म नहीं लेता ॥२४९॥

इति श्री तुलसीरामस्वामि-विरचिते मनुस्मृतिभाषानुवादे
द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

ओ३म्

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवैदिकं व्रतम् । तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥ वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् । अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥ २ ॥

अर्थ—गुरुकुल में (ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद ये) तीनों वेद छत्तीस वर्ष पर्यन्त पढ़े, अथवा अठारह वर्ष पर्यन्त पढ़े, वा नव वर्ष पर्यन्त पढ़े, अथवा जितने काल में पढ़ने की शक्ति होवे उतने ही काल तक पढ़े और ब्रह्मचर्य रक्खे ॥ १ ॥ क्रम से तीनों वेद, वा दो वेद, अथवा एक ही पढ़कर, ब्रह्मचर्य खण्डित न करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे ॥ २ ॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः । स्रग्विणं तल्पआसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥ गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि । उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥

अर्थ—और वह अपने धर्म के साथ पिता (आचार्य) से वेद रूपी दायभाग लाता हुआ, प्रतीत होवे तब (पिता) मालासे अलंकृत और शय्या पर स्थित हुवे को गोदान से पूजित करे ॥ ३ ॥ और गुरु की आज्ञा से यथाविधि स्नान और समावर्त्तन करके, द्विज अपने वर्णकी शुभलक्षणों से युक्त स्त्री से विवाह करे ॥ ४ ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः । सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥ महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः । स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

अर्थ—जो माता की सपिण्ड (अर्थात् सात पीढ़ी में) न होवे और पिता के गोत्र में न हो, ऐसी स्त्री ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को स्त्रीकर्म=मैथुन में श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥ गौ, बकरी, भेड़, द्रव्य और अन्न से बहुत समृद्ध कुल भी हों परन्तु इन आगे कहे (दोषयुक्त) कुलों की कन्या से विवाह न करेः— ॥ ६ ॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दोरोमशार्शसम्। क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥७॥ नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्। नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम्॥८॥

अर्थ-(वे कुल ये हैं) हीनक्रिय (अर्थात् जातकर्मादि रहित) १, पुरुषरहित २, वेदपाठरहित ३, बहुत बड़े बालों वाला ४, बवासीर युक्त ५, क्षयी व्याधि से युक्त ६, मन्दाग्नि ७, मिरगी ८, श्वेतकुष्ठी ९ और गलितकुष्ठी १० (इन दश कुलों को छोड़ देवे) ॥७॥ और कपिल बाल वाली, अधिक अङ्ग वाली रोगिणी, बे बालों वाली, बहुत बालों वाली, कठोर बोलने वाली और कांयरी आंखों वाली कन्याओं से विवाह न करे ॥८॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् । न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥ अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्। तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम्॥१०॥

अर्थ- नक्षत्र, वृक्ष, नदी, म्लेच्छ, पहाड़, पक्षी, सर्प, शूद्र आदि नामों और भयङ्कर नामों वाली से भी न करे ॥९॥ सुन्दर अङ्गवाली, अच्छे नामवाली हंस और गज के सदृश गमन वाली, पतले रोमाञ्चों, बालों और दांतों वाली और कोमल शरीर वाली स्त्री से विवाह करे ॥१०॥

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता। नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ ११ ॥ "सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि। कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः॥१२॥"

अर्थ-जिस के भाई न हो और जिस के पिता का पता न लगे, ज्ञानवान् पुरुष (जिस का प्रथम पुत्र अपने नाना की गोद धर्म से देना पड़े उस को पुत्रिका कहते हैं) "पुत्रिका" धर्म से डर कर उससे विवाह न करे ॥११॥ "ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों को स्त्री करने में, प्रथम विवाह अपने वर्ण की कन्या से श्रेष्ठ है और कामाधीन विवाह करे तो क्रमसे ये नीची भी श्रेष्ठ हैं ॥१२॥"

"शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते। ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥१३॥" न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्य-

पि हि तिष्ठतोः। कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते॥ १४॥

" अर्थ–शूद्र को शूद्र ही की कन्या से, और वैश्य को वैश्य की और शूद्र की कन्या से, और क्षत्रिय को शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय की कन्या से, और ब्राह्मण को शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण की कन्या से विवाह करलेना भी बुरा नहीं है ॥" (१२। १३ श्लोक स्वयं मनु के ही अगले १४।१५।१७। १८ और १९ वें श्लोकों से विरुद्ध हैं) ॥ १३ ॥ ब्राह्मण क्षत्रिय को आपत्काल में भी किसी दृष्टान्त में शूद्रा भार्या नहीं बताई गई है ॥ १४ ॥

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः। कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम्॥१५॥ "शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च। शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥१६॥"

अर्थ–ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, मोहवश अपने वर्ण से हीन वर्णस्थ स्त्री से विवाह करें तो सन्तान समेत अपने कुल को शूद्रता को प्राप्त करते हैं॥१५॥ "शूद्रा से विवाह करने से पतित होता है, ये अत्रि और उतथ्य के पुत्र का मत है। शूद्रा से सन्तान उत्पन्न करने से पतित होता है, यह शौनक का मत है। और उस सन्तान के सन्तान होने से पतित होवे, यह भृगु का वचन है"। (स्पष्ट है कि यह श्लोक मनु का नहीं है) ॥१६॥

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् । जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते॥१७॥दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु।नाश्नन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति॥१८॥

अर्थ–शूद्रा के शय्या पर आरोपण करने से ब्राह्मण नीच गति को प्राप्त होता है और उस से सन्तान उत्पन्न करके तो ब्राह्मणत्व से ही हीन हो जाता है ॥१७॥ और जिस ब्राह्मण ने शूद्रा स्त्री के प्रधानत्व से होम, श्राद्ध और अतिथिभोजन कराया चाहा है, उस का पितृ और देवतासंज्ञक पुरुष ग्रहण नहीं करते और वह पुरुष स्वर्ग को प्राप्त नहीं होता ॥१८॥

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च। तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते॥१९॥चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताऽहितान्। अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥२०॥

अर्थ—शूद्रा के मुख चुम्बन वाले पुरुष की और उस के मुह की भाफ लगने से हत पुरुष की और उस से उत्पन्न सन्तान की शुद्धि नहीं होती ॥१९॥ चारों वर्णों के, परलोक और इस लोक में, अच्छे, बुरे, आठ प्रकार के विवाहों को संक्षेप से सुनो ॥ २० ॥

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षःप्राजापत्यस्तथासुरः। गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥२१॥"यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ। तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणाऽगुणान्॥२२॥"

अर्थ—ब्राह्म १ दैव २ आर्ष ३ प्राजापत्य ४ आसुर ५ गान्धर्व ६ राक्षस ७ और आठवां ८ पैशाच अतिनिन्दित है ॥ २१ ॥ "जो (विवाह) जिस वर्ण को योग्य है, और जो गुण दोष जिस में हैं, सो तुम से कहता हूं और सन्तान के गुण दोष भी (कहता हूं) ॥ २२ ॥"

"षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान्। विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानऽराक्षसान् ॥२३॥ चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः। राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः॥२४॥"

"अर्थ—ब्राह्मण को क्रम से (ब्राह्म दैव आर्ष प्राजापत्य आसुर गान्धर्व ये) छः विवाह धर्म हैं, और क्षत्रिय के (आर्ष प्राजापत्य आसुर गान्धर्व ये) चार विवाह श्रेष्ठ हैं। वैश्य और शूद्र के भी ये ही (चारों) विवाह धर्मसम्बन्धी हैं, परन्तु किसी को भी राक्षस विवाह योग्य नहीं ॥२३॥ ब्राह्मण के (ब्राह्म दैव आर्ष प्राजापत्य ये) पहले चार विवाह उत्तम हैं । क्षत्रिय को राक्षस विवाह श्रेष्ठ है और वैश्य शूद्र को एक आसुर विवाह उत्तम है ॥२४॥"

"पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह । पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्त्तव्यौ कदाचन ॥२५॥पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ। गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ२६"

"अर्थ—पांच विवाहों में तीन धर्मसम्बन्धी हैं और दो अधर्मसम्बन्धी हैं । पैशाच और असुर कभी करने योग्य नहीं हैं॥२५॥पहिले कहे हुवे न्यारे न्यारे अथवा मिले हुवे गान्धर्व और राक्षस विवाह क्षत्रियों के धर्मसम्बन्धी कहे हैं ॥"(२२ । २३ । २४ । २५ । २६ श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। क्योंकि प्रथम

तौ २१ वें में जो ८ विवाह कहे हैं। उन के लक्षण क्रम से २७ वें से वर्णन किये गये हैं। इस लिये उन से ठीक सम्बन्ध मिल जाता है। दूसरे ये श्लोक स्वयं परस्पर विरुद्ध हैं। क्योंकि आगे ३९। ४०। ४१ वें श्लोकों में प्रथम के ब्राह्मादि विवाह उत्तम और पिछले ४ निन्दित बताये जायंगे और यही उन के लक्षणों से पाया जाता है। परन्तु उन के विरुद्ध यहां २३ वें में ब्राह्मण को छः विवाह धर्मयुक्त बतलाये हैं। २५ वें में पैशाच और आसुर को वर्जित किया है, २३ और २४ वें में उन्हें विहित बताया है। इत्यादि बहुत विरोध हैं, जो स्पष्ट हैं)।।२६।।

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्। आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्त्तितः ॥२७॥ यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते। अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते॥२८॥

अर्थ—विद्यायुक्त, शीलवान् वर को बुला कर (कन्या और वर को) वस्त्र तथा आभूषणादि से सत्कृत करके कन्यादान करने को ब्राह्मविवाह कहाते हैं ।।२७।। (ज्योतिष्टोमादि) यज्ञ में अच्छे प्रकार यज्ञ कराने वाले ऋत्विज् वर को आभूषण पहिरा कर कन्यादान करने को 'दैवविवाह, कहते हैं।।२८।।

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः। कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥२९॥सहोभौ चरतं धर्ममिति वाचानुभाष्य च। कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३० ॥

अर्थ—एक गौ और एक बैल अथवा दो गौ और दो बैल (यज्ञादिक के निमित्त अथवा कन्या को देने के निमित्त) वर से लेकर शास्त्र में कहे प्रकार से कन्यादान करने को 'आर्षविवाह, कहते हैं (आगे ५३ वें श्लोक में कहेंगे कि यह सब का मत नहीं है और बुरा है)।।२९।। "तुम दोनों साथ धर्म के आचरण करो" कन्यादान के समय यह प्रार्थना करके जो सत्कारपूर्वक कन्यादान किया जाता है, सो 'प्राजापत्यविवाह, है ।। ३०।।

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः। कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥३१॥इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः॥३२॥

अर्थ—वर के माता पिता आदि और कन्या को यथाशक्ति धन देकर जो

इच्छापूर्वक कन्या देना है, वह 'आसुरविवाह' कहा जाता है ॥ ३१ ॥ अपनी इच्छा से कन्या और वर का मिलाप मात्र होना, यह कामियों का मैथुन्य 'गान्धर्वविवाह' जानना चाहिये ॥३२॥

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् । प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते॥ ३ ३॥सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति । स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥३४॥

अर्थ—विनाश करके, हस्तपादादि पर चोट मार के, मकान आदि फोड़ के, गाली देती और रोती हुई कन्या को हठ से घर से लेजाना 'राक्षसविवाह' कहाता है ॥३३॥ सोती हुई और नशा पी हुई और, बेसुरत को, जहां मनुष्य न हों, विषय करके प्राप्त होना, वह पाप का मूल विवाहों में अधम ८ वां 'पैशाचविवाह' है॥३४॥

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते। इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया॥३५॥ "यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः । सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतो मम ॥३६॥"

अर्थ—ब्राह्मणों को जल से कन्यादान करना उचित है । और क्षत्रियादि वर्णों को परस्पर की इच्छा मात्र से कन्यादान होता है (जल का नियम नहीं है)॥३५॥ "इन विवाहों में जो गुण जिस विवाह का मनु ने कहा है, सो संपूर्ण २, हे ब्राह्मणो ! मुझ से सुनो," (यह भृगु ने ब्राह्मणों से कहा है)॥३६॥

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम् । ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितॄन् ॥३७॥ दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान्। आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन्षट् षट् कायोढजः सुतः॥ ३८॥

अर्थ—ब्राह्मविवाह की कन्या का पुत्र, जो अच्छे कर्म करने वाला होवे तो दश पीढी प्रथम (अर्थात् अपने जन्म से पहिली) और दश पीढी पर (अर्थात् पुत्रादिक) और अपने को इस प्रकार इक्कीसों को (अपयश रूपी) पाप से छुड़ाता है ॥ ३७ ॥ और दैवविवाह की स्त्री का पुत्र सात पीढी पहिली और सात पिछली तथा ऋषिविवाह की स्त्री का पुत्र तीन पीढी पहिली और तीन पिछली और प्राजापत्य विवाह की स्त्री का पुत्र छः पीढी पहिली और छः पीढी पिछली और अपने को (अपयश) पाप से छुड़ाता है ॥

(ये दो श्लोक ब्राह्मादि चार विवाहों की प्रशंसा के हैं। यथार्थ में जब किसी कुल में कोई धर्मात्मा प्रतिष्ठित पुरुष उत्पन्न होता है, तो अगले पिछलों के नाम पर कोई बट्टा भी लगा हो तो उस से दब जाता है। और उत्तम विवाह उत्तम सन्तान का हेतु है ही। इस लिये ब्राह्म आदि ४ विवाहों का न्यूनाधिक उत्तमत्व दिखाया गया है) ॥ ३८ ॥

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः।ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥३९॥ रूपसत्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः। पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ ४० ॥

अर्थ–ब्राह्मादिक चार विवाहों में ही क्रमसे ऐसे पुत्र होतेहैं जो ब्रह्मतेजस्वी और श्रेष्ठ मनुष्यों के प्यारे, ॥ ३९ ॥ रूपवान्, पराक्रमी, धनवान्, गुणवान् यशवाले, पुष्कल भोग वाले, धर्मात्मा और १००वर्ष की आयु वाले होते हैं।।४०।।

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥४१॥ अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा। निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥४२॥

अर्थ– शेष रहे दुष्ट विवाहों के सन्तान, निर्लज्ज और झूंठ बोलने वाले, ब्रह्मधर्मद्वेषी (अर्थात् यज्ञादि धर्मों के निन्दक) उत्पन्न होते हैं।।४१।। अच्छे स्त्रीविवाहों से अच्छी सन्तान और बुरे विवाहों की बुरी सन्तान मनुष्यों के होती है। इस कारण निन्दित विवाहों का त्याग करे ॥ ४२ ॥

"पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते। असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि॥४३॥शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया। वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥४४॥"

"अर्थ–पाणिग्रहण संस्कार, अपने वर्ण की स्त्री के साथ कहा है और अपने वर्ण से दूसरे वर्ण की स्त्रियों में विवाह कर्म में यह विधि जाननी चाहियेः–।।४३।। उत्तम वर्ण का पुरुष हीनवर्ण की कन्या से विवाह करे तो क्षत्री की कन्या को बाण का एक सिरा, और वैश्य की कन्या को सांटे का एक सिरा, और शूद्र की कन्या को कपड़े का एक सिरा पकड़ना चाहिये ॥"

(४३ । ४४ श्लोक में स्वयं ही कहते हैं कि यह पाणिग्रहण संस्कार नहीं है जो असवर्णा के साथ हो । और असवर्णा के साथ विवाह करना पूर्व श्लोक ४ के विरुद्ध होने से त्याज्य भी है) ।। ४४ ।।

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतःसदा । पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतोरतिकाम्यया ।।४५ ।। ऋतुःस्वाभाविकःस्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः । चतुर्भिरितरैःसार्धमहोभिःसद्विगर्हितैः ।।४६।।

अर्थ—अपनी स्त्री से (अमावास्यादि) पर्ववर्जित दिनों में, ऋतुकाल में (गर्भ रहने के काल में) प्रीतिपूर्वक संभोग करे ।।४५।। स्त्रियों की स्वाभाविक ऋतुकाल की १६ रात्रि हैं । जिन में चार दिन अच्छे मनुष्यों से निन्दित (रुधिर दीखने के) भी संमिलित हैं ।। ४६ ।।

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या । त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ।।४७ ।। युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु । तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ।।४८।।

अर्थ—उन में चार प्रथम की और एकादशी और त्रयोदशी ये छः रात्रि (स्त्रीभोग में) निषिद्ध हैं और शेष दश रात्रि श्रेष्ठ हैं ।। ४७ ।। (उन दशों में भी) युग्म (अर्थात् छठी आठवीं इत्यादि) में पुत्र उत्पन्न होते हैं और अयुग्म (अर्थात् सप्तमी आदि) रात्रियों में कन्या उत्पन्न होती हैं । इस कारण पुत्र की इच्छा वाला युग्म तिथियों में ऋतुकाल में स्त्री से भोग करे ।।४८।।

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः । समे पुमान्पुंस्त्रियोर्वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ।।४९।। निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् । ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ।।५०।।

अर्थ—पुरुष का वीर्य अधिक हो तो पुत्र,और स्त्री का वीर्य अधिक हो तो कन्या, जो दोनों का वीर्य बराबर हो तो नपुंसक (अथवा एक कन्या और एक पुत्र) उत्पन्न होवे । वीर्य क्षीण हो अथवा कम हो तो सन्तान नहीं होती ।।४९।। चार रात्रि ऋतु की, एकादशी,त्रयोदशी और दो पर्व की इन ८ रात्रियों को त्यागकर, शेष रात्रियों में जिस किसी भी आश्रम में रहता हुवा (स्त्रीसंभोग करे तोभी) ब्रह्मचारी ही है ।।५०।।

न कन्यायाःपिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि । गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥५१॥ स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः।नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥५२॥

अर्थ—कन्या का ज्ञानवान् पिता अल्प द्रव्य भी शुल्क=मूल्य ग्रहण न करे। यदि लोभ से करे तौ वह मनुष्य सन्तान का बेचने वाला हो ॥५१॥ स्त्रीधन (अर्थात् स्त्री को दिया हुवा धन) वा यान वा वस्त्र जो पति के बान्धव ग्रहण करते हैं, वे पापी नरक को प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् । अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥५३॥ यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः। अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम्॥ ५४ ॥

अर्थ—आर्षविवाह में गौ के जोड़ो का ग्रहण करना जो कोई कहते हैं सो मिथ्या है क्योंकि बहुत मूल्य ले चाहे थोड़ा, परंतु बेचना तो वही है ॥५३॥ जिन कन्याओं का द्रव्य पित्रादिक न लें,वह बेचना नहीं है, किन्तु कन्याओं का पूजन और केवल दया है ॥ ५४ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा । पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥५५॥यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥५६॥

अर्थ—अपनी भलाई चाहैं तौ पिता, भाई, पति और देवर भी (वस्त्र अलंकारादि से) इन का पूजन करें ॥ ५५ ॥ क्योंकि जिस कुल में स्त्रियें पूजी जाती हैं, वहां देवता रमते हैं और जहां इन का पूजन नहीं होता, वहां संपूर्ण कर्म (यज्ञादिक) निरर्थक होते हैं ॥ ५६ ॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् । नशोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥५७॥ जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः। तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥५८॥

अर्थ—जिस कुल में स्त्रियें (दुःखित हो) शोक करती हैं, वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त होता है। और जहां इन को शोक नहीं है, वह कुल सर्वदा

बढ़ता है ।। ५७ ।। जिन घरों को अपूजित होकर स्त्रियां शाप देती हैं, वे घर कृत्या (विषप्रयोगादि) के से मारे सब ओर से नाश को प्राप्त होते हैं ।।५८।।

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः । भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥५९॥ संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च । यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥६०॥

अर्थ—इसलिये ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले पुरुषों को भूषण और वस्त्रादिकों से अच्छे कामों में और विवाहादि में इन (स्त्रियों) का नित्य सत्कार रखना उचित है ।।५९।। और जिस कुल में नित्य स्त्री से पति और पति से स्त्री प्रसन्न रहती हैं, उस कुल में निश्चय कल्याण होता है ।। ६० ।।

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् । अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥६१॥ स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् । तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥६२॥

अर्थ—यदि स्त्री शोभित न हो तो पति को प्रसन्न न करसके और पुरुषके प्रसन्न न होने से सन्तान नहीं होती ।।६१।। स्त्री (वस्त्र आभूषण से) शोभित हो तो सम्पूर्ण कुल की शोभा है और उसके मलिन होने से संपूर्ण कुल मलिन है ।।६२।।

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च । कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥६३॥ शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः । गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥६४॥

अर्थ—खोटे विवाहों से, कर्म के लोप से और वेद के न पढ़ने से, कुल, नीचपन को प्राप्त हो जाते हैं और ब्राह्मणों की शुश्रूषा न करने से भी ।।६३।। शिल्प से, व्यवहार से, केवल शूद्रा स्त्री के सन्तानों से, गाय, घोड़े और सवारियों से, खेती और राजा की नौकरी से—।।६४।।

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् । कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥६५॥ मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि । कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ६६

अर्थ—और चाण्डालादिकों को यज्ञ कराने से तथा श्रौतस्मार्त कर्मों की अश्रद्धा से, वे कुल, जो वेद के पाठ से हीन हैं, इन कामों से शीघ्र ही नाश

को प्राप्त होते हैं ॥ ६५ ॥ और वेदों से समृद्ध कुल, चाहे अल्प धन वाले भी हों, परन्तु बड़े कुल की गिनती में गिने जाते हैं और बड़े यश को धारण करते हैं (अर्थात् कुल की प्रतिष्ठा वेदपाठ से है–न कि उच्च नौकरी, व्यापार, सवारी गौ आदि आडम्बर से) ॥ ६६ ॥

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि । पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥६७॥ पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः। कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥६८॥

अर्थ–विवाह की अग्नि में विधिपूर्वक गृह्योक्त कर्म (सायं प्रातः होमादिक) करे और पञ्चयज्ञान्तर्गत बलिवैश्वदेवादि और नित्य करने का पाक भी गृहस्थ (उसी में) करे ॥६७॥ ये पांच वस्तु गृहस्थ को हिंसा का मूल हैं–चूल्हा १ चक्की २ बुहारी ३ उलूखल, मुसल ४ जल का घड़ा ५। इन को अपने कार्यों में लाता हुआ (पाप से) बंध जाता है ॥६८॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः । पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥६९॥ अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥७०॥

अर्थ–गृहस्थों के प्रतिदिन उन पापोंके प्रायश्चित्त के लिये महर्षियों ने पांच महायज्ञ रचे हैं॥६९॥ ब्रह्मयज्ञ=पढ़ना पढ़ाना और पितृयज्ञ=तर्पण और देवयज्ञ=होम और भूतयज्ञ=भूतबलि और मनुष्ययज्ञ=अतिथिभोजन (ये ५ हैं)॥७०॥

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः । स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥ देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः । न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति॥७२॥

अर्थ–जो इन ५ महायज्ञोंको अपनी शक्ति भर न छोड़े, वह गृहमें वसता हुवा भी हिंसा के दोषों से लिप्त नहीं होता॥७१॥ देवता, अतिथि, भृत्य, माता पिता और आत्मा इन पांचोंको अन्न न दे तो जीवता हुआ भी मरे के तुल्य है॥७२॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च । ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते॥७३॥ जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको-

बलिः । ब्राह्मंहुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥७४॥

अर्थ—अहुत १ हुत २ प्रहुत ३ ब्राह्महुत ४ प्राशित ५ ये पांच दूसरे नाम पञ्चयज्ञों के मुनि लोग कहते हैं॥७३॥ अहुत=जप, हुत=होम, प्रहुत=भूतबलि, ब्राह्महुत=ब्राह्मण की पूजा, प्राशित=नित्य श्राद्ध ॥७४॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तःस्याद्दैवे चैवेह कर्मणि। दैवे कर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥७५॥ अग्नौ प्रास्ताहुतिःसम्यगादित्य-मुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततःप्रजाः ॥७६॥

अर्थ—वेदाध्ययन और अग्निहोत्र में सर्वदा युक्त रहे । जो दैव=होमकर्म में युक्त है, वह चराचर का पोषण करता है। क्योंकि—॥७५॥ अग्नि में डाली आहुति आदित्य को पहुंचती है और सूर्य से वृष्टि होती है और वृष्टि से अन्न, अन्न से प्रजा होती है ॥ (इस से जो अग्निहोत्र करता है वह संपूर्ण प्रजा का पालन करता है) ॥ ७६ ॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वआश्रमाः॥७७॥यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् । गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥७८॥

अर्थ-जैसे संपूर्ण जीव (प्राणादि) वायु को आश्रय करके जीतेहैं, वैसे गृहस्थ का आश्रय करके सब आश्रम चलते हैं ॥७७॥ जिस कारण तीनों आश्रम वालों का ज्ञान और अन्न से गृहस्थ ही धारण करताहै इससे गृहाश्रमी बड़ा है॥७८॥

स संधार्यःप्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता । सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥७९॥ ऋषयःपितरोदेवा भूतान्यतिथ-यस्तथा । आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यःकार्यं विजानता ॥८०॥

अर्थ-जो दुर्बल इन्द्रिय वालों से धारण नहीं किया जा सकता, वह (गृहस्थाश्रम) इस लोकमें सुखकी इच्छा करने वाले तथा अक्षय(मोक्ष सुख) की इच्छा करने वाले को प्रयत्न से धारण करना चाहिये ॥ ७९ ॥ क्योंकि ऋषि,पितर, देव, अन्य जीव, तथा अतिथि, ये सब कुटुम्बियों से आशा करतेहैं, इस लिये इन से काम पड़ता है, यह जानते हुवे को (५ यज्ञ करने चाहियें) ॥८०॥

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि । पितॄन्श्राद्धैश्च नॄ-

नन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥८१॥ कुर्यादहरहःश्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा। पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यःप्रीतिमावहन् ॥८२॥

अर्थ—स्वाध्याय से ऋषियों का पूजन करे, होम से देवताओं और श्राद्धों से पितरों, अन्न से मनुष्यों तथा बलि कर्म से अन्य भूतों को सत्कृत करे।।८१।।पितरों से प्रीति चाहने वाला अन्नाद्य,पय, मूल,फल, जलसे प्रतिदिन श्राद्ध करे।।८२॥

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके। न चैवात्राशयेत्किंचिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम्॥८३॥वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्। आभ्यःकुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥८४॥

अर्थ—पञ्चमहायज्ञ सम्बन्धी पितृयज्ञ निमित्त (साक्षात् पिता आदि न हों तो चाहे पितृत्व गुणयुक्त छान्दोग्य में कहे अनुसार २४ वर्ष ब्रह्मचर्य धारकरने वाला वसुसंज्ञक ब्रह्मचारी जिस को २८४ वें श्लोक में वसु और पितृ संज्ञा करेंगे उस प्रकार के)एक ब्राह्मण को भी भोजन करा देवे। परन्तु इस वैश्वदेव के स्थान में किसी को भोजन न करावे ।।८३।।गृह्य अग्नि में वैश्वदेव का जो अन्न सिद्ध हो उस से इन देवताओं के लिये ब्राह्मणादि प्रतिदिन होम करे:—।८४।

अग्नेःसोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः। विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरयएव च॥८५॥कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च। सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेन्ततः॥ ८६ ॥

अर्थ—(वे देवता ये हैं) अग्नये, सोमाय, इस से पहिले होम करे फिर दोनों का नाम मिलाकर,फिर विश्वेभ्योदेवेभ्यः और धन्वन्तरये, —।।८५।। और कुह्वै,अनुमत्यै,प्रजापतये, द्यावापृथिवीभ्याम् ,और अन्त में स्विष्टकृते(इन सब के साथ "स्वाहा" अन्त में लगाकर) होम करे ।।८६।।

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षुप्रदक्षिणम् । इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥८७॥ मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि।वनस्पतिभ्यइत्येवं मुशलोलूखले हरेत् ॥८८॥

अर्थ—उक्त प्रकार अच्छी विधि से होम करके, चारों दिशाओं में प्रदक्षिण क्रम से सानुग इन्द्र,यम, वरुण और सोम, इन के लिये बलि दे ।।८७।।

मरुद्भ्यः ऐसा कह कर द्वार में, अद्भ्यः ऐसा कहकर जल में, वनस्पतिभ्यःऐसा कहकर उलूखल मुसल में डाले ॥८८॥

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः।ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत्॥८९॥विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश-उत्क्षिपेत् । दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च ॥९०॥

अर्थ–वास्तु के शिरःप्रदेश छत में श्री के लिये,मकान के पैर=भूमि में भद्रकाली के लिये,ब्रह्मा और वास्तोष्पति के लिये घर के बीच में।।८९।।विश्वेदेवों के लिये आकाश में,दिवाचर प्राणी तथा रात्रिचरों के लिये भी आकाश में।।९०।।

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्॥९१॥

अर्थ–मकान के पीछे सर्वात्मभूति के लिये और शेष बलि पितरों को दक्षिण में देवे॥९१।।(८७ से ९१ तक ५ श्लोकों में वैश्वदेव बलि का विधान वा रीति है। वैश्वदेव शब्द विश्वेदेवाः से बना है, जिस का अर्थ यह है कि सब देवों वा प्राणी अप्राणी रूप जगत् के पदार्थों को अपने भोजन से भाग देना । क्योंकि श्लोक ८१ में इस का नाम भूतबलि कह आये हैं और श्लोक ६८ में गृहस्थ को ५ हिंसा लगना कह आये हैं कि चूल्हा चक्की आदि से काम लेते हुवे गृहस्थ पुरुष–कुछ न कुछ जगत् की हानि भी करता ही है, उसी के प्रायश्चित्तार्थ उस को सब जगत् के उपकाररूप वैश्वदेव बलि का विधान है । ८४ । ८५ । ८६ श्लोकों में आहुतियों का वर्णन है, वे आहुति उस २ देवता=दिव्य पदार्थ के उपकारार्थ दी जाती हैं, उस २ देवता (अग्नि, सोम आदि) में जो २ दिव्य सामर्थ्य है, वह २ दिव्य सामर्थ्य परमात्मा में सर्वोपरि है । इस लिये कोई आचार्य परमात्मा की प्रसन्नता के लिये इस होम को मानते हैं । और भिन्न २ देवता के पक्ष में१ अग्नि ।२सोम।३ अग्नीषोम । ४ विश्वेदेवाः=सब देवता । ५ धन्वन्तरि=रोगनिवारक । ६ कुहू=अमावास्या में चन्द्रोदय न होने से विशेष दिन में विशेष । ७ अनुमति=पौर्णिमा में भी उक्त रीति से। ८ प्रजापति=काम । ९ द्युलोक और भूमिलोक १० स्विष्टकृत् अग्नि । ये सब पदार्थ वायु के समान सर्वत्र फैले हुवे हैं और मनुष्यादि के शरीर भी इन्हीं से बने हैं और बाह्य जगत् में जब हवन से इन की उत्तम अवस्था रहती है तब शरीरस्थ देवता जो सूक्ष्म तत्त्व वा अंश हैं,वे भी भलेप्रकार आप्यायित

रहते हैं। जैसे बाहर का वायु शुद्ध पवित्र हो तो शरीरस्थ प्राणादि भी स्वस्थ रहते हैं। वैसे ही बाह्य जगत् के ये व्याप्त द्रव्य अच्छे रहें, तभी मनुष्य के भीतरी तत्त्व भी परिष्कृत रह सक्ते हैं। इस लिये इन मन्त्रों से होम का तात्पर्य उन २ द्रव्यों की हृष्टि पुष्टि शुद्धि आदि से है। और आगे जो बलि लिखी हैं उन २ को भी उस २ देवता=तत्त्व=वा द्रव्य की हृष्टि पुष्टि और शुद्धि को निमित्त मानकर (निमित्तार्थ में ही इन श्लोकों की सप्तमी विभक्ति है, न कि अधिकरण में, इस लिये द्वार आदि स्थानों में भाग रखना आवश्यक नहीं, किन्तु) पत्तल पर रख कर पीछे श्लोक ८४ के अनुसार गृह्य अग्नि चूल्हे से निकाल कर उसमें चढ़ादे। अब यह जानना शेष रहा कि इन २ इन्द्रादि का उस २ पूर्व दिशा आदि से क्या संबन्ध है? यद्यपि अपनी बुद्धि के अनुसार हम लिखते हैं और हम से पूर्वले टीकाकारों ने भी अपनी २ समझ के अनुसार लिखा है, परन्तु जितना हम लिखते हैं वा अन्यों ने लिखा है उस से पूरा २ सन्तोष न तो हम को है और न हम यह आशा करते हैं कि अन्यों को होगा। परन्तु हम इस सम्बन्ध को यह निश्चय विश्वास करते हैं कि यह आधुनिक कल्पना नहीं है किन्तु बहुत कुछ यह सम्बन्ध वेदों में भी देखा जाता है। उदाहरण के लिये सन्ध्या में मनसा परिक्रमा के मन्त्रों को देखिये जिन में पूर्वादि दिशों के साथ विशेष नाम एक प्रकार के क्रम से आये हैं। जो वेदों के अन्य मन्त्रों में भी उस क्रम से प्रायः पाये जाते हैं। इस लिये हम अनुमान करते हैं कि इन्द्र का पूर्व दिशा से, यम का दक्षिण से, वरुण का पश्चिम से, सोम का उत्तर से, वायु का द्वार में हो कर आने से द्वार से, जल का जल से साक्षात्, वनस्पति का (काष्ठमय वृक्षजन्य) मूसल उलूखल से, ऊपर का लक्ष्मी से, पृथ्वी का भद्रकाली पृथिवी से, वेदवेत्ता पुरोहितादि और गृहपति का गृहमध्य से, और सब सामान्य देवतों और दिन में तथा रात्रि में विचरने वाले सब प्राणियों का आकाश से कुछ न कुछ विशेष सम्बन्ध है। सर्वात्मभूति का पृष्ठ से, तथा पितरों का दक्षिण से भी॥ जैसे इन्द्र वरुण यमादि तत्त्वों के विशेष नाम हैं, वैसे ही यहां बलिवैश्वदेव में पितर पद का भी एक प्रकार के आकाशगत तत्त्वों से ही अभिप्राय है। माता पिता आदि गुरुजनों का तो पृथक् पितृयज्ञ विहित ही है॥ "वायुकोण में जल भरा घड़ा रखना, वहीं स्नानगृह और मोरी रखना, अग्निकोण में वनस्पति शाकादि ऊखली मूसल

आदि रखना, ईशान कोण में लक्ष्मी=धन,नैर्ऋत्य में स्त्री, पुरोहितादि वेद पाठियों वा वेदपाठ और गृहपति का मुख्यतः बीच में यज्ञशाला, विश्वेदेवाः से विशेषतः अग्नि वायु सूर्य का प्रायः आकाश,दिवाचर मक्खी आदि और रात्रिचर दंश मशकादि जो निकृष्ट मलिन कारण से उत्पन्न होते हैं, उन का अपने विरुद्ध शुद्ध धूम से ऊपर को उड़ने से आकाश, सब प्रकार के अन्नाद्य रखने का मकान के पृष्ठ भाग से सम्बन्ध रखना झलकता है,, इत्यादि विचार भी चिन्तनीय हैं। निदान यह, सर्वभूत बलि का तात्पर्य मात्र तौ (अहरहर्बलिमित्ते०) इत्यादि अथर्व १९ ।७। ७ और (पुनन्तु विश्वा भूतानि०) इत्यादि यजुः १९ । ३९ वेदमन्त्रों में भी पाया जाता है कि प्रतिदिन सब भूतों को बलि दे। परन्तु पूर्वादि दिशों के साथ का भेद और (सानुगायेन्द्राय नमः) इत्यादि मन्त्र, वेदमन्त्र नहीं हैं, किन्तु गृह्यसूत्रों और स्मृति के हैं। इस लिये यह कर्म स्मार्त्त वा गृह्य कहाता है और गृहस्थ का ही कर्त्तव्य है ।। हम लोग बहुत काल तक वेद शास्त्रादि में श्रद्धा रखते हुवे यदि यही तप करते चले जायंगे तौ आशा है कि भविष्यत् में इन सब का पूरा २ भेद जान पड़ेगा। और सब देवता कहाने वाले दिव्य पदार्थों में जो २ ऐसा गुण है,जिस से वह २ पदार्थ (देवो दानाद्वा०) इत्यादि निरुक्त के अनुसार देवता कहाता है, वह २ गुण परमात्मा में अवश्य अनन्त भाव से वर्त्तमान है। इस लिये उस २ देवता वाचक शब्द से परमात्मा का ग्रहण करना तौ निर्विवाद ही है) ॥९१॥

शुनां च पतितानां चश्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥९२॥

कुत्ते,पतित,चाण्डाल, पाप रोगी, कव्वे तथा कीड़े; इन को धीरे से भूमि पर डाले (जिस से मिट्टी न लगे) ॥९२॥

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति। सगच्छति परं स्थानं तेजोमूर्त्तिःपथर्जुना ॥९३॥ कृत्वैतद्बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् । भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥९४॥

अर्थ—इस प्रकार जो ब्राह्मणादि नित्य सब प्राणियों का सत्कार करता है वह सीधे मार्ग से ज्योति रूप परम धाम को प्राप्त होता है ॥९३॥ उक्त प्रकार से बलिकर्म करके अतिथि को प्रथम भोजन करावे और विधिवत् भिक्षा वाले ब्रह्मचारी को भिक्षा देवे ।। ९४ ।।

यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्वा विधिवद्गुरोः । तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्वा द्विजो गृही॥९५॥भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् । वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥९६॥

अर्थ–जिस पुण्य का फल, गुरु को गोदान करने से शिष्य पाता है,वही फल (ब्रह्मचारी को) भिक्षा देने से गृहस्थ पाता है।।९५।। भिक्षा वा जलपात्र विधिपूर्वक वेद के तत्त्वार्थ जानने वाले ब्राह्मण को सत्कार करके देवे ।।९६।।

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् । भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभिः ॥९७॥ विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु । निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥९८॥

अर्थ–जो ब्राह्मण भस्मीभूत हैं (अर्थात् जैसे अङ्गार में से अग्नि निकल कर निस्तेज भस्म रह जाता है, ऐसे ही ब्रह्मवर्चसादि हीन भस्मरूप कथन मात्र के ब्राह्मणों) को जो दाता लोग अज्ञान से दान करतेहैं, उन के दिये हव्य कव्य सब नष्ट होजाते हैं ।।९७।। इस लिये–विद्या और तप से समृद्ध विप्रों के मुखरूप अग्नि में हवन करना,कठिनाई और बड़े पाप से बचाता है ॥९८॥

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके । अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥९९॥शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः । सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥१००॥

अर्थ–आये हुवे अतिथि के लिये यथाशक्ति आसन,जल और अन्न सत्कृत करके देवे ।। ९९ ।। नित्य शिल (खेत में पीछे से रहे हुये जो अनाज के दाने उन को) बीन कर जीवन करने वाले और (आहवनीय,गार्हपत्य,दक्षिण,श्रौत, आवसथ्य) पांच अग्नि में होम करने वाले के भी उपार्जित सब पुण्य को विना पूजन किया हुआ अतिथि लेजाता है।। १०० ।।

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता । एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥१०१॥एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः । अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥१०२॥

अर्थ–(अन्न न हो तो) तृणासन और विश्राम के लिये मकान, जल

और चौथे अच्छा बोलना ; ये चार बातें सत्पुरुषों के कभी कम नहीं रहतीं ।।१०१।। एक रात्रि रहने वाला ब्राह्मण अतिथि होता है क्योंकि नित्य नहीं रहता इसी से अतिथि कहाता है ।। १०२ ।।

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा । उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा।।१०३।।उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ।।१०४।।

अर्थ-(उसी) एक ग्राम में रहने वाले और सहाध्यायी और भार्या तथा अग्नि से युक्त गृहस्थ में रहने वाले (वैश्वदेव काल में) उपस्थित ऐसे विप्र को अतिथि न जाने ।।१०३।। जो निर्बुद्धि गृहस्थ (भोजन के लालच से) दूसरे के अन्न का सहारा देखते हैं,उस से वे मरने पर अन्नादि देने वाले के पशु होते हैं ।।१०४।।

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना । काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसन् ।।१०५।। न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् । धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् १०६

अर्थ-सायंकाल में सूर्य के छिपने पर भोजनके समय अतिथि प्राप्त हो वा बे समय प्राप्त हो (अर्थात् भोजन हो चुका हो) तौ भी उस को भूखा घर में न रक्खे और गृहस्थ यह न कहे कि चले जावो ।।१०५।। जो वस्तु अतिथि को भोजनार्थ न दे,उसे आप भी भोजन न करे । यह अतिथिपूजन धन्य=धनहितार्थ, यश, आयु तथा स्वर्गका देनेवाला है ।।१०६।।

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ।।१०७।।वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत् । तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ।।१०८।।

अर्थ-आसन और जगह तथा शय्या और अनुव्रज्या (पेशवाई) तथा उपासना (अरदली) ये सब; उत्तमों को उत्तम और हीनों को हीन और समों को समानता से करे ।।१०७।। वैश्वदेव के होने पर यदि दूसरा अतिथि आजावे, तौ उसको भी यथाशक्ति अन्न देवे और बलिहरण=पूरी पत्तल चाहे न करे ।। १०८ ।।

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् । भोजनार्थं हि तेशंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः।।१०९।।न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे रा-

जन्य उच्यते । वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥११०॥

अर्थ—विप्र, भोजन के लिये अपना कुल गोत्र न कहे और जो भोजन के लिये उन्हें कहे, तो उस को विद्वान् लोग वान्ताशी=उगलन खाने वाला कहते हैं (क्योंकि वह टुकड़ों के लिये बड़ों का सहारा लेता है) ।। १०९ ।। ब्राह्मण के घर क्षत्रिय अतिथि नहीं होता और वैश्य, शूद्र, सखा और गुरु भी अतिथि नहीं समझने चाहिये ।।११०।।

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत् । भुक्तवत्सूक्तविप्रेषु कामं तमपि भोजयेत्॥१११॥वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेतिथिधर्मिणौ । भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२॥

अर्थ—यदि अतिथिधर्म से क्षत्रिय भी उक्त ब्राह्मणों के भोजन करते हुवे, गृह पर आजावे तो उस को भी चाहे भोजन करा देवे ।। १११ ।। और यदि वैश्य शूद्र भी अतिथि हो कर प्राप्त होवें तो कुटुम्ब वाला (ब्राह्मण) भृत्यों के सहित उन पर कृपा करता हुआ भोजन करादेवे ।।११२।।

इतरानपि सख्यादीन्संप्रीत्या गृहमागतान् । सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥११३॥ सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः । अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥११४॥

अर्थ—क्षत्रियादि के अतिरिक्त मित्रादि प्रीति करके घर आवें तो उन को भी यथाशक्ति सत्कार करके भार्या के सहित भोजन करावे।।११३।।सुवासिनी(अर्थात् जिन का अभी विवाह हुआ हो) और कुमारी और रोगी लोग तथा गर्भवती स्त्री, इन को अतिथि के पहले ही विना विचार भोजन करा देवे ।। ११४।।

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः। सभुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥११५॥ भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि । भुञ्जीयातां ततःपश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥

अर्थ—जो मूर्ख इन अतिथि आदिकों को विना दिये पहले भोजन करता है वह नहीं जानता है कि कुत्ते और गीधों से अपना भक्षण (मरण के अनन्तर) होगा ।। ११५ ।। ब्राह्मण और पोष्यवर्ग ये सब भोजन कर चुकें, पश्चात् बचे को (गृहस्थ) आप और स्त्री भोजन करें ।। ११६ ।।

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः। पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत्॥११७॥ अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥११८॥

अर्थ—देव, ऋषि, मनुष्य, पितर और घर के विश्वे देव, इन सब को सत्कृत करके पश्चात् गृहस्थ शेष अन्न का भोजन करने वाला हो ॥ ११७ ॥ जो केवल अपने लिये अन्न पकाता है, वह पाप खाता है और जो यज्ञादि से शेष भोजन है, वह सज्जनों का भोजन है ॥११८॥

राजर्त्विक्स्नातकगुरून्प्रियश्वशुरमातुलान्। अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात्पुनः ॥११९॥ राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ। मधुपर्केण संपूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः॥१२०॥

अर्थ—राजा, ऋत्विक्, स्नातक, गुरु, मित्र, ससुर, मामा; ये घर आवें तो इन का मधुपर्क से पूजन करे। एक साल के ऊपर फिर आवें तो फिर भी ॥ ११९ ॥ राजा और स्नातक यज्ञ कर्म में प्राप्त होवें, तो मधुपर्क से पूज्य हैं परन्तु विना यज्ञ के नहीं ॥ १२० ॥

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते ॥१२१॥

अर्थ—सायंकाल में रसोई होने पर स्त्री विना मन्त्र बलि करे। क्योंकि वैश्वदेव नाम यह कृत्य गृहस्थों को सायंप्रातः विधान किया है ॥१२१॥

"पितृयज्ञंतुनिर्वर्त्यविप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान्।
पिण्डान्वाहार्यकंश्राद्धंकुर्यान्मासानुमासिकम्॥१२२॥"

"अर्थ—अग्निहोत्री अमावास्या में पितृयज्ञ करके "पिण्डान्वाहार्यक" श्राद्ध प्रतिमास किया करे ॥"

(यहां श्लोक १२२ से श्लोक १६९ तक "मृतकश्राद्ध" का वर्णन है। हमारी सम्मति में यह सभी प्रकरण प्रक्षिप्त है। १७० में उत्तम व्रती ब्राह्मणादि की प्रशंसा और विरुद्धों की निन्दा का प्रकरण कहेंगे, जो मृत पितरों से सम्बद्ध नहीं है। इस लिये उस से १२१ वें श्लोक का ठीक सम्बन्ध मिल जाता है। इन श्लोकों को प्रक्षिप्त मानने के हेतु ये भी हैं—१—इन श्लोकों

के संस्कृत की शैली मनु के सी नहीं, किन्तु पुराणों के सी है । २-ये मासिक श्राद्ध का (जो अमावास्या में है) विधान है । जब नित्य श्राद्ध कह चुके तब अमावास्या भी आगई, इस लिये व्यर्थ है । ३-श्लोक १२३ में आमिष=मांस से इस का विधान है, जो देव ऋषि पितरों का भोजन नहीं, किन्तु "यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्" (मनु ११ । ९५) मद्यमांसादि यक्ष राक्षसादि का भोजन है। कोई लोग "आमिष" पद से "भोज्यवस्तु" का ग्रहण करते हैं और जीवतों का ही श्राद्ध वर्णित कहते हैं । परन्तु मेधातिथि आदि ६ टीकाकार आमिष= मांस ही लिखते हैं ४-और रामचन्द्र टीकाकार ने इस के आगे एक यह श्लोक और लिखकर व्याख्या की है कि-

न निर्वपति यः श्राद्धं प्रमीतपितृको द्विजः ।
इन्दुक्षये मासि मासि प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः ॥

अर्थात् जिस द्विज के माता पिता मर गये हों और प्रतिमास अमावास्या को श्राद्ध न करे वह प्रायश्चित्ती होताहै॥ इससे यह प्रकरण झलकता है कि मृतक श्राद्ध का ही है । यह श्लोक अन्य ५ टीकाकारों ने नहीं लिखा, न ३० पुस्तकों में से (ख) चिन्हयुक्त पुस्तक के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों में है । इस से पाया जाता है कि रामचन्द्र सब से पिछले टीकाकार हैं, उन्हीं के समय में यह मिला हुवा था, पूर्व ५ टीकाकारों के समय में नहीं था । १२५ वें श्लोक का फिर यह कहना कि जिन अन्नोंसे जैसे और जितने ब्राह्मण भोजन कराने हैं, उन्हें कहेंगे, व्यर्थ है । क्योंकि १२३ में मांस से जिमाना कह चुके हैं । ५-पितृ निमित्त में ब्राह्मणों की गिनती का विधान भी मृतकश्राद्ध का ही सूचक है।६-१२७वें में स्पष्ट ही इसे प्रेतकृत्य लिखा है । ७-१३६ वें में पण्डितके पुत्र मूर्ख ब्राह्मण की उत्तमता और मूर्ख के पुत्र विद्वान् की भी निन्दा अन्याय और पक्षपातपूर्ण है । ८-१४६ वें में एक ब्राह्मण के भोजन से ७ पुरुषाओं की असंभव तृप्ति वर्णित है । ९-१४९ वें में दैव कर्म में ब्राह्मण की परीक्षा न करना अन्याय है । १०-१५० वां श्लोक स्पष्ट मनु का नहीं, अन्यकृत है । ११-१५२ वें में मांस बेचने वाले ब्राह्मण को भोजन न कराना कहा है। इस से जाना जाताहै कि उस श्लोक के बनते समय ब्राह्मण मांस खाना क्या बेचने का भी पेशा करने लगे थे । १२-१५३ से १६७ तक जिन ब्राह्मणों को श्राद्ध में वर्जित किया है उन में बहुतों के ऐसे कर्म कहे हैं, जो श्राद्ध में ही क्या किसी भी कार्य में सत्कार योग्य नहीं, किन्तु राजदण्ड के योग्य हैं) ॥१२२॥

"पितॄणांमासिकंश्राद्धमन्वाहार्यंविदुर्बुधाः। तच्चामिषेणकर्तव्यं प्रशस्तेनसमंततः ॥१२३॥ तत्रयेभोजनीयाःस्युर्येचवर्ज्याद्विजोत्तमाः। यावन्तश्चैवयैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥१२४॥ द्वौदैवेपितृकार्येत्रीनेकैकमुभयत्रवा। भोजयेत्सुसमृद्धोऽपिन प्रसज्जेतविस्तरे ॥ १२५ ॥ सत्क्रियांदेशकालौचशौचंब्राह्मणसंपदः। पञ्चैतान्विस्तरोहन्तितस्मान्नेहेतविस्तरम् ॥१२६ ॥ प्रथिताप्रेतकृत्यैषापित्र्यंनामविधुक्षये। तस्मिन्युक्तस्यैतिनित्यं प्रेतकृत्येवलौकिकी ॥१२७॥ श्रोत्रियायैवदेयानिहव्यकव्यानि दातृभिः। अर्हत्तमायविप्रायतस्मैदत्तंमहाफलम् ॥ १२८ ॥ एकैकमपिविद्वांसंदैवेपित्र्येचभोजयेत्। पुष्कलंफलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान्बहूनपि॥१२९॥ दूरादेवपरीक्षेतब्राह्मणंवेदपारगम्। तीर्थंतद्धव्यकव्यानांप्रदानेसोऽतिथिःस्मृतः ॥ १३० ॥"

"अर्थ—पितरों के मासिक श्राद्ध को पण्डित अन्वाहार्य जानते हैं। उस श्राद्ध को श्राद्धविहित अच्छे मांस से यत्नपूर्वक करे ॥१२३॥ उस श्राद्ध में जो भोजन योग्य ब्राह्मण हैं और जो त्याज्य हैं और जितने और जिस अन्न से जिमाने चाहियें। यह संपूर्ण मैं आगे कहूंगा॥१२४॥ देवश्राद्ध में दो ब्राह्मण और पितृश्राद्ध में तीन ब्राह्मण वा देवश्राद्ध में और पितृश्राद्ध में एक २ को भोजन करावे। अच्छा समृद्ध यजमान भी विस्तार न करे ॥१२५॥ ब्राह्मण की अच्छी पूजा, देश, काल, पवित्रता और श्राद्धोक्त गुणवाले ब्राह्मण, इन पांचों को विस्तार नष्ट करता है। इस से विस्तार न करे ॥१२६॥ यह जो पितृकर्म है, यह प्रेतकृत्या विख्यात है। अमावास्या के दिन उस में युक्त पुरुष नित्य के लौकिक श्राद्धों के फल को प्राप्त होता है ॥ १२७ ॥ देने वाला श्रोत्रिय को ही हव्य और कव्य देवे और अधिक पूज्य को देवे, तो बड़ा फल है ॥१२८॥ देवकर्म में अर्थात् यज्ञादिक में और पितृकर्म अर्थात् श्राद्ध में एक ही एक ब्राह्मण को भोजन करावे तो भी बहुत फल को प्राप्त होता है और बहुत मूर्खों के जिमाने से नहीं ॥१२९॥ प्रथम ही से एक संपूर्ण वेद की शाखाओं के पढ़ने वाले की परीक्षा करलेवे, वह हव्यकव्यों का पात्र है, देने में वह अतिथि कहा है ॥ १३० ॥

"सहस्रंहिसहस्राणामनृचांयत्रभुञ्जते । एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतःसर्वानर्हतिधर्मतः॥१३१॥ज्ञानोत्कृष्टायदेयानिकव्यानि च हवींषिच । नहिहस्तावसृग्दिग्धौरुधिरेणैवशुद्ध्यतः ॥ १३२ ॥ यावतोग्रसतेग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्त्रवित् । तावतोग्रसतेप्रेत्य दीप्तान्शूलानयोगुडान् ॥ १३३॥ ज्ञाननिष्ठाद्विजाःकेचित्तपोनिष्ठास्तथापरे।तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्चकर्मनिष्ठास्तथापरे॥१३४॥ ज्ञाननिष्ठेषुकव्यानिप्रतिष्ठाप्यानियत्नतः।हव्यानितुयथान्यायं सर्वेष्वेवचतुर्ष्वपि॥१३५॥अश्रोत्रियःपितायस्यपुत्रःस्याद्वेदपारगः । अश्रोत्रियोवापुत्रःस्यात्पितास्याद्वेदपारगः॥ १३६ ॥ ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्यस्याच्छ्रोत्रियःपिता।मन्त्रसंपूजनार्थं तुसत्कारमितरोऽर्हति॥१३७॥नश्राद्धेभोजयेन्मित्रंधनैःकार्योस्य संग्रहः । नारिंनमित्रंयंविद्यात्तंश्राद्धेभोजयेद्द्विजम् ॥१३८॥ यस्यमित्रप्रधानानिश्राद्धानिचहवींषिच । तस्यप्रेत्यफलंनास्ति श्राद्धेषुचहविःषुच ॥१३९॥ यःसंगतानिकुरुतेमोहाच्छ्राद्धेनमानवः । सस्वर्गाच्च्यवतेलोकाच्छ्राद्धमित्रोद्विजाधमः ॥१४०॥ संभोजनीयाभिहितापैशाचीदक्षिणाद्विजैः।इहैवास्तेतुसालोके गौरन्धेवैकवेश्मनि॥ १४१ ॥यथेरिणेबीजमुप्त्वानवप्तालभते फलम् । तथाऽनृचेहविर्दत्वानदातालभतेफलम् ॥ १४२॥ दातॄन्प्रतिगृहीतॄंश्चकुरुतेफलभागिनः।विदुषेदक्षिणांदत्वाविधिवत्प्रेत्यचेहच॥१४३॥ कामंश्राद्धेर्चयेन्मित्रंनाभिरूपमपित्वरिम् । द्विषताहिहविर्भुक्तंभवतिप्रेत्यनिष्फलम् ॥ १४४ ॥ यत्नेनभोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचंवेदपारगम् । शाखान्तगमथाध्वर्युंछन्दोगंतुसमाप्तिकम्॥१४५॥ एषामन्यतमोयस्यभुञ्जीतश्राद्धमर्चितः।पितॄणांतस्यतृप्तिः स्याच्छाश्वतीसाप्तपौरुषी॥१४६॥"

"अर्थ–एक श्राद्ध में वेद के न जानने वाले दशलक्ष ब्राह्मण भोजन करते हों, और दूसरे में एक वेद का जानने वाला संतुष्ट हो तो वह १ उन सब के बराबर फल देता है।।१३१।। विद्या से उत्कृष्ट को हव्य और कव्य देना चाहिये। क्योंकि रक्त से भरे हुवे हाथों की रक्त ही से शुद्धि नहीं होती।।१३२।। वेद का न जानने वाला जितने ग्रास हव्य कव्य के खाता है उतने ही मरने पर जलते हुवे शूल और लोह के गोले खाता है* ॥ १३३ ॥ कोई ब्राह्मण आत्मज्ञान परायण होते हैं और दूसरे तपस्तत्पर होते हैं और कोई तप अध्ययनरत होते हैं और कोई यज्ञादि कर्म पर तत्पर होते हैं।।१३४।। उन में ज्ञाननिष्ठ को श्राद्धों से यत्नपूर्वक भोजन देवे और यज्ञों में क्रम से चारों को भोजन देवे।।१३५।। जिसका पिता वेद न पढ़ा हो और पुत्र वेद पढ़ा हो या जिस का पुत्र वेद न पढ़ा हो और पिता वेद जानने वाला हो।।१३६।। इन में श्रेष्ठ उस को जानो, जिस का पिता श्रोत्रिय होवे। परन्तु वेदपूजन को दूसरा योग्य है।।१३७।। श्राद्ध में मित्र को भोजन न करावे। धन से इस का सत्कार करे और जिस को न तो मित्र जाने न शत्रु जाने, ऐसे द्विज को श्राद्ध में भोजन करावे।।१३८।। जिस के श्राद्ध और हवि मुख्यतः मित्र खाते हैं, उस को पारलौकिक फल नहीं है। उस को न श्राद्ध का फल है, न यज्ञ का।१३९।। जो मनुष्य अज्ञान से श्राद्ध करके मित्रता करता है, वह अधम द्विज स्वर्गलोक से पतित होता है।।१४०॥ वह दानप्रक्रिया द्विजों ने पैशाची कही है कि जिस किसी के आप ने भोजन किया है, उसी को परस्पर जिमाना, यह इसी लोक में फल देने वाली है, जैसे अन्धी गौ एक ही घर में खड़ी रहती है (दूसरी जगह नहीं जाती)।।१४१।। जैसे ऊषर भूमि में बीज बोने से बोने वाला फल नहीं पाता, वैसे विना वेद पढ़े को हवि देकर देने वाला फल नहीं पाता।।१४२।। वेद जानने वाले ब्राह्मण को यथाशास्त्र दिया हुआ दान, दाता और प्रतिग्रहीता दोनों को अर्थात् देने और लेने वाले को इस लोक और परलोक में फल का भागी करता है।।१४३।। श्राद्ध में मित्र को चाहे बैठा देवे, यह श्रेष्ठ है, परन्तु शत्रु विद्वान् हो तौ भी उसे न बैठावे, क्योंकि जो द्वेषभाव से भक्षण किया हवि है, वह परलोक में निष्फल होता है।।१४४।। पूर्ण ऋग्वेदी को श्राद्ध में भोजन करावे, उसी प्रकार सशाख यजुर्वेदी और जो सम्पूर्ण सामवेद पढ़ा है और जिस ने वेदसमाप्ति की है, ऐसे ब्राह्मण को यत्नपूर्वक भोजन करावे।।१४५।। इन में से कोई ब्राह्मण अच्छी तरह पूजित किया हुआ जिस के श्राद्ध में भोजन करता है, उसके पितरों की निरन्तर सात पुरुष तक तृप्ति होती है।।१४६।।"

(* पाठकों को यह भी ज्ञात हो कि श्लोक १३३ के भाष्य में मेधातिथि जो अन्य पांचों भाष्यकारों से प्राचीन हैं, लिखते हैं कि:-

व्यासदर्शनात्तु भोजयितुरयं दोषः, न भोक्तुः । न पितृणाम् । न तावन्मृतानामन्यकृतेन प्रतिषेधातिक्रमेण दोषसम्बन्धोयुक्तः । अकृताभ्यागमादिदोषापत्तेः । यदि हि पुत्रेण तादृशो ब्राह्मणो भोजितः, कोऽपराधोमृतानाम् ? ननु चोपकारोऽपि पुत्रकृतः पितृणामनेन न्यायेन न प्राप्नोति? न प्राप्नुयाद्यदि तादर्थ्येन श्राद्धादि नोदितं स्यात्।इह तु नास्ति चोदना ॥ (इत्यादि)

अर्थात् व्यासस्मृति से तो भोजन कराने वाले को यह दोष है। न भोजन करने वाले और न पितरों को । क्योंकि मरों को अन्य के किये अपराध का फल ठीक नहीं है । ऐसा हो तो अकृताऽभ्यागम=विना कर्म किये फल भोगादि दोष प्राप्त होगा । क्योंकि पुत्र ने ऐसे ब्राह्मण को भोजन कराया, इस में मरे पितरों का क्या अपराध है ? तो फिर ऐसे न्याय से तो पुत्र का किया श्राद्ध रूप उपकार भी पितरों को न मिलना चाहिये ? हां, जो मरों के लिये विधान किया हो तो नहीं मिल सकता । परन्तु यहां तो मरों के लिये विधि नहीं है ॥ (इत्यादि)

" एषवैप्रथमःकल्पःप्रदानेहव्यकव्ययोः । अनुकल्पस्त्वयंज्ञेयः सदासद्भिरनुष्ठितः ॥१४७॥ मातामहंमातुलंचस्वस्रीयंश्वशुरं गुरुम् । दौहित्रंविट्पतिंबन्धुमृत्विग्याज्यौ चभोजयेत् ॥१४८॥ नब्राह्मणंपरीक्षेतदैवेकर्मणिधर्मवित् । पित्र्येकर्मणितुप्राप्तेपरीक्षेतप्रयत्नतः ॥१४९॥ येस्तेनपतितक्लीबायेचनास्तिकवृत्तयः । तान्हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान्मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥ जटिलं चानधीयानंदुर्बलंकितवंतथा । याजयन्तिचयेपूगांस्तांश्चश्राद्धेनभोजयेत् ॥१५१॥ चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा । विपणेनचजीवन्तोवर्ज्याःस्युर्हव्यकव्ययोः ॥१५२॥ प्रेष्योग्रामस्यराज्ञश्चकुनखीश्यावदन्तकः । प्रतिरोद्धागुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वार्धुषिस्तथा ॥१५३॥ यक्ष्मीचपशुपालश्चपरिवेत्ता

निराकृतिः। ब्रह्मद्विट्परिवित्तिश्चगणाभ्यन्तर एव च ॥१५४॥
कुशीलवोऽवकीर्णीचवृषलीपतिरेव च। पौनर्भवश्चकाणश्च य-
स्यचोपपतिर्गृहे॥१५५॥भृतकाध्यापकोयश्चभृतकाध्यापितस्त-
था। शूद्रशिष्योगुरुश्चैववाग्दुष्टःकुण्डगोलकौ ॥ १५६ ॥"

"अर्थ—हव्य और कव्य के देने में यह मुख्य कल्प कहा और इस के न होने में आगे जो कहते हैं उस को अनुकल्प जाने। वह साधुओं से सर्वदा अनुष्ठान किया गया है ॥ १४७ ॥ ये जो १० मातामहादिक हैं, इन को (पूर्वोक्त श्रोत्रियादि मुख्यों के न मिलने पर)भोजन करावे। नाना १ मामा २ भांजा ३ ससुर ४ गुरु ५ नाती ६ जंवाई ७ मौसी का लड़का ८ ऋत्विक् ९ तथा याज्य अर्थात् यज्ञ कराने योग्य १० ॥ १४८ ॥ यज्ञ में भोजन के लिये धर्म का जाननेवाला ब्राह्मण की परीक्षा न करे,और श्राद्ध में तो यत्नपूर्वक परीक्षा करे ॥ १४९ ॥ जो चोर और महापातकी और नपुंसक और नास्तिक वृत्ति वाले हैं, ये विप्र हव्य कव्य के अयोग्य हैं, ऐसा मनु कहते हैं ॥ १५० ॥ जटाधारी परन्तु बेपढ़ा, और दुर्बल, तथा जुवारी, और बहुत उद्यापन कराने वाला ; इन सब को श्राद्ध में भोजन न करावे ॥ १५१ ॥ वैद्य, पुजारी, और मांस का बेचने वाला, और वाणिज्य से जीने वाला, ये सब हव्य और कव्य में निषिद्ध हैं ॥१५२॥ ग्राम वा राजा का हलकारा, कुनखी, काले दांत वाला, और गुरु के प्रतिकूल चलने वाला, और अग्निहोत्र का छोड़ने वाला, और कुसीदजीवी, ॥१५३॥ क्षयरोगी, और वृत्ति के लिये गायभैंस बकरी इत्यादि का पोषण करने वाला, और परिवेत्ता, तथा नित्यकर्मानुष्ठान से रहित, और ब्राह्मणका द्वेष करने वाला, और परिवित्ति (देखो १७१), और समुदायके द्रव्य से अपना जीवन करने वाला, ॥१५४॥ कथा की वृत्ति करने वाला,और जिस का ब्रह्मचर्य नष्ट हुआ हो, और शूद्रा से विवाह करने वाला, और पुनर्विवाह का लड़का, और जिसकी स्त्री का जार हो,॥१५५॥तनखा लेकर पढ़ानेवाला, और उसी प्रकार पढ़ने वाला, और शूद्र जिस का शिष्य हो,और जिस का गुरु शूद्र हो, कटु बोलने वाला, कुण्ड, गोलक (देखो १७४) ॥ १५६ ॥"

"अकारणपरित्यक्तामातापित्रोर्गुरोस्तथा। ब्राह्मैर्यौनैश्चसंब-

न्धैःसंयोगंपतितैर्गतः॥ १५७॥ अगारदाहीगरदःकुण्डाशीसो-
मविक्रयी । समुद्रयायीबन्दीचतैलिकःकूटकारकः ॥१५८॥
पित्राविवदमानश्चकितवोमद्यपस्तथा । पापरोग्यभिशस्तश्च
दाम्भिकोरसविक्रयी ॥ १५९ ॥ धनुःशराणांकर्ताचयश्चाग्रेदि-
धिषूपतिः । मित्रध्रुग्द्यूतवृत्तिश्चपुत्राचार्यस्तथैवच ॥ १६० ॥
भ्रामरीगण्डमालीचश्वित्र्यथोपिशुनस्तथा । उन्मत्तोऽन्धश्च
वर्ज्याःस्युर्वेदनिन्दकएवच ॥१६१॥ हस्तिगोश्वोष्ट्रदमकोनक्ष-
त्रैर्यश्चजीवति। पक्षिणांपोषकोयश्चयुद्धाचार्यस्तथैवच॥१६२॥
स्रोतसांभेदकोयश्चतेषांचावरणेरतः । गृहसंवेशकोदूतोवृक्षारो-
पकएवच॥१६३॥श्वक्रीडीश्येनजीवीचकन्यादूषकएवच। हिंस्रो-
वृषलवृत्तिश्चगणानांचैवयाजकः ॥१६५॥ आचारहीनः क्लीबश्च
नित्यंयाचनकस्तथा । कृषिजीवीश्लीपदीच सद्भिर्निन्दितएवच
॥१६५॥ औरभ्रिकोमाहिषिकःपरपूर्वापतिस्तथा। प्रेतनिर्यात-
कश्चैववर्जनीयाःप्रयत्नतः ॥ १६६ ॥ एतान्विगर्हिताचारान-
पाङ्क्तेयान्द्विजाधमान् । द्विजातिप्रवरोविद्वानुभयत्रविवर्जयेत्
॥१६७॥ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिवशाम्यति।तस्मैहव्यं
नदातव्यंनहिभस्मनिहूयते ॥१६८॥ अपाङ्क्तदानेयोदातुर्भव-
त्यूर्ध्वंफलोदयः।दैवेहविषिपित्र्येवातत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥१६९॥"

"अर्थ–विना कारण माता पिता गुरु का त्यागने वाला, पतितों से अ-
ध्ययन और कन्यादानादि सम्बन्ध वाला ॥ १५७ ॥ घर का जलाने वाला,
विष देने वाला, कुण्ड का अन्न खाने वाला, और सोम बेचने वाला, जहाज
से समुद्र में बैठकर दूसरी वलायत जाने वाला, और राजा की स्तुति का
पाठ करने वाला, तेली, और झूंठा साक्षी ॥ १५८ ॥ पिता से लड़ने वाला,
और धूर्त,मद्य पीने वाला,और कुष्ठी, कलङ्की, तथा दम्भी,और रस का बेचने
वाला,॥१५९॥ धनुष्,बाण का बनाने वाला,और (बड़ी बहिन से पहले जिस

छोटी का विवाह होताहै वह अग्रेदिधिषू कहाती है) अग्रेदिधिषू का पति, और मित्रसे द्रोह करने वाला, जूवे का रोज़गार करने वाला, और पुत्र से पढ़ा हुआ ॥१६०॥ मिरगी वाला, और गण्डमाली और सफ़ेद कोढ़ वाला, चुगलख़ोर, और, उन्माद रोग वाला, तथा अन्धा, ये वर्जित हैं। और वेद की निन्दा करने वाला, ॥ १६१ ॥ हाथी बैल घोड़ा ऊंट इन को सीधा चलाना सिखाने वाला, ज्योतिषी, पक्षियों का पालने वाला, तथा युद्धविद्या का सिखाने वाला ॥१६२॥ नहर आदि को तोड़ने वाला और उस का बंद करने वाला, और गृह=वास्तुविद्या से जीविका करने वाला, और दूत, और वृक्षों का लगाने वाला, ॥ १६३ ॥ कुत्तों से खेलने वाला, बाज़ ख़रीदने बेचने वाला, और कन्या से गमन करने वाला, और हिंसा करने वाला, शूद्रवृत्ति वाला, और (विनायकादि) गणों की पूजा कराने वाला ॥ १६४॥ आचार से हीन, नपुंसक, रोज़ भीख मांगने वाला, खेती करने वाला और पीलिया रोग वाला, और जो सत्पुरुषों से निन्दित हो॥१६५॥ मैंढा और भैंस से जीने वाला, द्वितीया विवाहिता का पति, और प्रेत का धन लेने वाला ये (सब ब्राह्मण) यत्नपूर्वक (श्राद्ध में) वर्जनीय हैं ॥१६६॥ इन निन्दित आचार वाले और पङ्क्तिबाह्य अधमों को ब्राह्मणों में श्रेष्ठ विद्वान्, देव और पितृकर्मों में त्याग देवे ॥१६७॥ विना पढ़ा ब्राह्मण फूंस की अग्नि के समान ठंडा होजाता है। इस से उस ब्राह्मण को हवि न देवे, क्योंकि राख में होम नहीं किया जाता ॥ १६८ ॥ पङ्क्तिबाह्य ब्राह्मणों को देवताओं के हव्य और पितरों के कव्य देने में दाता को जो देने के ऊपर फल होता है, वह संपूर्ण मैं आगे कहूंगा ॥ १६९ ॥"

अव्रतैर्यद्द्विजैर्भुक्तं परिवेत्रादिभिस्तथा।
अपाङ्क्तेयैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥१७०॥

अर्थ—वेदव्रतरहित ब्राह्मण और (वक्ष्यमाण) परिवेत्ताआदि वा और कोई (चोर इत्यादि) पङ्क्तिबाह्योंने जो भोजन किया, उस को राक्षसभोजन कहतेहैं ॥१७०॥

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योग्रजे स्थिते। परीवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥१७१॥ परिवित्तिःपरीवेत्ता यया च परिविद्यते। सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥१७२॥

अर्थ—जो ज्येष्ठ भ्राता के रहते उस से प्रथम विवाह और अग्निहोत्र करे, उस को "परिवेत्ता" और ज्येष्ठ को "परिवित्ति" जानो ॥ १७१ ॥

परिवित्ति और परिवेत्ता और वह कन्या तथा कन्या का देने वाला और याजक=विवाह का आचार्य, ये पांचों सब नरक को जाते हैं ॥ १७२ ॥

भ्रातुर्मृतस्यभार्यायां योनुरज्येत कामतः । धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयोदिधिषूपतिः ॥१७३॥ परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ । पत्यौ जीवति कुण्डःस्यान्मृते भर्तरि गोलकः १७४

अर्थ—मरे भाई की भार्या से धर्म से नियोग भी किया हो परन्तु उस से जो कामवश होकर प्रीति करे, उसे दिधिषूपति जानो ॥१७३॥ परस्त्री में उत्पन्न हुए दो पुत्रों को कुण्ड और गोलक कहते हैं। पति के जीवते जो हो वह कुण्ड है और मरने पर जो हो वह गोलक है (१७० से यहां तक भी चिन्त्य हैं) ॥१७४॥

"तौतुजातौपरक्षेत्रेप्राणिनौप्रेत्यचेहच। दत्तानिहव्यकव्यानिनाशयेतेप्रदायिनाम्॥१७५॥अपङ्क्त्योयावतःपाङ्क्त्यान्भुञ्जानाननुपश्यति । तावतांनफलंप्रेत्यदाताप्राप्नोतिबालिशः॥१७६॥ वीक्ष्यान्धोनवतेःकाणःषष्टेःश्वित्रीशतस्यतु।पापरोगीसहस्रस्यदातुर्नाशयतेफलम्॥१७७॥यावतःसंस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्शूद्रयाजकः। तावतांनभवेद्दातुःफलंदानस्यपौर्तिकम् ॥ १७८ ॥ वेदविद्यापिविप्रोऽस्यलोभात्कृत्वाप्रतिग्रहम् । विनाशंव्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि॥१७९॥ सोमविक्रयिणेविष्ठाभिषजे पूयशोणितम् । नष्टंदेवलकेदत्तमप्रतिष्ठंतुवार्धुषौ ॥ १८० ॥"

"अर्थ—देने वाले के हव्य और कव्यों को इस लोक और परलोक में जो दूसरे के क्षेत्र में उत्पन्न हुवे हैं, नष्ट करते हैं ॥"

(श्लोक १७५ से फिर असंम्बद्ध परस्परविरुद्ध मृतकश्राद्ध के श्लोक चले हैं। १७६—१८२ तक में पङ्क्तिबाह्यों के भोजन करने का फल नष्ट कह कर १८३—१८६ तक पङ्क्तिपावन ब्राह्मण गिनाये हैं। जब कि पङ्क्तिपावन पङ्क्ति को पवित्र कर देता है तो श्लोक १७७ का यह कहना वृथा है कि अन्धा ब्राह्मण अपनी दृष्टि से ९० वेदपाठियों के जिमाने के फल को नष्ट करता है, काणा ६० के, श्वेतकुष्ठी १०० के, और पापरोगी १००० के फल को नष्ट

करता है। फिर भला पङ्क्तिपावनता क्या रही? अन्धे आदि ही बलवान् रहे। और अन्धा देख भी नहीं सक्ता, इस लिये भी १७७ वां श्लोक असम्भव दोषयुक्त है। १७९ वें में कहा है कि वेदज्ञ ब्राह्मण भी पङ्क्तिबाह्य के साथ लोभ से प्रतिग्रह ले तो नष्ट हो जाता है, और वेदज्ञ को १८४ वें में पङ्क्तिपावन कहा है। यह परस्परविरोध है। १८७ वें में १, २ वा ३ ब्राह्मण श्राद्ध में लिखे हैं और पूर्व भी विस्तार को वर्जित किया है तौ फिर ६० । ९० । १०० । १००० जब श्राद्ध में जिमाये ही नहीं जाते तब फलनाश किन का होगा? १८८ वें में श्राद्ध जिमाने और जीमने वालें को उस दिन वेद पढ़ने का निषेध भी चिन्तनीय है।१९४में विराट्का मनु, मनुके १० मरीच्यादि, उनके पुत्र पितर लिखे हैं। फिर मनुष्योंके मृत माता पिता आदि का उद्देश्य कहां रहा? १९५ से १९७ तक भिन्न २ जातियों के सोमसदादि भिन्न २ पितर कहे हैं, तब मनुष्य जातिको मनुका श्राद्ध व्यर्थ है। २०५ से २८३ तक मृतक श्राद्ध की विधि और उन मांसोंका वर्णन हैं जिनसे इन कल्पित पितरों को तृप्ति की कल्पना की गई है। सो जब मृतकश्राद्ध ही वेदविहित नहीं तब उसके विधानादि स्मृत्युक्त सभी निष्फल और दुष्फलहै और तृतीयाऽध्याय के अन्तिम श्लोक २८६ में कहा है कि "यह पञ्चमहायज्ञ का विधान वर्णन किया गया" इस से भी पायाजाता है कि बीच के २८३तक कहे मृतक पितरों के मासिकादि श्राद्ध प्रक्षिप्त हैं। क्योंकि पञ्चमहायज्ञ तौ गृहस्थ का नैत्यिक कर्म है, नैमित्तिक नहीं) ॥१७५॥

"पङ्क्ति के अयोग्य पुरुष अपाङ्क्त्य पूर्वोक्त स्तेनादि, जितने भोजन करते हुवे श्रोत्रियादिकों को श्राद्ध में देखते हैं, उतनों का फल भोजन कराने वाला मूर्ख नहीं पाता ॥ १७६ ॥ अन्धा देख कर दाता के ९० श्रोत्रियादि ब्राह्मणों के भोजन का फल नष्ट करता है और काणा साठ का, और सफेद कोढवाला सौका और पापरोगी हज़ार ब्राह्मणों के भोजन का फलनाश करता है ॥१७७॥ शूद्रका यज्ञ कराने वाला, अङ्गों से जितने श्राद्ध भोजन करने वालों को छुवे,उतनों के पूर्त्त सम्बन्धी श्राद्धका फल दाता को न होगा॥१७८॥ वेदका जानने वाला भी विप्र, शूद्रयाजकके साथ लोभ से प्रतिग्रह लेकर शीघ्र नष्ट होजाता है जैसेकच्चा बरतन पानी में नष्ट होजाताहै॥१७९॥ सोमविक्रयी को जो हव्य कव्य देवे तो विष्ठा होती है और वैद्य को देवे तो पीब रक्त होता है और पुजारी को देनेसे नष्ट होताहै तथा व्याजवृत्तिको देवे तो अप्रतिष्ठित होता है॥१८०॥"

"यत्तुवाणिजकेदत्तंनेहनामुत्रतद्भवेत् । भस्मनीवहुतंहव्यंतथा
पौनर्भवेद्विजे ॥ १८१॥ इतरेषुत्वपाङ्क्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु।
मेदोसृङ्मांसमज्जास्थिवदन्त्यन्नंमनीषिणः ॥ १८२॥ अपाङ्-
क्त्योपहतापङ्क्तिःपाव्यतेयैर्द्विजोत्तमैः । तान्निबोधतकार्त्स्न्येन
द्विजाग्र्यान्पङ्क्तिपावनान्।१८३।अग्र्याःसर्वेषुवेदेषुसर्वप्रव-
चनेषुच। श्रोत्रियान्वयजाश्चैवविज्ञेयाःपङ्क्तिपावनाः १८४
त्रिणाचिकेतःपञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णःषडङ्गवित्।ब्रह्मदेयात्मसंतानो
ज्येष्ठसामगएवच ॥१८५॥ वेदार्थवित्प्रवक्ताचब्रह्मचारीसह-
स्रदः । शतायुश्चैवविज्ञेयाब्राह्मणाःपङ्क्तिपावनाः ॥ १८६॥
पूर्वेद्युरपरेद्युर्वाश्राद्धकर्मण्युपस्थिते।निमन्त्रयेतत्र्यवरान्सम्य-
ग्विप्रान्यथोदितान्॥ १८७॥निमन्त्रितोद्विजःपित्र्येनियतात्मा
भवेत्सदा । नचछन्दांस्यधीयीतयस्यश्राद्धंचतद्भवेत् ॥१८८॥
निमन्त्रितान्हिपितरउपतिष्ठन्तितान्द्विजान्।वायुवच्चानुगच्छ-
न्तितथासीनानुपासते ॥१८९॥केतितस्तुयथान्यायंहव्यकव्ये
द्विजोत्तमः । कथंचिदप्यतिक्रामन्पापःसूकरतांव्रजेत्॥१९०॥
आमन्त्रितस्तुयःश्राद्धेवृषल्यासहमोदते।दातुर्यद्दुष्कृतंकिंचि-
त्तत्सर्वंप्रतिपद्यते ॥१९१॥ अक्रोधनाःशौचपराःसततंब्रह्मचा-
रिणः । न्यस्तशस्त्रामहाभागाःपितरःपूर्वदेवताः ॥ १९२ ॥
यस्मादुत्पत्तिरेतेषांसर्वेषामप्यशेषतः। येचयैरुपचर्याःस्युर्निय-
मैस्तान्निबोधत॥१९३॥ मनोर्हैरण्यगर्भस्ययेमरीच्यादयःसुताः।
तेषामृषीणांसर्वेषांपुत्राःपितृगणाःस्मृताः ॥ १९४ ॥"

"अर्थ—बनिये की वृत्ति करने वाले ब्राह्मण को देवे तो यहां तथा परलोकमें

कुछ फल नहीं,जैसे राख में घी जलाना वैसे पुनर्विवाह के लड़के को देवे तौ राख के होमवत् निषिद्ध है॥१८१॥ और इतर जो अपांक्त्य हैं उन को देने में मेद रक्त मांस मज्जा हड्डी होती हैं(अर्थात् जन्मान्तर में दाता उसी का खाने वाला होवेगा) ऐसा विद्वान् कहते हैं।।१८२।। असाधुओं से भ्रष्ट पङ्क्ति जिन द्विजोत्तमों से पवित्र होती है,उन पङ्क्तियों के पवित्र करने वाले सब द्विजश्रेष्ठों को सुनो।।१८३।।जो चारों वेद जानने वाले और वेद के संपूर्ण अङ्गों को जानने वाले तथा श्रोत्रिय,परंपरा से वेदाध्ययन जिन के होता है उन को पङ्क्तिपावन जाने।।१८४।। त्रिणाचिकेत कठोपनिषद् में कहे व्रत को कहते हैं उस का करने वाला त्रिणाचिकेत कहलाता है और पूर्वोक्त पञ्चाग्नि वाला,वैसे ही ऋग्वेद के ब्राह्मणोक्त व्रत करने वाला त्रिसुपर्ण कहलाता है और छः अङ्गों का जानने वाला और ब्राह्म विवाहिता स्त्री से उत्पन्न हुआ और साम के आरण्यक(में गान विशेष)का गाने वाला,इन को पङ्क्तिपावन जाने ।।१८५।।वेद के अर्थ को जानने वाला और उसी का पढ़ाने वाला और ब्रह्मचारी और सहस्र गोदान करने वाला और सौ वर्ष का, इन को भी पङ्क्ति के पवित्र करने वाले जाने ।।१८६ ।। श्राद्ध के प्रथम दिन वा उसी दिन यथोक्त गुण वाले ब्राह्मणों को सत्कारपूर्वक तीन वा न्यून को निमन्त्रण देवे ।।१८७।। श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण श्राद्ध के दिन नियम वाला होवे और वेदाध्ययन न करे,ऐसे ही श्राद्ध करने वाला भी।।१८८।। पितर, यथोक्त गुण वाले ब्राह्मणों के पास आते हैं और वायुतुल्य उन के पीछे चलते हैं, बैठों के पास बैठे रहते हैं।।१८९।।श्रेष्ठ ब्राह्मण हव्य कव्य में यथाशास्त्र निमन्त्रित किया हुआ निमन्त्रण स्वीकार करके फिर किसी प्रकार भोजन न करे तौ उस पाप से जन्मान्तर में सूकर होवेगा ।। १९० ।। जो ब्राह्मण श्राद्ध में निमन्त्रित हुआ शूद्रा स्त्री के साथ मैथुन करे वह श्राद्ध करने वाले के संपूर्ण पाप को पाता है ।। १९१ ।। क्रोधरहित और भीतर बाहर से पवित्र और निरन्तर जितेन्द्रिय और हथियार छोड़े हुवे और दयादि गुणों से युक्त पूर्वदेवता पितर हैं ।।१९२।। इन सब पितरों की जिस से उत्पत्ति है और जो पितर जिन नियमों से पूजित होते हैं, उन नियमों को संपूर्णतया सुनो ।।१९३।। स्वायम्भुव मनु के पुत्र मरीच्यादि हैं, और उन के पुत्रों को पितृगण कहा है ।।१९४।।"

"विराट्सुताःसोमसदःसाध्यानांपितरःस्मृताः।अग्निष्वात्ताश्च देवानांमारीचालोकविश्रुताः॥१९५॥ दैत्यदानवयक्षाणांगन्धर्वोरगरक्षसाम् । सुपर्णकिन्नराणांचस्मृताबर्हिषदोत्रिजाः ॥१९६॥ सोमपानाम्नविप्राणांक्षत्रियाणांहविर्भुजः।वैश्यानामाज्यपानाम शूद्राणांतुसुकालिनः॥१९७॥सोमपास्तुकवेःपुत्राहविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः।पुलस्त्यस्याज्यपाःपुत्रावसिष्ठस्यसुकालिनः॥१९८॥ अग्निदग्धानग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा । अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्चविप्राणामेवनिर्दिशेत्॥१९९॥यएतेतुगणामुख्याःपितॄणांपरिकीर्त्तिताः।तेषामपीहविज्ञेयंपुत्रपौत्रमनन्तकम्॥२००॥ ऋषिभ्यःपितरोजाताःपितृभ्योदेवमानवाः । देवेभ्यस्तुजगत् सर्वंचरस्थाण्वनुपूर्वशः ॥२०१॥ राजतैर्भाजनैरेषामथोवाराजतान्वितैः । वार्यपिश्रद्धयादत्तमक्षयायोपकल्पते ॥२०२॥ देवकार्याद्द्विजातीनांपितृकार्यंविशिष्यते। दैवंहिपितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनंश्रुतम् ॥ २०३॥ तेषामारक्षभूतंतुपूर्वंदैवंनियोजयेत् । रक्षांसिहिविलुम्पन्तिश्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥२०४ ॥ दैवाद्यन्तंतदीहेतपित्राद्यन्तंनतद्भवेत् । पित्राद्यन्तंत्वीहमानः क्षिप्रंनश्यतिसान्वयः ॥२० ५॥ शुचिंदेशंविविक्तंचगोमयेनोपलेपयेत् । दक्षिणाप्रवणंचैवप्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥ अवकाशेषुचोक्षेषुनदीतीरेषुचैवहि । विविक्तेषुचतुष्यन्तिदत्तेन पितरःसदा ॥२०७॥ आसनेषूपक्लृप्तेषुबर्हिष्मत्सुपृथक्पृथक् । उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥२०८॥ उपवेश्यतु तान्विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान् । गन्धमाल्यैःसुरभिभिरर्चयेद्देव-

पूर्वकम् ॥ २०९ ॥ तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि । अग्नौकुर्यादनुज्ञातोब्राह्मणोब्राह्मणैः सह ॥२१०॥"

"अर्थ—विराट् के पुत्र सोमसद् नाम वाले साध्यों के पितर कहे हैं। और मरीचि के पुत्र लोकप्रख्यात अग्निष्वात्त देवों के पितर कहे हैं ॥ १९५ ॥ बर्हिषद् नाम अत्रि के पुत्र; दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, सुपर्ण, और किन्नरों के पितर कहे हैं ॥ १९६ ॥ सोमपा नाम ब्राह्मणों के और क्षत्रियों के हविर्भुज् तथा वैश्यों के आज्यपा नाम और शूद्रों के सुकालिन् पितर कहे हैं ॥ १९७ ॥ भृगु के पुत्र सोमपा और अङ्गिरा के पुत्र हविष्मन्त और पुलस्त्य के पुत्र आज्यपा और वसिष्ठ के सुकालिन्; ये पितर इन ऋषियों से उत्पन्न हुवे ॥ १९८ ॥ अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद् और अग्निष्वात्त तथा सौम्यों को ब्राह्मणों के पितर कहा है ॥१९९॥ ये इतने तो पितरों के गण मुख्य कहे हैं,परन्तु इस जगत् में उनके पुत्र पौत्र अनन्त जानने ॥२००॥ ऋषियों से पितर हुवे और पितरों से देवता तथा मनुष्य हुवे और देवतों से ये संपूर्ण स्थावर जङ्गम क्रम से हुवे ॥२०१॥ चांदी के पात्रों से या चांदी लगे पात्रों से पितरों को श्रद्धा करके दिया पानी भी अक्षय सुख का हेतु होताहै ॥ २०२॥ (इन श्लोकों में पाया जाता है मरे हुवे पिता आदि पितर नहीं हैं) द्विजातियों को देव कार्य से पितृकार्य अधिक कहा है। क्योंकि देवकार्य पितृकार्य का पूर्वाङ्गतर्पण सुना है ॥ २०३ ॥ पितरों के रक्षा करने वाले देवताओं को श्राद्ध में प्रथम स्थापन करे,क्योंकि रक्षकरहित श्राद्ध को राक्षस नष्ट कर देते हैं ॥२०४॥श्राद्ध में प्रारम्भ और समाप्ति दोनों देवतापूर्वक करे,पित्रादि पूर्वक न करे। पित्रादिपूर्वक करने वाला शीघ्र वंशसहित नष्ट होजाताहै॥२०५॥ एकान्त और पवित्र देश को गोबर से लीपे और दक्षिण की ओर को नीची वेदी प्रयत्न से बनावे ॥ २०६ ॥ खुली जगह और पवित्र देश वा नदी के तीर पर या निर्जन देश में श्राद्ध करने से पितर प्रसन्न होते हैं ॥२०७॥ उस देशमें कुशा सहित अच्छे प्रकार अलग २ बिछाये हुवे आसनों पर स्नान आचमन किये हुवे निमन्त्रित ब्राह्मणों को बैठावे ॥ २०८ ॥ अनिन्दित ब्राह्मणों को आसन पर बैठा कर अच्छे सुगन्धित गन्धमाल्यों से देवपूर्वक पूजे (अर्थात् प्रथम देवस्थान के ब्राह्मणों को पूज कर पश्चात् पितृस्थानीय ब्राह्मणों की पूजा करे) ॥२०९॥ उन ब्राह्मणों का अर्घ्योदक पवित्री और तिलों से युक्त लाकर ब्राह्मणों के साथ श्राद्ध करने वाला ब्राह्मण होम करे ॥२१०॥"

"अग्नेःसोमयमाभ्यांचकृत्वाप्यायनमादितः।हविर्दानेनविधिवत्
पश्चात्संतर्पयेत्पितॄन्॥ ॥२११॥ अग्न्यभावेतुविप्रस्यपाणावेवोप-
पादयेत्। योह्यग्निःसद्विजोविप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते॥२१२॥अक्रो-
धनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान्पुरातनान्।लोकस्याप्यायनेयुक्तान्
श्राद्धदेवान्द्विजोत्तमान् ॥ २१३ ॥ अपसव्यमग्नौकृत्वासर्व-
मावृत्यविक्रमम् । अपसव्येनहस्तेननिर्वपेदुदकंभुवि॥२१४॥
त्रींस्तुतस्माद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वासमाहितः।औदकेनैवविधि-
नानिर्वपेद्दक्षिणामुखः॥२१५॥ न्युप्यपिण्डांस्ततस्तांस्तुप्रयतो
विधिपूर्वकम्।तेषुदर्भेषुतंहस्तंनिमृज्याल्लेपभागिनाम्॥२१६॥
आचम्योदक्परावृत्यत्रिरायम्यशनैरसून् । षड्ऋतूंश्चनमस्कु-
र्यात्पितॄनेवचमन्त्रवित् ॥२१७॥ उदकंनिनयेच्छेषंशनैःपिण्डा-
न्तिकेपुनः। अवजिघ्रेच्चतान्पिडान्यथान्युप्तान्समाहितः॥२१८॥
पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकांमात्रांसमादायानुपूर्वशः । तेनैवविप्राना-
सीनान्विधिवत्पूर्वमाशयेत् ॥२१९ ॥ ध्रियमाणेतुपितरिपूर्वे-
षामेवनिर्वपेत् । विप्रवद्वापितंश्राद्धेस्वकंपितरमाशयेत्॥२२०॥
पितायस्यनिवृत्तःस्याज्जीवेच्चापिपितामहः । पितुःसनामसं
कीर्त्यकीर्तयेत्प्रपितामहम्॥२२१॥पितामहोवातच्छ्राद्धंभुञ्जी-
तेत्यब्रवीन्मनुः।कामंवासमनुज्ञातःस्वयमेवसमाचरेत्॥२२२॥
तेषांदत्वातुहस्तेषुसपवित्रंतिलोदकम् । तत्पिण्डाग्रंप्रयच्छेत
स्वधैषामस्त्वितिब्रुवन्॥२२३॥पाणिभ्यांतूपसंगृह्यस्वयमन्नस्य
वर्धितम्।विप्रान्तिकेपितॄन्ध्यायन्शनकैरुपनिक्षिपेत् ॥२२४॥
उभयोर्हस्तयोर्मुक्तंयदन्नमुपनीयते । तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराःस-
हसादुष्टचेतसः॥२२५॥ गुणांश्चसूपशाकाद्यान्पयोदधिघृतंमधु
विन्यसेत्प्रयतःपूर्वंभूमावेवसमाहितः ॥२२६॥"

"अर्थ—प्रथम यथाविधि होम करके अग्नि सोम यम का पर्युक्षण पूर्वक तर्पण करने के पश्चात् पितरोंको तृप्त करे॥२११॥अग्नि के अभाव में होम न करे तौ ब्राह्मण के हाथ पर (उक्त तीन) आहुति दे देवे क्योंकि जो अग्नि है वही ब्राह्मण है ऐसा मन्त्र के जानने वाले कहते हैं ।। २१२ ।। क्रोधरहित और प्रसन्न चित्त वाले और वृद्ध तथा लोगों की वृद्धि में उद्योग करने वाले ऐसे द्विजोत्तमों को श्राद्धपात्र कहते हैं ॥ २१३ ॥ अपसव्य से अग्नौकरणादि होम और अनुष्ठानक्रम करके पश्चात् दक्षिण हाथ से भूमि पर पानी डाले ॥२१४॥ उस होम द्रव्य के शेष से तीन पिण्ड बनाके जल वाली विधि से दक्षिण मुख होकर स्वस्थचित्त से (कुशों पर) चढ़ावे॥२१५॥ विधिपूर्वक उन पिण्डों को (दर्भों पर) स्थापन करके उन दर्भों के ऊपर लेपभागी पितरोंकी तृप्ति के लिये हाथ पूंछ डाले ।। २१६ ॥ अनन्तर उत्तरमुख हो कर आचमन और ३ प्राणायाम शनैः २ करके मन्त्रका जानने वाला षट्ऋतुओं को और पितरों को भी नमस्कार करे ॥ २१७ ॥ एकाग्र चित्त वाला पिण्डदान के पात्र में बाकी पानी बचा हो, उस को पिण्डों के समीप धीरे धीरे छोड़े । और सावधान हुआ जिस क्रम से पिण्डों को रक्खा था उसी क्रम से सूंघे ॥२१८॥ क्रम के साथ प्रत्येक पिण्ड से थोड़ा थोड़ा भाग लेकर विधि के साथ उन्हीं अल्प भागों को भोजन के समय ब्राह्मणों को प्रथम खिलावे ॥२१९॥ पिता जीता हो तौ बाबा आदि का ही श्राद्ध करे, वा पिता के स्थानमें अपने (जीवते) पिता को भोजन करादेवे ॥ २२० ॥ पिता जिस का मर गया हो और बाबा जीता हो, तौ पिता का नाम उच्चारण करके, प्रपितामह का उच्चारण (श्राद्ध में) करे ॥ २२१ ॥ वा उस श्राद्ध में जीते पितामह को भोजन करावे, ऐसा मनु कहते हैं । वा पितामह की आज्ञा पाकर जैसा चाहे वैसा करे ॥ २२२ ॥ उन (ब्राह्मणों) के हाथ में मपवित्र तिलोदक देकर पितृ पितामह प्रपितामह के साथ " स्वधाअस्तु " ऐसा उच्चारण करता हुआ क्रम से वह पिण्ड का अल्प भाग देवे ।। २२३ ॥ परिपक्व अन्नों के पात्रों को अपने हाथों से " (वृद्धिरस्तु) " कह कर पितरों को स्मरण करता हुआ ब्राह्मणों के समीप धीरे धीरे रक्खे ॥ २२४ ॥ (ब्राह्मणों को) दोनों हाथों से न लाये हुवे अन्न को अकस्मात् दुष्ट बुद्धि वाले असुर छीन खाते हैं, (इस से एक हाथ से लाकर न रक्खे) ॥ २२५ ॥ चटनी दाल तरकारी इत्यादि नाना प्रकार के व्यञ्जन दूध दही घृत और मधुको पवित्र हो कर तथा स्वस्थ चित्त से प्रथम (पात्र सहित) भूमि पर रक्खे ॥२२६॥"

"भक्ष्यंभोज्यंचविविधंमूलानिफलानिच । हृद्यानिचैवमांसानि
पानानिसुरभीणिच ॥२२७॥ उपनीयतुतत्सर्वंशनकैःसुसमा-
हितः ।परिवेषयेतप्रयतोगुणान्सर्वान्प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥ ना-
स्रमापातयेज्जातुनकुप्येन्नानृतंवदेत् । नपादेनस्पृशेदन्नंनचैत-
दवधूनयेत् ॥२२९॥अस्रंगमयतिप्रेतान्कोपोऽरीनऽनृतंशुनः ।
पादस्पर्शस्तुरक्षांसिदुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥ यद्यद्रोचेत
विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः । ब्रह्मोद्याश्चकथाःकुर्यात्पितॄणामे-
तदीप्सितम् ॥२३१॥स्वाध्यायंश्रावयेत्पित्र्येधर्मशास्त्राणिचैव
हि । आख्यानानीतिहासांश्चपुराणान्यखिलानिच ॥२३२॥
हर्षयेद्ब्राह्मणांस्तुष्टोभोजयेच्चशनैःशनैः । अन्नाद्येनासकृच्चैतान्
गुणैश्चपरिचोदयेत् ॥२३३॥व्रतस्थमपिदौहित्रंश्राद्धेयत्नेनभो-
जयेत् । कुतपञ्चासनेदद्यात्तिलैश्चविकिरेन्महीम् ॥२३४॥
त्रीणिश्राद्धेपवित्राणिदौहित्रःकुतपस्तिलाः । त्रीणिचात्रप्रशं-
सन्तिशौचमक्रोधमत्त्वराम् ॥२३५॥ अत्युष्णंसर्वमन्नंस्याद्भु-
ञ्जीरंस्तेचवाग्यताः । नचद्विजातयोब्रूयुर्दात्रापृष्टाहविर्गुणान्
॥२३६॥यावदुष्णंभवत्यन्नंयावदश्नन्तिवाग्यताः । पितरस्ता-
वदश्नन्तियावन्नोक्ताहविर्गुणाः॥२३७॥ यद्वेष्टितशिराभुङ्क्तेयद्
भुङ्क्तेदक्षिणामुखः।सोपानत्कश्चयद्भुङ्क्तेतद्वैरक्षांसिभुञ्जते
॥२३८॥चाण्डालश्चवराहश्चकुक्कुटःश्वातथैवच। रजस्वलाचष-
ण्ढश्चनेक्षेरन्नश्नतोद्विजान् ॥२३९॥होमेप्रदानेभोज्येचयदेभि-
रभिवीक्ष्यते। दैवेकर्मणिपित्र्येवातद्गच्छत्ययथातथम् ॥२४०॥
घ्राणेनसूकरोहन्तिपक्षवातेनकुक्कुटः । श्वातुदृष्टिनिपातेनस्प-
र्शेनावरवर्णजः ॥ २४१ ॥ खञ्जोवायदिवाकाणोदातुःप्रेष्यो-
ऽपिवाभवेत्। हीनातिरिक्तगात्रोवातमप्यपनयेत्पुनः॥२४२॥"

"अर्थ— भक्ष्य भोजन नाना प्रकार के, मूल,फल और हृदय के मांस और सुगन्धियुक्त पीने के द्रव्य (इन को भी लाकर रक्खे) ।। २२७ ।। ये सम्पूर्ण अन्न धीरे धीरे ब्राह्मणों के समीप लाकर पवित्रता और स्वस्थ चित्त से सबों के गुण कहता हुआ परोसे (अर्थात् खट्टा मीठा चरपरा ये सब कहता हुआ परोसे) ।। २२८ ।। (श्राद्ध के समय में) रुदन और क्रोध न करे तथा झूठ न बोले और अन्न में पैर न लगावे और अन्न को न फेंके ।।२२९।। रोने से वह अन्न प्रेतों का मिलता है और क्रोध करने से शत्रुओं को प्राप्त होता है और असत्य भाषण से कुत्तों को पहुंचता है तथा पैर लगाने से राक्षस खाते हैं और फेंका हुआ पापी पाते हैं।।२३०।। और जो२ अन्न ब्राह्मणों को अच्छा लगे वो २ अन्न देवे। मत्सररहित होकर और ईश्वरसंबन्धी बात करे क्योंकि पितरों को यही इष्ट है ।।२३१।। वेद धर्मशास्त्र और आख्यान तथा इतिहास पुराण इत्यादि श्राद्ध में सुनवावे ।। २३२ ।। प्रसन्नचित्त हुआ आप ब्राह्मणों को प्रसन्न करे और अन्न से जल्दी न करता हुआ भोजन करावे और मिष्टान्न (खीर इत्यादि) के गुणों से ब्राह्मणों को प्रेरणा करे (अर्थात् यह मीठा है बहुत अच्छा है ऐसा कहता हुआ जिमावे) ।।२३३।। श्राद्ध में दौहित्र अर्थात् नाती ब्रह्मचारी भी हो तो यत्न से भोजन करावे। बैठने को नैपाली कंबल देवे और श्राद्धभूमि में तिल डाले ।।२३४।। श्राद्ध में तीन पवित्र हैं—नाती,कम्बल और तिल। और तीन प्रशंसा के योग्य हैं—एक क्रोध का न करना और २ पवित्रता तथा ३ जलदी न करना ।। २३५ ।। बोलना बन्द करके ब्राह्मण भोजन करे। भोजन योग्य जो पदार्थ हैं वे सब उष्ण (गरम) होने चाहियें और श्राद्ध करने वाला भोजनों का गुण पूछे तो भी न (विप्र) बोलें।।२३६।।जबतक अन्न उष्ण है और जब तक मौनयुक्त भोजन करते हैं और जब तक भोजन के गुण नहीं कहे जाते हैं तब तक पितर भोजन करते हैं ।।२३७।।सिर बांधे हुवे जो भोजन करता है और दक्षिणमुख जो भोजन करता है तथा जूता पहरे जो खाता है; वे सब राक्षस भोजन करते हैं (पितर नहीं)।।२३८।।चाण्डाल, शूकर, मुरगा,कुत्ता, रजस्वला स्त्री और नपुंसक, ये सब भोजन करते हुवे ब्राह्मणों को न देखें ।। २३९।। अग्निहोत्र में, दान में और ब्रह्मभोज में, देवकर्म में या पितृकर्म में, जो ये देखें तो वह सब निष्फल होजाता है।।२४०।। शूकर (उस अन्न को) सूंघने से (कर्म को) निष्फल करता है। परों की हवा से मुरगा और देखने से कुत्ता और छूने से शूद्र निष्फल करदेता है।।२४१।।जिस का पैर मारा गया हो वा काणा वा दाता का दास हो वा कम या अधिक अङ्ग वाला हो, उस को भी (श्राद्ध के स्थान से) हटा देवे ।। २४२ ।।"

"ब्राह्मणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम्। ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥२४३॥ सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा। समुत्सृजेद्भुक्तवतामग्रतो विकिरन्भुवि ॥२४४॥ असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम्। उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः ॥२४५॥ उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च। दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥ आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु। अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥२४७॥ सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः। अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥२४८॥ श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति। स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥ २४९ ॥ श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदहर्योऽधिगच्छति। तस्याः पुरीषे तन्मासं पितरस्तस्य शेरते ॥२५०॥ पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः। आचान्तांश्चानुजानीयादभितो रम्यतामिति ॥२५१॥ स्वधास्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम्। स्वधाकारः परं ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥२५२॥ ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत्। यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥ २५३ ॥ पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम्। संपन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥ अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसंपादनं तिलाः। सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्र्याः श्राद्धकर्मसु संपदः ॥२५५॥ दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च सर्वशः। पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसंपदः ॥ २५६ ॥ मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम्। अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥२५७॥ विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः। दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान्पितॄन् ॥२५८॥"

"अर्थ–भिक्षुक वा ब्राह्मण उस काल में भोजनार्थ प्राप्त हो तो उस का भी ब्राह्मणों की आज्ञा पाकर यथाशक्ति पूजन करे (अर्थात् भोजन करावे या भिक्षा देवे) ।।२४३।। सर्व प्रकार के अन्नादि को एकत्र करके पानी से छिड़क कर भोजन किये हुवे ब्राह्मणों के आगे दर्भ पर बखेरता हुआ, रक्खे ।।२४४।। संस्कार के अयोग्य मरे बालकों का तथा त्यागियों का और कुलस्त्रियों का उच्छिष्ट कुशा पर का भाग विकिर (२४४ में कहा) है ।।२४५।। जो कि भूमि पर गिरा श्राद्ध में उच्छिष्ट है वह दासों के समुदाय का भाग है। ऐसा मनु कहते हैं। परन्तु वह दाससमुदाय सीधा हो और कुटिल न हो ।। २४६ ।। मरे द्विजोंकी सपिण्डी तक वैश्वदेवरहित श्राद्धान्न (ब्राह्मण को) जिमावें और एक पिण्ड देवे ।। २४७ ।। परन्तु धर्म से सपिण्डी होजाने पर पुत्रों को उक्त प्रकार से पिण्ड प्रदान करना चाहिये ।।२४८।। जो श्राद्धोच्छिष्ट को भोजन कर के शूद्र को देता है वह मूर्ख कालसूत्र नाम नरक को जाता है जिस का नीचे को सिर और ऊपर को पैर होते हैं ।। २४९ ।। जो श्राद्धान्न को भोजन करके उस दिन वेश्याप्रसंग करता है उस के पितर और मास उस स्त्री के मल में गिरते हैं ।। २५० ।। तृप्त ब्राह्मणों को " अच्छे भोजन हुआ " ऐसा पूंछ कर आचमन करावे पश्चात् आचमन कियों को "आराम कीजिये" ऐसा कहे ।।२५१।। इस कहने के अनन्तर ब्राह्मण श्राद्धकर्त्ता के प्रति " स्वधा अस्तु" ऐसा कहें। क्योंकि सब श्राद्ध कर्म में स्वधा शब्द का उच्चारण परम आशीर्वाद है।।२५२।। स्वधा शब्द के उच्चारण के अनन्तर निवेदन करे कि "यह शेष अन्न है" तब ब्राह्मण इस को जैसा कहें वैसा करे ।।२५३।। पितृश्राद्ध में " स्वदितम् " ख़ूब भोजन किया? ऐसा कहे और गोष्ठ श्राद्ध में सुश्रुतम्" ऐसा कहे और अभ्युदय श्राद्ध में "संपन्नम्" इस प्रकार कहे और दैवश्राद्ध में "रुचितम्"ऐसा कहे ।।२५४।। दोपहर का समय, दर्भ, और गोबर से लेपन और तिल और उदारता से अन्नादि का देना और अन्न का संस्कार और पूर्वोक्त पङ्क्तिपावन ब्राह्मण; ये श्राद्ध की सम्पत्ति हैं ।।२५५।। दर्भ और पवित्र और पहला पहर और सब मुनियों के अन्न और पूर्वोक्त (गोमयादि) पवित्र; ये हव्य की सम्पत्ति जानो ।। २५६ ।। मुनियों के अन्न, दूध, सोमलता का रस, मांस–जो पकाया नहीं गया, और सैंधव निमक को स्वभाव से हवि कहते हैं।।२५७।। उन ब्राह्मणों को विसर्जन करके एकाग्र चित्त और पवित्र, मौनी, दक्षिण दिशा में देखता हुआ, पितरों से अपने अभिलषित ये वर मांगे कि:–।। २५८ ।। "

"दातारोनोऽभिवर्धन्तांवेदाःसंततिरेवच ।श्रद्धाचनोमाव्यगम-
द्बहुदेयंचनोऽस्त्विति ॥ २५९॥ [*अन्नं च नो बहु भवेदति-
थींश्चलभेमहि । याचितारश्चनःसन्तुमास्मयाचिष्मकञ्चन ॥
श्राद्धभुक् पुनरश्नाति तदहर्योद्विजाधमः । प्रयाति शूकरीं
योनिं कृमिर्वा नात्रसंशयः] ॥ एवंनिर्वपणंकृत्वापिण्डांस्तां-
स्तदनन्तरम् । गांविप्रमजमग्निंवाप्राशयेदप्सुवाक्षिपेत्॥२६०॥
पिण्डनिर्वपणंकेचित्पुरस्तादेवकुर्वते । वयोभिःखादयन्त्यन्ये
प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सुवा ॥२६१॥ पतिव्रताधर्मपत्नीपितृपूजनत-
त्परा । मध्यमंतुततःपिण्डमद्यात्सम्यक्सुतार्थिनी ॥२६२॥
आयुष्मन्तंसुतंसूतेयशोमेधासमन्वितम् । धनवन्तंप्रजावन्तं
सात्विकंधार्मिकंतथा ॥२६३ ॥ प्रक्षाल्यहस्तावाचम्यज्ञातिप्रायं
प्रकल्पयेत् । ज्ञातिभ्यःसत्कृतंदत्वाबान्धवानपिभोजयेत्॥२६४॥
उच्छेषणंतुतत्तिष्ठेद्यावद्विप्राविसर्जिताः । ततोगृहबलिंकुर्या-
दितिधर्मोव्यवस्थितः ॥२६५॥ हविर्यच्चिररात्राययच्चानन्त्याय
कल्पते । पितृभ्यांविधिवद्दत्तंतत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥
तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेनवा । दत्तेनमासंतृप्यन्तिवि-
धिवत्पितरोनृणाम् ॥२६७॥ द्वौमासौमत्स्यमांसेनत्रीन्मासा-
न्हारिणेनतु । औरभ्रेणाथचतुरःशाकुनेनाथपञ्चवै ॥ २६८ ॥
षण्मासांश्छागमांसेनपार्षतेनचसप्तवै । अष्टावेणस्यमांसेनरौ-
रवेणनवैवतु ॥ २६९ ॥ दशमासांस्तुतृप्यन्तिवराहमहिषामि-
षैः । शशकूर्मयोस्तुमांसेनमासानेकादशैवतु ॥२७०॥"

"अर्थ—हमारे कुल में देनेवा[illegible]े, वेद और पुत्र पौत्रादिक बढें और श्रद्धा हमारे कुल से न हटे और धना[illegible]क बहुत होवें ॥

[हमारे अन्न बहुत होवे, हम अतिथियों को भी पावें, हम से मांगने वाले हों, और हम किसी से न मांगें ॥ जो ब्राह्मणाऽधम श्राद्ध भोजन करके उस दिन दूसरी बार भोजन करता है वह शूकर वा कीड़े की योनि पाता है । इस में संशय नहीं ॥] (ये दो श्लोक तो बहुत ही थोड़े दिनोंसे मिलाये गये हैं । क्योंकि इन में से पहला श्लोक ३० में से ७ पुराने लिखे पुस्तकों में है, २३ में नहीं तथा राघवानन्द और रामचन्द्र इन दो ने ही इसपर टीका किया है औरों ने नहीं। और दूसरा श्लोक ३० में केवल १ लिखित पुस्तक में ही मिलता है, शेष २९ में नहीं । इसपर टीका भी किसीने नहीं किया)॥२५९॥ उक्त प्रकार से पिण्डदान करके उन पिण्डों को गाय, ब्राह्मण, बकरा वा अग्नि को खिलावे वा पानी में डाल देवे ॥२६०॥ कोई ब्राह्मण भोजन के अनन्तर पिण्डदान करते हैं और कोई पक्षियों को पिण्ड खिलाते हैं और दूसरे अग्निमें वा पानीमें डालते हैं ॥२६१॥ सजातीय विवाहिता, पतिव्रत धर्म की करने वाली, श्राद्ध में श्रद्धा रखने वाली, लड़के की इच्छा करने वाली, स्त्री उन ३ में से विधियुक्त बीच के पिण्ड का भक्षण करे ॥२६२॥ (उस पिण्डभक्षण से) दीर्घायु वाला, कीर्त्ति और यश धारण करने वाला, भाग्यवान्, सन्तति वाला, सत्वगुणी, धर्मात्मा, पुत्र उत्पन्न करती है ॥२६३॥ हाथों को धोकर, आचमन करके, जाति वालों को भोजन करावे। सत्कारपूर्वक जाति वालों को अन्न देकर, भाइयों को भी भोजन करावे ॥२६४॥ वह ब्राह्मणों का उच्छिष्ट अन्न, ब्राह्मणों के विसर्जन तक रहे, उस के अनन्तर वैश्वदेव करे । यह धर्म की व्यवस्था है ॥२६५॥ जो हवि पितरों को यथाविधि दिया हुआ बहुत कालपर्यन्त और अनन्त तृप्ति देता है वह सम्पूर्ण आगे कहते हैं:—॥२६६॥ तिल, धान्य, यव, उड़द, जल, मूल और फल विधिवत् देने से मनुष्यों के पितर एक मास पर्यन्त तृप्त होते हैं ॥२६७॥ मछली के मांस से दो महिने तक, और हरिण के मांस से तीन महिने और मेंढा के मांस से चार महिने और पक्षियों के मांस से पांच महिने (तृप्त रहते हैं । क्या अब भी मृतक श्राद्ध को प्रक्षिप्त न मानियेगा?)॥२६८॥ और बकरे के मांस से छः महिने, तथा चित्र मृग के मांस से सात महिने और एण मृग से आठ महिने और रुरु मृग के मांस से नौ महिने (तृप्ति रहती है)॥२६९॥ सूकर और भैंसे के मांस से दस महिने तृप्त रहते हैं और ससातथा कछवे के मांस से ग्यारह महिने (तृप्ति रहती है) ॥ २७० ॥"

"संवत्सरं तुगव्येनपयसापायसेनच।वार्ध्रीणसस्यमांसेनतृप्ति-र्द्वादशवार्षिकी॥२७१॥कालशाकंमहाशल्काःखड्गलोहामिषंमधु। आनन्त्यायैवकल्पन्तेमुन्यन्नानिचसर्वशः॥२७२॥यत्किंचिन्मधुनामिश्रंप्रदद्यात्तुत्रयोदशीम्।तदप्यक्षयमेवस्याद्वर्षासुच मघासुच ॥२७३॥ अपिनःसकुलेजायाद्योनोदद्यात्त्रयोदशीम्। पायसंमधुसर्पिर्भ्यांप्राक्छायेकुञ्जरस्य च ॥२७४॥ यद्यद्ददातिविधिवत्सम्यक्श्रद्धासमन्वितः । तत्तत्पितॄणांभवतिपरत्रानन्तमक्षयम्॥२७५॥कृष्णपक्षेदशम्यादौवर्जयित्वाचतुर्दशीम्। श्राद्धेप्रशस्तास्तिथयोयथैतानतथेतराः ॥ २७६ ॥ युक्षुकुर्वन्दिनर्क्षेषुसर्वान्कामान्समश्नुते। अयुक्षुतुपितॄन्सर्वान्प्रजांप्राप्नोतिपुष्कलाम् ॥२७७॥ यथाचैवापरःपक्षःपूर्वपक्षाद्विशिष्यते। तथाश्राद्धस्यपूर्वाह्णादपराह्णोविशिष्यते ॥ २७८॥ प्राचीनावीतिनासम्यगपसव्यमतन्द्रिणा। पित्र्यमानिधनात्कार्यंविधिवद्दर्भपाणिना ॥२७९॥रात्रौश्राद्धंनकुर्वीतराक्षसीकीर्तिताहिसा। संध्ययोरुभयोश्चैवसूर्येचैवाचिरोदिते ॥२८०॥ अनेनविधिनाश्राद्धंत्रिरब्दस्येहनिर्वपेत्। हेमन्तग्रीष्मवर्षासुपाञ्चयज्ञिकमन्वहम्॥२८१॥ नपैतृयज्ञियोहोमोलौकिकेग्नौविधीयते। नदर्शेनविनाश्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥२८२॥"

"अर्थ—गाय के दूध वा उस की खीर से वर्ष पर्यन्त और वार्ध्रीणस (लम्बे कान वाले बकरे) के मांस से बारह वर्ष तृप्ति रहती है ॥ २७१ ॥ कालशाक, महाशल्क (मछलियों के भेद हैं) और गैंडा, लालबकरा, मधु और संपूर्ण मुनियों के अन्न, ये अनन्त तृप्ति को देते हैं ॥२७२॥ वर्षाकाल की मघायुक्त त्रयोदशी में श्राद्धनिमित्त (ब्राह्मण को) जो कुछ मधु युक्त देवे। उस से अक्षय तृप्ति होती है ॥ २७३ ॥ इस प्रकार का कोई हमारेकुल में हो, जो

हस्त को चतुर्दशी में दूध मधु घृत से युक्त भोजन देवे या हस्ती की पूर्व दिशा की छाया में देवे(यह पितर आशा करते हैं)।।२७४।। अच्छे श्रद्धायुक्त जो कुछ विधिपूर्वक पितरों को देता है वह परलोक में पितरों की अक्षय तृप्ति के लिये होता है ।। २७५ ।। कृष्णपक्ष में दशमी से लेकर चतुर्दशी छोड़ कर ये तिथि श्राद्ध में जैसी प्रशस्त हैं वैसी और नहीं ।। २७६ ॥ युग्मतिथि और युग्म नक्षत्रों में श्राद्ध करने वाला संपूर्ण इच्छित पदार्थों को प्राप्त होता है । अयुग्म तिथि और अयुग्म नक्षत्रों में श्राद्ध करने वाला पुत्रादि सन्तति को पाता है ।। २७७ ।। जैसे शुक्लपक्ष से कृष्णपक्ष श्राद्धादि करने में अधिक फल का देने वाला है, वैसे ही पहले पहर से दूसरे पहर में अधिक फल होता है ।।२७८।। दहिने कन्धे कर यज्ञोपवीत करके आलस्यरहित हो कर दर्भ हाथ में लेकर अपसव्य हो, शास्त्रानुसार सब पितृसम्बन्धी कर्म मृत्यु पर्यन्त करे।।२७९।। रात्रि में श्राद्ध न करे । उस को राक्षसी कहा है और दोनों संध्याओं में तथा सूर्योदय से (छः घड़ी वा) थोड़ा दिन चढ़े तक समय में भी श्राद्ध न करे ।।२८०।। इस विधि से एक वर्ष में तीन वार श्राद्ध करे । हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा में । और पञ्चयज्ञान्तर्गत श्राद्ध को प्रतिदिन करे ।।२८१ ।। श्राद्धसम्बन्धी होम लौकिक अग्नि में नहीं कहा है । और आहिताग्नि ब्राह्मणादि को अमावास्या से अतिरिक्त तिथि में श्राद्ध नहीं कहा है ।।२८२॥

"यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन्स्नात्वा द्विजोत्तमः ।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥२८३॥"

"अर्थ-जो द्विज स्नान करके जल से ही पितृतर्पण करता है, उसी से संपूर्ण नित्य श्राद्ध का फल पाता है ।।२८३।।"

वसून्वदन्ति तु पितॄन्रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांश्चादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी॥२८४॥

पितर=वसु और पितामह=रुद्र और प्रपितामह=आदित्य को कहते हैं । यह सनातन से सुनते हैं।। (इस विषय में छान्दोग्योपनिषद् ३ । १६ में भी लिखा है सो देखने योग्य है-

पुरुषोवाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत् प्रातः-सवनं,चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री,गायत्रं प्रातःसवनं,तदस्य वसवो-

ऽन्वायत्ताः, प्राणा वाव वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ति ॥१॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं, चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप्,त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं, तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः,प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वं रादयन्ति॥ ३॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती,जागतं तृतीयसवनं, तदस्यादित्या अन्वायत्ताः, प्राणा वावादित्या एते हीदꣳसर्वमाददते ॥५॥

भावार्थ यह है कि मनुष्य भी एक यज्ञ है। जैसे यज्ञ के प्रातःसवन,माध्यन्दिनसवन और सायंसवन वा तृतीयसवन, ये ३ सवन होते हैं। ऐसे ही मनुष्यदेहयात्रा रूप यज्ञ के २४। ४४। ४८ वर्ष ३ सवन हैं। गायत्री के २४ अक्षर हैं। प्रातः सवन का भी गायत्री छन्द है,उस में इस के प्राण वसु-संज्ञक होते हैं। ४४ अक्षर का त्रिष्टुप्छन्द है और माध्यन्दिन सवन का भी त्रिष्टुप्छन्द है। उस में इस के प्राण रुद्र-संज्ञक होते हैं। और ४८ अक्षर का जगती छन्द है। और तृतीय सवन का भी जगती छन्द है। उस में इस के प्राण आदित्यसंज्ञक होते हैं। निदान २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रतधारी के प्राण वसु, ४४ वर्ष वाले के रुद्र और ४८ वाले के आदित्य कहाते हैं। ये ब्रह्मचारी यज्ञस्वरूप हैं और क्रम से पितृ पितामह और प्रपितामह के समान सत्करणीय हैं) ॥ २८४ ॥

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः।विघसोभुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम्॥२८५॥एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्। द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥२८६॥

अर्थ-सर्वदा विघस भोजन करने वाला वा अमृत भोजन करने वाला होवे। (ब्राह्मणादिकों के) भोजन के शेष को विघस कहते हैं और यज्ञशेष को अमृत कहते हैं ॥२८५॥ यह पञ्चयज्ञानुष्ठान की सब विधि तुम से कही। अब द्विजों में मुख्य ब्राह्मण की वृत्ति सुनो ॥२८६॥

इतिमानवेधर्मशास्त्रे(भृगुप्रोक्तायां संहितायां)तृतीयोऽध्यायः।३।

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे तृतीयोऽध्यायः॥३॥

ओ३म्

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

चतुर्थमायुषोभागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः । द्वितीयमायुषोभागं कृतदारोगृहे वसेत् ॥१॥ अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः । या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रोजीवेदनापदि ॥ २ ॥

अर्थ—आयु के प्रथम भाग चौथाई (अर्थात् शतवर्ष प्रमाण से चौथाई पच्चीस वर्ष) द्विज, गुरुकुल में निवास करके द्वितीय आयु के भाग में गृहस्थाश्रम को धारण करे ॥१॥ जिस वृत्ति में जीवों को पीड़ा न हो वा अल्प पीड़ा हो, ऐसी वृत्ति को धारण करके आपत्तिरहित काल में विप्र निर्वाह करे॥२॥

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः । अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥३॥ ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा । सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥

अर्थ—प्राणरक्षण और शास्त्रीय कुटुम्बपोषण और नित्यकर्मानुष्ठान मात्र के लिये अपने अनिन्दित कर्मों से तथा शरीर में क्लेश न करके धन संचय करे ॥३॥ ऋत, अमृत, वा मृत, प्रमृत से वा सत्य, अनृत से जीवन करे परन्तु कुत्ते की वृत्ति से कभी न करे ॥४॥

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् । मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥५॥ सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते । सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥६॥

अर्थ—उञ्छ और शिल को ऋत, न मांगने की वृत्ति को अमृत और मांगी हुई भिक्षा को मृत, तथा कृषि को प्रमृत जानना चाहिये ॥५॥ और सत्यानृत वाणिज्यवृत्ति है, या इस से जीवे। और सेवा कुत्ते की वृत्ति कही है। इस से उसको न करे॥६॥

कुशूलधान्यकोवा स्यात्कुम्भीधान्यकएव वा । त्र्यहैहिकोवापि भवेदश्वस्तनिकएव वा ॥७॥ चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम् । ज्यायान्परःपरोज्ञयोधर्मतोलोकजित्तमः ॥ ८ ॥

अर्थ—कोठार में धान का संचय करने वाला हो, या घड़े भर अन्न संचय वाला हो, या दिनत्रय के निर्वाह मात्र का संचय करने वाला हो, या कल को भी न रखने वाला हो ।। (७ वें के आगे ३० में से केवल एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक पाया जाता है—

सद्यः प्रक्षालिकोवा स्यान्माससञ्चयिकोपि वा ।
षण्मासनिचयोवापि समानिचय एव वा ।। १ ।।

अर्थात् तुरन्त हाथ धोडालने वाला, वा एक मास या छः मास या १ वर्ष के लिये धान्यादि संचय करने वाला होवे ।।१।।

यथार्थ में मनु के लेखानुसार गुण कर्म स्वभावयुक्त ब्राह्मण हों और तद्नुसार ही उन की जीविका का भार क्षत्रिय वैश्यों पर रहे तो संचय की ब्राह्मणों को कुछ आवश्यकता नहीं है) ।।७।। उन चार गृहस्थ द्विजों में एक से दूसरा फिर तीसरा, इस क्रम से श्रेष्ठ (अर्थात् जितना जिस के कम संग्रह हो उतना वह श्रेष्ठ है) धर्म से अत्यन्त लोक का जीतने वाला जानना चाहिये ।।८।।

षट्कर्मैकोभवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्त्तते । द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तुब्रह्मसत्रेण जीवति।। ९ ।।वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः । इष्टीःपार्वायनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा ।। १० ।।

अर्थ—इन गृहस्थों में कोई गृहस्थ, षट् कर्मों से जीता है (अर्थात् ऋत, अयाचित, भिक्षा, कृषि, वाणिज्य और कुसीद) और कोई तीन कर्मों से जीता है (याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह) और कोई दो से (अर्थात् याजन और अध्यापन) और कोई एक पढ़ाने ही से ।। ९ ।। शिलोञ्छों से जीवन करता हुआ केवल सदा अग्निहोत्र और पर्व, तथा अयनके अन्त में इष्टि=यज्ञ करे।।१०।।

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन । अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम्।। ११ ।।संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतोभवेत् । संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ।। १२ ।।

अर्थ—जीविका के लिये लोकवृत्ति कभी न करे (अर्थात् नाटकादि न करे) किन्तु असत्य और दम्भादि से रहित पवित्र जीविका जो कि ब्राह्मण की कही है, करे ।।११।। सुखार्थी संतोष से रहकर स्वस्थचित्त रहे, क्योंकि संतोष ही सुख का कारण है और तृष्णा ही दुःख का हेतु है ।।१२।।

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः । स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥१३॥ वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः । तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् १४

अर्थ—इन में कोई भी वृत्ति करके निर्वाह करता हुआ स्नातक द्विज, स्वर्ग आयु और यश के देने वाले इन व्रतों का धारण करेः— ॥१३॥ वेदोक्त अपना कर्म नित्य आलस्यरहित हो कर यथाशक्ति करता हुआ निश्चय परम गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥१४॥

नेहेतार्थान्प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा । न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥ १५ ॥ इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः । अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत् ॥१६॥

अर्थ—गाने बजाने से द्रव्योपार्जन न चाहे । और शास्त्रविरुद्ध किसी कर्म से न करे । और द्रव्य के होने पर भी न करे और कष्ट में भी इधर उधर से (अर्थात् पतितों से) द्रव्यों का उपार्जन न करे ॥ (९ प्राचीन लिखित पुस्तकों में उत्तरार्ध इस प्रकार है कि—न कल्प्यमानेष्वर्थेषु नान्त्यादपि यतस्ततः) ॥ १५ ॥ संपूर्ण इन्द्रियों के अर्थों (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) में इच्छा से न फंसे । इनकी बहुत आसक्ति को मन से हटा देवे ॥ (मेधातिथि के भाष्य में—सन्निवर्त्तयेत्= सन्निवेशयेत् । पाठ है) ॥ १६ ॥

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः । यथा तथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥१७॥ वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च । वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥१८॥

वेदाध्ययन के विरोधी जितने अर्थ हैं, सब को छोड़ देवे । जैसे बने वैसे वेदाध्यापन से निर्वाह करे, यही उसकी कृतकृत्यता है ॥ १७ ॥ अवस्था, क्रिया, धन, विद्या और कुल, इनके अनुरूप वेष वाणी और समझ से आचरण करता हुआ इस जगत् में रहे ॥१८॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च । नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥१९॥ यथायथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति । तथातथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते२०

अर्थ—शीघ्र बुद्धि के बढ़ाने वाले और धन के संचय कराने वाले और शरीर को सुख देने वाले शास्त्रों को नित्य देखे और वेद के अर्थ जनाने वाले शास्त्रों को भी नित्य देखे।।१९।।जैसे २ मनुष्य अच्छे प्रकार शास्त्र का अभ्यास करता है,वैसे वैसे शास्त्र को जानता जाता है और इसको विज्ञान रुचता जाता है ॥

(३० में से १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक पाया जाता है कि—

शास्त्रस्य पारङ्गत्वा तु भूयोभूयस्तदभ्यसेत् ।
तच्छास्त्रं शबलं कुर्यान्नचाधीत्य त्यजेत्पनः ॥ १ ॥

अर्थात् शास्त्र के पार को प्राप्त होकर भी बार २ अभ्यास करता रहे । उस शास्त्र को उज्ज्वल करे, न कि पढ़ कर फिर छोड़ दे) ।। २० ।।

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥२१॥ एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः। अनीहमानाःसततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥२२॥

अर्थ—स्वाध्यायादिक पञ्चयज्ञोंको यथाशक्ति कभी न छोड़े॥ २१ ॥ कोई यज्ञशास्त्रके जाननेवाले पुरुष इन पञ्चमहायज्ञोंको (ब्रह्मज्ञान के अभ्यास से) बाह्य चेष्टा से रहित हुए पञ्चज्ञानेन्द्रियों में ही संयम करते हैं ।।२२ ।।

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा । वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥२३॥ ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मखैःसदा । ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥ २४ ॥

अर्थ—कोई वाणी को प्राण में और प्राण को वाणी में हवन करते हैं और इन्हीं में यज्ञ की अक्षय फलसिद्धि देखते हैं । (अर्थात् प्राणायाम और मौन धारण करते हैं) ।।२३।। ज्ञानचक्षु से इन क्रियाओं को ज्ञानमूलक जानने वाले दूसरे विप्र इन यज्ञों को ज्ञान से ही करते हैं ।। २४ ।।

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोःसदा । दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥ " सस्यान्तेनवसस्येष्ट्यातथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः । पशुनात्वयनस्यादौसमान्तेसौमिकैर्मखैः ॥२६॥ ,,

अर्थ—दिन के आदि और निशा के आदि में अग्निहोत्र करे और अर्ध मास के अन्त में अमावास्या और पूर्णिमा में क्रमशः दर्शेष्टि और पौर्णमास

यजन करे ।।२५।। "नवीन अन्न की उत्पत्ति में नवीन धान्य से नवसस्येष्टि करे, ऋतुवों के अन्त में अध्वर याग करे और अयन के आदि में पशु से याग करे और वर्ष के अन्त में सोमयाग करे ।। (मेधातिथि के भाष्य में पाठभेद भी है- पशुनात्त्वयनस्यादौ । इस से भी यह नवीन प्रक्षेप संशयित होता है) ।।२६।।

"नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः । नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ २७ ॥ नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः । प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्द्धिनः ॥ २८ ॥"

"अर्थ-अग्निहोत्री ब्राह्मणादि दीर्घ आयु की इच्छा करने वाला नवीन अन्न से इष्टि किये विना नवान्न भक्षण न करे और पशुयाग किये विना मांस भक्षण न करे ।।२७।। नवीन अन्न और पशु से भोजन किये विना अग्नि इस के प्राणों को खाने की इच्छा करती हैं, क्योंकि अग्नि नवीन अन्न और मांस की अत्यन्त अभिलाषा वाली हैं ।।" (इस प्रसङ्ग में पशुयाग का अर्थ पशु के घृतादि से यज्ञार्थ लेकर कोई लोग २६ वें का समाधान करते हैं, परन्तु आगे २७ वें के अर्थवाद में मांस का वर्णन आने से स्पष्ट जान पड़ता है कि यह लीला हिंसकों की है । यज्ञ देवकार्य है । और मनु एकादशाध्याय में मांस को दैवभोजन नहीं, किन्तु राक्षसी वा पैशाचभोजन कहेंगे । इस लिये ये श्लोक हमारी सम्मति में मनु के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं) ।।२८ ।।

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा । नास्य कश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥ २९ ॥ पाषण्डिनो विकर्मस्थान्बैडालव्रतिकाञ्छठान । हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ ३० ॥

अर्थ-आसन भोजन शय्या जल मूल वा फल से यथाशक्ति विना पूजन किया अतिथि गृहस्थ के घर में न रहे ।।२९।। परन्तु पाषण्डी और निषिद्धकर्म करने वालों, विडाल व्रत वालों, शठों, वेद में श्रद्धा न रखने वालों और बकवृत्ति वालों को वाणीमात्र से भी न पूजे ।। ३० ।।

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्श्रोत्रियान्गृहमेधिनः । पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥ शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना । संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥३२॥

अर्थ—वेदविद्या की समाप्ति करने वाले और व्रत को सम्पूर्ण करने वाले तथा श्रोत्रिय गृहस्थों को हव्य कव्य से पूजित करे और इन से विपरीतों को नहीं ।।३१।। गृहस्थ यथाशक्ति पाक न करने वाले (संन्यासी वा ब्रह्मचारी) को भिक्षा देवे और संपूर्ण जीवों को विना रुकावट के जलादि भाग देवे ।।३२।।

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा। याज्यान्तेवासिनोर्वापि न त्वन्यत इति स्थितिः।।३३।। न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधाऽशक्तः कथंचन। न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति।।३४।।

अर्थ—क्षुधा से पीड़ित स्नातक राजा से और यजमान वा शिष्य से द्रव्य की इच्छा करे। अन्य से न मांगे। इस प्रकार की शास्त्रमर्यादा है।।३३।। स्नातक ब्राह्मण क्षुधा से पीडित न होवे और धन पास होने पर पुराना मैला वस्त्र न रक्खे।।३४।।

कॢप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः। स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च।। ३५ ।। वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्। यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले।।३६।।

अर्थ—कटे केश, नख, दाढ़ी वाला अर्थात् हजामत बनवाया करे और इन्द्रियों का दमन करने वाला और श्वेतवस्त्रधारी और पवित्र रहे और नित्य वेदपाठ और अपना हित किया करे।। (यह प्राचीन कालीन रहन सहन (एटीकेट) है। जो मनु ने अपने समय में नियमबद्ध किया था। इस में से जो २ बातें धर्माऽधर्म में कारण हैं, वे २ ग्राह्य अग्राह्य हैं। शेष देश काल की रीति नीति मात्र थीं, जो बहुत सी अब आवश्यक नहीं रहीं)।। ३५।। बांस की लड़ी और जल भरा लोटा और यज्ञोपवीत और वेदपुस्तक और अच्छे सोने के कुण्डल धारण करले।।३६।।

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन। नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यंनभसो गतम्।।३७।।न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति। न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा।।३८।।

अर्थ—उदय होते हुवे और अस्त होते हुवे सूर्य को कभी न देखे और ग्रहों से मिलने पर और जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब और बीच आकाश में भी सूर्य को न देखे (इस से दृष्टि की हानि होती है)।। ३७।। और बछड़े

के बांधने के रस्से को न लांघे और पानी बरसते में न दौड़े और अपना स्वरूप पानी में न देखे। ऐसा नियम है ।। ३८ ।।

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्। प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥ नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने। समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥४०॥

अर्थ—मिट्टी के टीलों और गायों तथा यज्ञशालाओं और ब्राह्मणों, घृत और मधु के समूहों और चौराहों और बड़े प्रसिद्ध २ वनस्पतियों को दक्षिण ओर करके जावे ।।३९।। कामार्त्त पुरुष भी रजस्वला स्त्री के पास न जावे और उस के साथ बराबर बिछौने पर भी न सोवे ।। ४० ।।

रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः। प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥ तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम्। प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥

अर्थ—रजस्वला स्त्री के पास जाने वाले पुरुष की प्रज्ञा, तेज, बल, आंख तथा आयु नष्ट होती हैं ।। ४१ ।। उसी रजस्वला के पास न जाने वाले के प्रज्ञा, तेज, बल, आंख की रौशनी और उमर बढ़ती है (४ पुस्तकों में—प्रज्ञा लक्ष्मीर्यशश्चक्षुः। पाठ है ।। ४२ ।।

नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्। क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम्॥४३॥नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम्। न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः॥४४॥

अर्थ—भार्या के साथ भोजन न करे और इस को भोजन करते हुए भी न देखे। तथा छींकती और जंभाई लेती हुई और आराम में बैठी हुई को भी न देखे (इस से लज्जाभङ्ग का भय है)।। ४३ ।। और अपने नेत्रों में अंजन करती हुई और बिना कपड़ों नङ्गी तैलादि लगाती हुई को, तेज की इच्छा करने वाला ब्राह्मण न देखे और बच्चा जनती हुई को भी न देखे ।। (चार पुस्तकों और रामचन्द्र के टीके में ४४ से आगे यह श्लोक अधिक पाया जाता है:—

उपेत्य स्नातको विद्वान्नेक्षेन्नग्नां परस्त्रियम्।
सरहस्यं च संवादं परस्त्रीषु विवर्जयेत् ॥

अर्थात् स्नातक विद्वान् पराई नग्न स्त्री के समीप न जावे और न देखे और परस्त्रियों में एकान्त संवाद वर्जित करे) ॥ ४४ ॥

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत्। न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे॥ ४५ ॥ न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते। न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥४६॥

अर्थ—एक वस्त्र पहन कर भोजन न करे और नंगा स्नान न करे और रास्ते में मूत्र न करे, गौ के खरक और राख में भी न करे।।४५।। और खेत में तथा जल में और चिता में और पर्वत में और पुराने टूटे देवस्थान=यज्ञशाला में और बमयी में कभी मूत्र न करे।।४६।।

न ससत्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः। न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके॥ ४७ ॥ वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः। न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥४८॥

अर्थ—और रहते हुवे जानवरों के बिलों में और चलते हुवे तथा खड़े हुवे और नदी के किनारे पर और पर्वत की चोटी पर।।४७।। वायु, अग्नि, विप्र, सूर्य, जल और गायों को देखता हुआ कभी मल मूत्र त्याग न करे।।४८।।

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना। नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥४९॥ मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः। दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोश्च यथा दिवा॥५०॥

अर्थ—लकड़ी, ढेला, पत्ता, घास आदि से हटा कर दिशा फिरे और बोलै नहीं, शरीर पर कपड़ा ओढ़ लेवे और गठ कर बैठे।।४९।। दिन में दिशा पेशाब उत्तर मुंह होकर और दोनों सन्ध्याओं में भी उत्तर की ओर होकर और रात को दक्षिण मुह होकर करे।।५०।।

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः। यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च॥५१॥ प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान्। प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः॥ ५२ ॥

अर्थ—छाया वा अन्धकार में रात्रि में वा दिन में (जिसमें दिशा का ज्ञान न हो) ऐसे समय में या (व्याघ्रादिकों से) प्राण के भय में जैसे चाहे वैसे मुख

करके मल मूत्र करले ॥ ५१ ॥ अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल, ब्राह्मणादि, गौ, वायु, इनके सम्मुख मूत्र करने वाले की प्रज्ञा नष्ट होती है ॥

(जैसे स्वच्छ वस्त्र पर थोड़ी भी मलिनता बहुत प्रतीत होती है । वा अति स्वच्छ वस्त्र धारण करने वाले, थोड़ा भी छींटा पड़जाने से वस्त्र को मलिन और न पहरने योग्य समझते हैं । तथा साधारण लोग उतने मैले वस्त्रादि को मैला ही नहीं समझते । इसी प्रकार धर्मशास्त्र के अनुसार चलने वाले लोगों को ही उस के विपरीत चलने की हानि वा ग्लानि प्रतीत हो सक्ती है, सब को नहीं । और जो लोग जिस प्रकार से सदा रहन सहन करते हैं उस से नई वा विरुद्ध वा भिन्न रीति से करने में उन्हें ही कष्ट होता है । अन्यों को नहीं । जैसे अंग्रेज़ी पाट (पाखाने) पर इस देश वालों को कष्ट होता है । मल मूत्रादि करने में जहां २ किसी की कोई भी हानि हो वहां २ न करे । जो २ स्थान वा ढंग धर्मशास्त्र में यहां बतलाये हैं, वे उपलक्षण मात्र हैं । इस से अन्यत्र भी हानि देखे तौ न करे । और इन स्थानों में भी करने से लाभ और न करने से हानि हो तौ, इस मर्यादा को न माने यही विचार ५१ वें श्लोक का मुख्य करके है ॥ ब्राह्मणादि के सामने मूत्रादि करने से उन का अपमान और अपने में धृष्टतादि दोषोत्पत्ति, तथा वायु आदि की परीक्षा करते, एक काम में दो कामों के करने से विघ्न और शौच का ठीक २ न होना, बवासीर और मूत्रकृच्छ्रादि रोगों की वृद्धि भी संभव है । इत्यादि स्वयं विचारते रहना चाहिये) ॥५२॥

नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम् । नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥५३॥ अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत् । न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥५४॥

अर्थ—आग को मुख से न फूंके और नङ्गी स्त्री को न देखे और मल मूत्र आग में न डाले और पैर को आग से न तपावे ॥५३॥ चारपाई के नीचे आग न धरे और आग को न लांघे और पैरों को आग पर न रक्खे और जीवों को पीड़ा होने वाला कर्म न करे ॥ ५४ ॥

नाश्नीयात्सन्धिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत् । न चैव प्रलिखेद्भूमिं नात्मनोपहरेत्स्रजम् ॥५५॥ नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत् । अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥५६॥

अर्थ—संध्या काल में भोजन न करे और कहीं न जावे और न सोवे न ज़मीन पर लकीर खींचे और पहनी हुई माला को आप न निकाले।।५५।।जल में मूत्र, मल, थूक, वा मलमूत्रयुक्त वस्तु,रक्त और विष भी जल में न डाले।।५६।।

नैकः स्वपेच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत्। नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः ॥ ५७ ॥ अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ। स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥५८॥

अर्थ—सूने मकान में अकेला न सोवे, अपने से बड़े को सोते हुवे न जगावे और रजस्वला से न बोले और बिना वरण किये यज्ञ में न जावे ॥

(५७ वें के आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:—

एकः स्वादु न भुञ्जीत स्वार्थमेको न चिन्तयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥

अर्थात् अकेला स्वाद पदार्थ न खावे, न स्वार्थ की चिन्ता अकेला करे अकेला दीर्घ यात्रा न करे, न सब के सोते हुए अकेला जागे ।।) ।।५७।। यज्ञशाला में और गोशाला में तथा ब्राह्मण के समीप और वेद के पढ़ने में और भोजन में दहिना हाथ उठावे ।।५८।।

नावारयेद्गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित् । न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः ॥५९॥ नाधार्मिके वसेद्ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम्। नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥६०॥

अर्थ—जल पीती गाय को न हांके और न दूसरे को बतावे और आकाश में इन्द्रधनुष् देख कर किसी को न दिखावे (आंख की हानि है)।।५९।। अधर्मी ग्राम में न रहे और जहां बहुत बीमारी हो वहां न रहे और अकेला रस्ता न चले और पर्वत पर बहुत काल निवास न करे ।। ६० ।।

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते । न पाषण्डगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥६१॥ न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् । नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः॥६२॥

अर्थ—शूद्रों के राज्य में निवास न करे और न अधार्मिक पुरुषों से घेरे हुए

और न पाषण्डियों के वास किये हुवे तथा चाण्डालों से भरे हुए देश में न बसे ॥६१॥ जिस की चिकनाई निकाल ली हो उस को न खावे (जैसे खल)। अति तृप्ति न करे और उदयकाल तथा अस्त काल के समीप में भोजन न करे और प्रातःकाल अतितृप्त हुआ सायंकाल में भोजन न करे ॥ ६२ ॥

न कुर्वीत वृथा चेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत्। नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली॥६३॥ न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत्। नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥६४॥

अर्थ—निष्फल कर्म न करे और अञ्जली से पानी न पीवे। मोदकादि को गोद में रख कर भोजन न करे और कभी व्यर्थ बातें न करे ॥ ६३ ॥ न नाचे, न गान करे, और बाजों को न बजावे और ताली न बजावे और तुतलाकर न बोले और बहुत प्रसन्न होकर (गधे का सा) अपशब्द न करे॥६४॥

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने। न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते॥६५॥ उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत्। उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

अर्थ—कांसे के वर्तन में कभी पैर न धोवे और फूटे बर्तन में भोजन न करे और विगाड़ वाले के घर कभी भोजन न करे ॥६५॥ जूता कपड़ा यज्ञोपवीत अलङ्कार पुष्पमाला और कमण्डलु दूसरे की ओढ़े पहिरे धारण न करे॥६६॥

नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः। न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न बालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥ विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः। वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—क्षुधा व्याधि से पीडित और अशिक्षित तथा सींग और आंख और खुर से खण्डित ऐसे घोड़ों वा बैलों की सवारी न करे। लांडे बैलों से यात्रा न करे ॥६७॥ और शिक्षित तथा अच्छे प्रकार शीघ्र चलने वाले और शुभ लक्षणयुक्त और वर्णरूप सहित (अश्वादि से) प्रतोद (कोड़े) से निरन्तर न चुभाता हुआ यात्रा करे॥६८॥

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथासनम्। न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान्॥६९॥ न मृल्लोष्टं च मृद्नीयान्न च्छिन्द्यात्करजैस्तृणम्। न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥७०॥

अर्थ—उदय काल का घाम और जलते मुर्दे का धुआं और टूटा आसन ये त्याज्य हैं और रोम वा नखोंको न उखाड़े तथा दांतों से नखोंको न उपाड़े ॥ (दो पुस्तकों में ६९ वें के बीच में यह अर्ध श्लोक अधिक पाया जाता है:—

[श्रीकामो वर्जयेन्नित्यं मृण्मये चैव भोजनम्।]

अर्थात् धन=लक्ष्मी का इच्छुक मट्टी के पात्र में न खाया करे) ॥६९॥ मिट्टी के ढेलेको न मसला करे और नखोंसे तृणोंको न काटा करे और व्यर्थ काम न करे और आगामी कालमें दुःखका देनेवाला काम न करे (जैसे अजीर्णमें भोजन)॥७०॥

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी चयो नरः । स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥७१॥ न विगर्ह्य कथां कुर्याद्बहिर्माल्यं न धारयेत् । गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥७२॥

अर्थ—ढेले का मसलने वाला, तृण का छेदने वाला और नखों के चाबने के अभ्यास वाला मनुष्य, शीघ्र नाश को प्राप्त होजाता है और खल तथा अपवित्र भी ॥ ७१ ॥ उद्दण्डता से बात न करे, माला को बाहर धारण न करे और बैल की पीठ पर सवारी न करे, यह सर्वथा ही निन्दित है ।।७२।।

अद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वावृतम् । रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥७३॥ नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत् । शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४॥

अर्थ—घिरे हुवे नगर या मकान में विना दरवाज़े के भीतर न जावे (अर्थात् दर्वाज़े से जावे, दीवार कूद कर न जावे) और रात को वृक्ष के नीचे न रहे ।।७३।। कभी जुवा न खेले। अपने जूतों को हाथ से उठा कर न चले । शय्या पर भोजन न करे । हाथ में लेकर न खावे । न आसन पर रख कर (किन्तु पात्र में रख कर खावे) ।। ७४ ।।

सर्वं च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ । न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥७५॥ आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्। आर्द्रपादस्तुभुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥७६॥

अर्थ—सूर्य के अस्त होने पर तिलयुक्त सब पदार्थों का भोजन न करे और नङ्गा न सोवे और जूंठा मुह कहीं न जावे ॥ ७५ ॥ गीले पैर भोजन

करे और गीले पैर सोवे नहीं। क्योंकि गीले पैर भोजन करने वाला दीर्घायु को प्राप्त होता है ।। ७६ ।।

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित् । न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥७७॥ अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थि-कपालिकाः । न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः॥७८॥

अर्थ–आंखों से जो दुर्ग नहीं देखा वहां कभी न जावे और मल मूत्र को नहीं देखे और बाहु से नदी को न तिरे ।।७७।। बहुत दिन जीने की इच्छा वाला, केश भस्म हड्डी खपरों के टुकड़े कपास की मींग और भूसे पर न चढ़े ।।७८।।

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुष्कसैः । न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः॥७९॥ "न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्। न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्॥८०॥ "

अर्थ–पतितों के साथ न रहे । चाण्डालों के साथ तथा निषाद से शूद्रों में हुवे पुक्कसों के साथ भी न रहे और मूर्ख तथा धनगर्वित और अन्त्य और निषाद स्त्री में चाण्डाल से उत्पन्न हुवों के साथ भी न रहे ।। (७९ वें से आगे यह श्लोक १ पुस्तक में अधिक है कि–

[न कृतघ्नैरनुद्युक्तैर्नमहापातकान्वितैः ।
न दस्युभिर्नाशुचिभिर्नाऽमित्रैश्चकदाचन ॥]

अर्थात् कृतघ्न, आलसी, उद्योगहीन, महापातकी, दस्यु, अपवित्र और शत्रुओं के साथ कभी वास न करे ।।) ।।७९।। " शूद्रों को बुद्धि और उच्छिष्ट और हविष्कृत अर्थात् होम शेष का भाग न दे । और उन को धर्म उपदेश न करे और व्रत भी न बतावे ।। (एक पुस्तक में अर्ध श्लोक अधिक है कि–

[अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा प्रायश्चित्तं समादिशेत् ।]

अर्थात् शूद्र को प्रायश्चित्त बताना हो तो ब्राह्मण को बीच में कर ले) ।।८०।।"

"योह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् । सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥८१॥ ,, न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूये-दात्मनः शिरः । न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः॥८२॥

"अर्थ–जो इस शूद्र को धर्मोपदेश करे और प्रायश्चित्त का उपदेश करे, वह उस शूद्र के साथ "असंवृताख्य" बड़े अन्धकार वाले नरक में गिरता है ॥ (दशमाध्याय १४६ । १४७ में शूद्र के विषय में (न धर्मात्प्रतिषेधनम् । धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः) कहा है । जिस से शूद्रों का भी धर्मात्मा धर्मज्ञ सदाचारी होना पाया जाता है । और विना उपदेश धर्म-ज्ञान असम्भव है । इस लिये ये श्लोक ८० । ८१ किसी शूद्रद्वेषी के मिलाये प्रतीत होते हैं, जो कि उक्त दशमाध्याय से विरुद्ध हैं) और आगे २१ नरक श्लोक ८८ । ८९ । ९० में गिनाये हैं उन में "असंवृत" नाम का कोई नरक भी नहीं है और इसी के समीप उक्त१॥ श्लोक सब पुस्तकों में नहीं हैं । इस से भी प्रक्षिप्तता का संशय होता है ॥८१॥" दोनों हाथों से एक साथ अपना शिर न खुजावे और झूंठे हाथों से सिरको न छुवे और विना सिर पर पानीडाले स्नान न करे॥८२॥

केशग्रहान्प्रहारांश्चशिरस्येतान्विवर्जयेत् । शिरःस्नातश्च तैलेन नाङ्गंकिंचिदपिस्पृशेत्॥८३॥"न राज्ञःप्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः । सूनाचक्रध्वजवतां वेषेणैवच जीवताम्॥८४॥दशसूना-समंचक्रंदशचक्रसमोध्वजः । दशध्वजसमोवेशोदशवेशसमो-नृपः ॥८५॥दशसूनासहस्राणियोवाहयतिसौनिकः । तेनतुल्यः स्मृतोराजाघोरस्तस्यप्रतिग्रहः ॥८६॥ योराज्ञः प्रतिगृह्णातिलु-ब्धस्योच्छास्त्रवर्त्तिनः । सपर्यायेणयातीमान्नरकानेकविंश-तिम् ॥ ८७ ॥ तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ । नरकं कालसूत्रंचमहानरकमेवच ॥८८॥ संजीवनंमहावीचिंतपनंसंप्र-तापनम् । संहातंचसकाकोलंकुड्मलंप्रतिमूर्त्तिकम् ॥८९॥लो-हशङ्कुमृजीषंचपन्थानंशाल्मलींनदीम् । असिपत्रवनंचैव लो-हदारकमेव च ॥९०॥एतद्विदन्तोविद्वांसोब्राह्मणाब्रह्मवादिनः । नराज्ञःप्रतिगृह्णन्तिप्रेत्यश्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः" ॥ ९१ ॥

अर्थ–केश का पकड़ना और मारना, ये दो काम सिर में न करे । सिर में तेल लगाकर और किसी अङ्ग को न छूवे ॥८३॥ "विना क्षत्रिय से उत्पन्न राजा

से दान न लेवे। सूना (जीवों के मारने की जगह), गाड़ी आदि, तथा कलाल पन से वृत्ति करने वालों और बहुरूपियों के (धन को भी ग्रहण न करे) ॥ ८४ ॥ दश सूना वाले के बराबर एक गाड़ी वाला है और इन दस के बराबर एक कलाल और दश कलाल के समान एक वेश वाला, दस वेशवालों के बराबर एक राजा (अर्थात् उत्तरोत्तर अधिक निषिद्ध हैं) ॥ ८५ ॥ दस हज़ार जीवों को मारने का अधिष्ठाता सौनिक कहाता है, राजा उसके बराबर कहा है। इस लिये इसका प्रतिग्रह घोर है (अतएव न लेवे) ॥८६॥ जो कृपण और शास्त्र का उल्लङ्घन करने वाले राजा का प्रतिग्रह लेता है, वह क्रमसे इन इक्कीस नरकों को जाता है ॥ ८७ ॥ (उन नरकों के नाम विस्तार से मार्कण्डेयपुराण में हैं, वहीं से इस महात्माने लिये होंगे) तामिस्र १ अन्धतामिस्र २ महारौरव ३ रौरव ४ नरक ५ कालसूत्र ६ महानरक ७ ॥८८॥ संजीवन ८ महावीचि ९ तपन १० संप्रतापन ११ संहात १२ सकाकोल १३ कुड्मल १४ प्रतिमूर्त्तिक १५ ॥ ८९ ॥ लोहङ्शङ्कु १६ ऋजीष १७ पन्थान १८ शाल्मली नदी १९ असिपत्रवन २० और लोहदारक २१ (ये इक्कीस नरकों के नाम हैं) ॥९०॥ यह प्रतिग्रह नाना प्रकार के नरकों का हेतु है, ऐसे जानने वाले विद्वान् जो वेदके जाननेवाले और परलोकमें कल्याण की इच्छा करने वाले ब्रह्मवादी ब्राह्मण हैं, राजा का प्रतिग्रह नहीं लेते ॥ ९१ ॥"

(८४ से ९१ तक ८ श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। एक तो इन की संस्कृत शैली मनु की सी नहीं। दूसरे ८५ वें श्लोक का पाठ २४ पुस्तकों में यही मिलता है जैसा मूल में छपा है परन्तु ६ पुस्तकों में-(दशध्वजसमा वेश्या दशवेश्यासमो नृपः) पाठभेद है। तीसरे राजा, और पहियों दार गाड़ी से जीविका करने वाले वैश्य, इन को-खटीकों और कलालों तथा वेश्याओं के समान समझना और इस से भी नीच समझना अन्याय है। चौथे राजा का प्रतिग्रह=दान ब्राह्मण न लें तो यज्ञादि बड़े २ धर्मानुष्ठान दक्षिणारहित नष्ट हो जावें। पांचवें पूर्वकाल में अनेक राजाओं से अनेक ऋषि महर्षियों नेयाचना और विना याचना भी सदा दान लिये, वे क्या सब २१ प्रकार के नरकों में गये? छठे राजा का प्रतिग्रह थोड़ा वा बहुत कितना ही लें, परन्तु बारी २ से २१ नरकों में जावें, यह भी एक अन्याय है ॥ सातवें, ८९ वें श्लोक के "प्रतिमर्त्तिक" नरक का नाम ८ पुराने लिखे पुस्तकों में "पू-

तिमृत्तिक " पाया जाता है। जिस से भिन्न २ पुस्तकों में भिन्न २ पाठ भी संशय का हेतु है) ॥ ९१ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते बुद्ध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्वार्थमेव च॥ ९२॥

अर्थ–प्रातः दो घड़ी रात से उठे और धर्म तथा अर्थ का चिन्तन करे। उनके उपार्जनके मूल शारीरक्लेशोंको भी समझ लेवे। और वेद तत्त्वार्थ को भी सोचे ॥९२॥

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः । पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥ ९३॥ ऋषयो दीर्घसंध्यात्वादीर्घमायुरवाप्नुयुः। प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च॥९४॥

अर्थ–फिर उठ कर दिशा जंगल होकर पश्चात् पवित्र होकर एकाग्रचित्त हुआ पूर्व सन्ध्या में बहुत काल पर्यन्त जप करता हुआ रहे और दूसरी सन्ध्या को भी अपने काल में देर तक करे ॥ ९३ ॥ क्योंकि ऋषि लोग दीर्घ सन्ध्या के अनुष्ठान से दीर्घ आयु को पासक्ते हैं और प्रज्ञा, यश, कीर्ति तथा ब्रह्मतेज को भी ॥ ९४ ॥

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि । युक्तश्छन्दास्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥९५॥पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः। माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥९६॥

अर्थ–ब्राह्मणादि श्रावणी वा भाद्रपदी पौर्णिमा को उपाकर्म करके साढ़ेचार मासमें उद्युक्त होकर वेदाध्ययन करे ॥९५॥ पुष्यनक्षत्र वाली पौर्णिमा (पौषी) में वेद का "उत्सर्जनाख्य" कर्म (ग्राम के) बाहर जाकर करे। या माघ शुक्ल के प्रथम दिन के पूर्वाह्ण में करे ॥ ९६ ॥

यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः । विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥९७॥ अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् । वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ९८ ॥

अर्थ–शास्त्र के अनुसार (ग्राम के) बाहर वेदों का उत्सर्गाख्य कर्म करके दो दिन और १ बीच की रात्रि भर अनध्याय करे वा उसी दिन और

रात्रि का अनध्याय करे ।। ९७ ।। उत्सर्गाख्य अनध्याय के उपरान्त शुक्लपक्ष में नियम पूर्वक वेद और कृष्णपक्ष में सम्पूर्ण वेदोंके अङ्गोंको पढ़ा करे।।९८।।

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ। न निशान्ते परिश्रान्तो-ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत्॥९९॥यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् । ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि॥१००॥

अर्थ—अस्पष्ट न पढ़े, और शूद्रों के पास बैठ कर न पढ़ा करे और प्रभात काल पढ़ कर थका हुआ फिर शयन न करे ।। ९९ ।। यथोक्त विधि से नित्य गायत्र्यादि छन्दों से युक्त मन्त्र पढ़े और द्विजमात्र अनापत्तिकाल में साधारण वेदपाठ और छन्दोयुक्त मन्त्र नियमपूर्वक पढ़ा करे ।।१००।।

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् । अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥१०१॥ कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा-पांसुसमूहने। एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाःप्रचक्षते ॥१०२॥

अर्थ—ये जो आगे कहे अनध्याय हैं इन को सर्वदा यथोक्तविधि से पढ़ने वाला और शिष्यों का पढ़ाने वाला (गुरु) छोड़ देवे।।१०१।।रात्रि में कान में शब्द करने वाले वायु के चलते हुवे और दिन में गर्द उड़ाने वाले वायु के चलते हुवे, ऐसे वर्षाऋतु में दो अनध्याय स्वाध्यायज्ञ मुनि कहते हैं।।१०२।।

"विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च संप्लवे । आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥१०३॥" एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु। तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने॥१०४॥

"अर्थ—बिजली गरजते हुए, वर्षा में, और उल्का के गिरने में, अनध्याय उस समय तक करे जिस समय तक ये उत्पात वा वर्षा होते रहैं। ऐसे मनु कहते हैं ।। (यह श्लोक भी मनुप्रोक्त स्पष्ट नहीं है) ।। १०३।। " इन विद्युदादिकों को अग्निहोत्र के होम के समय उत्पन्न होते जाने तो, न पढ़े और उसी समय में विना वर्षाऋतु के बादल दीखे तो भी अनध्यान करे।।१०४।।

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने । एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि॥१०५॥प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने। सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा॥१०६॥

अर्थ—अन्तरिक्ष में उत्पातशब्द होने और भूकम्प और सूर्यादिकों के उपद्रव में जिन ऋतुओं में भूकम्पादिक हुआ करते हों उन में भी जब तक उपद्रव रहे तब तक अनध्याय करे ।। १०५ ।। होमार्थ अग्नि प्रकट होने के समय बादल में बिजली का शब्द हो तो दिन भर का अनध्याय करे और शेष समयों वा रात्रि में पूर्वोक्त दिन के समान "आकालिक" अनध्याय करे ॥१०६॥

नित्यानध्यायएव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च। धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा॥१०७॥अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ। अनध्यायोरुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥

अर्थ—धर्म की अतिशय इच्छावालों को ग्राम वा नगर में सर्वदा अनध्याय है (किन्तु एकान्त जङ्गल में पढ़ना उत्तम है) और दुर्गन्धि में कभी पढ़ना नहीं चाहिये ।।१०७।। जिस में मुर्दा पड़ा हो ऐसे छोटे ग्राम में और अधर्मी के पास और रोते में तथा भीड़ में न पढ़े ।। १०८ ॥

"उदकेमध्यरात्रेचविण्मूत्रस्यविसर्जने। उच्छिष्टःश्राद्धभुक्चैवमनसाऽपिनचिन्तयेत् ॥१०९॥ प्रतिगृह्यद्विजोविद्वानेकोद्दिष्टस्यकेतनम्। त्र्यहंनकीर्त्तयेद्ब्रह्मराज्ञोराहोश्चसूतके ॥११०॥,,

"अर्थ—जल और मध्यरात्र में और मलमूत्र करने के समय और भोजनादि करके जूंठे मुंह और श्राद्ध में भोजन करके वेद को मन से भी याद न करे ॥ १०९ ।। विद्वान् ब्राह्मण एकोद्दिष्ट श्राद्ध का निमन्त्रण ग्रहण करके तीन दिन वेद का अध्ययन न करे और राजा के पुत्रजन्मादि के सूतक में तथा राहु के सूतक में तीन दिन अनध्याय करे ।।११०।।"

"यावदेकानुदिष्टस्यगन्धोलेपश्चतिष्ठति। विप्रस्यविदुषोदेहेतावद्ब्रह्मनकीर्त्तयेत् ॥१११॥"शयानःप्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम्। "नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेवच॥११२॥,,

अर्थ—जब तक एकोद्दिष्ट का देह में गन्ध और लेप रहता है, विद्वान् ब्राह्मण तब तक वेद न पढ़े।।१११।। लेटा हुआ और पैरों को ऊंचा किये, बैठने में दोनों पैरों को भीतर की तरफ़ मोड़े हुवे न पढ़े। "मांस तथा सूतिकियों का अन्न भोजन करके भी न पढ़े" ।। ११२ ॥

नीहारे बाणशब्दे च संध्ययोरेव चोभयोः। अमावास्याचतुर्दश्योःपौर्णमास्यष्टकासु च॥११३॥ "अमावास्यागुरुंहन्तिशिष्यं हन्तिचतुर्दशी। ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौतस्मात्ताःपरिवर्जयेत्॥११४॥"

अर्थ—कुहर में और बाणों के शब्द में तथा दोनों संध्याओं में और अमावास्या में तथा चतुर्दशी और पूर्णमासी और हेमन्त शिशिर की कृष्णा अष्टमी में न पढ़े ॥ ११३॥ "क्योंकि अमावास्या के पढ़ने में वह तिथि गुरु को नष्ट करती है। और चतुर्दशी शिष्य को और वेद को अष्टमी पौर्णमासी नष्ट करती हैं (अर्थात् भूल जाता है) ॥११४॥"

पांसुवर्षे दिशादाहे गोमायुविरुते तथा। श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद्द्विजः॥११५॥ नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा। "वसित्वामैथुनंवासःश्राद्धिकंप्रतिगृह्यच ॥११६॥"

अर्थ—धूल के बरसने में और दिशाओं के जलने में और सियारों के चिल्लाने में और कुत्ता, ऊंट, गधे इन के हल्ला करने में और पङ्क्तियों में द्विज वेद न पढ़े ॥ ११५॥ श्मशान के समीप और ग्राम के समीप तथा गोशाला में न पढ़े "और मैथुन समय के वस्त्रों को पहन कर और श्राद्धान्न को भोजन करके न पढ़े" ॥११६॥

"प्राणिवायदिवाऽप्राणियत्किंचिच्छ्राद्धिकंभवेत्। तदालभ्याप्यनध्यायःपाण्यास्योहिद्विजःस्मृतः" ॥११७॥ चौरैरुपप्लुते ग्रामे संभ्रमेचाग्निकारिते। आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषुच॥११८॥

"अर्थ—गौ अश्वादिक वा वस्त्रमाल्यादिक जो कुछ श्राद्धसंबन्धी होवे उस को हाथ से ग्रहण करके, न पढ़े। क्योंकि ब्राह्मण "पाण्यास्य" (अर्थात् हाथ ही है मुख जिस का) कहा है ॥११७॥" चोरों के उपद्रव में, ग्राम में और मकान इत्यादि जलते समय में पूर्वोक्त आकालिक अनध्याय करे और संपूर्ण अद्भुत कर्मों के होने में भी॥११८॥

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम्। अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥११९॥ नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम्। न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः॥१२०॥

अर्थ—उपाकर्म और उत्सर्ग में तीन रात्रि अनध्याय कहा है। अष्टकाओं में एक दिन रात्रि और ऋतु के अन्त की १ रात्रि में अनध्याय करे॥११९॥ घोड़े पर बैठा हुआ और वृक्ष पर चढ़ा हुआ न पढ़े और हाथी, नाव, गधा, ऊंट और ऊषर भूमि पर बैठ कर और गाड़ी आदि पर भी बैठ कर न पढ़े ॥१२०॥

न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे। न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न सूतके॥१२१॥ अतिथिं चाऽननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम्। रुधिरे च स्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते॥१२२॥

अर्थ—विवाद में, झगड़े में, सेना में, लड़ाई में और तत्काल भोजन करके तथा अजीर्ण में और वमन करके और सूतक में (इतनी अवस्थाओं में) न पढ़े ॥१२१॥ अतिथि की आज्ञा विना और वायु के बहुत प्रचण्ड चलने में और शस्त्र से वा फोड़े से शरीर से रक्त निकलने में (न पढ़े) ॥१२२॥

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन। वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च॥१२३॥ "ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः। सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याऽशुचिर्ध्वनिः॥१२४॥

अर्थ—साम की ध्वनि में ऋग्वेद और यजुर्वेद कभी न पढ़े और वेदान्त पढ़ कर वा वेद के आरण्यक को पढ़ कर (तत्काल) वेद को न पढ़े ॥१२३॥ "ऋग्वेद देवताओं का है (अर्थात् देवतासंबन्धी कर्मों का उपदेश करता है) ऐसे ही यजुर्वेद मनुष्यसंबन्धी (कर्म का उपदेश कहता है) और पितृसंबन्धी साम है। इस लिये पित्र्य कहा। इस कारण उस की ध्वनि अशुचि हैं॥१२४॥

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम्। क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते॥१२५॥ पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः। अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम्॥१२६॥

अर्थ—इस प्रकार जानने वाले विद्वान् प्रतिदिन (गायत्री ओ३म् और व्याहृति रूप) वेद के सार को क्रमपूर्वक प्रथम जपकर पश्चात् वेद को पढ़ते हैं ॥१२५॥ बैल इत्यादि पशु, मेंडक, बिल्ली, कुत्ता, सांप, नेवला, चूहा, ये पढ़ते समय गुरु शिष्य के बीच में होकर निकल जावें तो दिन रात्रि अनध्याय करे॥ (पशु आदि सदा मनुष्यों से डरते हैं और बैठे मनुष्यों के बीच में को

नहीं निकलते हैं। और जब निकलते हैं तो कुछ उपद्रव और अपवित्रता हो-जाती है। इत्यादि कारण हैं। और अगले श्लोक में मनु जी ने सब अनध्यायों को दो बातों के अन्तर्गत कर दिया है। अर्थात् एक तो जब२ पढने के स्थान में कोई बाह्य विघ्न हो, दूसरे जब२ आत्मा में व्यग्रता आजावे)॥१२६॥

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः। स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः॥१२७॥ अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्। ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः॥१२८॥

अर्थ-(वस्तुतः) दो ही अनध्याय सर्वदा यत्नपूर्वक छोड़े। एक पढ़ने की अशुद्ध जगह और दूसरे आप पढ़ने वाला द्विज अपवित्र हो, तब (अर्थात् अच्छे स्थान में और आप पवित्र हो कर पढ़े) [अनध्याय प्रकरण समाप्त हुवा] ॥१२७॥ अमावास्या अष्टमी पौर्णमासी और चतुर्दशी इन तिथियों में पूर्वोक्त स्नातक द्विज, ऋतुकाल में भी भार्या के पास न जावे ॥१२८॥

न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरो न महानिशि। न वासोभिः सहाजस्रं नाऽविज्ञाते जलाशये॥१२९॥ देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा। नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च॥१३०॥

अर्थ-भोजन करके स्नान न करे। न रोग में और न मध्यरात्र में और कपड़ों के साथ नित्य स्नान न करे और जहां पानी गहरा हो और विदित न हो, ऐसे जलाशय में स्नान न करे॥ १२९॥ देव=प्रसिद्ध २ विद्वानों और गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य, कपिल, दीक्षित; इन की छाया इच्छा से न लांघे (इस से इन का अनादर होता है) ॥१३०॥

"मध्यंदिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम्। सन्ध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम्" ॥१३१॥ उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च। श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः॥ १३२॥

"अर्थ-दोपहर दिन में और आधी रात्रि में और श्राद्ध में समांसभोजन करके और दोनों सन्ध्याओं में, चौराहे पर अधिक काल तक न रहे।"

(१०९। ११०। १११ और आधा ११२। ११३। ११४। आधा ११६। ११७। १२४। १३१ वें श्लोक प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि जल में पढ़ना किसी को इष्ट ही नहीं। मध्यरात्रि शयनार्थ है ही। विष्ठा मूत्र के त्याग समय सभी काम पूर्व निषिद्ध

कर आये फिर भला वेदपाठ का निषेध कहां रह गया ? झूंठे मुंह कहीं जाना तक निषिद्ध है, फिर वेदाध्ययन कैसा ? मांस और मृतकश्राद्ध निषिद्ध और वेदबाह्य है । ये सर्वदा ही निन्दित हैं, स्वाध्याय में क्या ? मांसभक्षण ब्रह्मचारी को विशेषतः और सामान्यतः सब ही को प्रथम निषिद्ध कर आये हैं और करेंगे, फिर मांस खाकर वेद न पढ़े, यह कथन कैसा निरङ्कुश है । अमावास्यादि का पाठ पर्व होने से ही वर्जित है । परन्तु गुरु शिष्य वा विद्या की हानि और नाश लिखना अनर्गल है ॥ ब्रह्मचारी को मैथुन ही अप्राप्त है,फिर मैथुन के वस्त्र धारे हुवे वेदपाठ निषेध की क्या आवश्यकता है ॥ प्राणिवध वर्जित है,तब वेदपाठी को उस की आशङ्का ही क्या है ॥१२४ वें में ऋग्वेद को दैव, यजुः को मानुष, साम को पित्र्य बताना सकल वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध है । न ३ वेदों में इन ३ की कोई विशेषता पाई जाती है।। १३१ वें में मांस और श्राद्धभोजी का अनध्याय प्रक्षेपक से भी पुनरुक्त है) १११ में नन्दन टीकाकार ने (गन्धोलेपश्च=स्नेहोगन्धश्च) व्याख्यात किया है। यह पाठभेद भी प्रक्षिप्तता के संशय को दृढ करता है) ।। १३१ ।। उबटन के मैल की पीठी और स्नान का पानी और मल मूत्र तथा रक्त और कफ,पीक और वमन; इन के ऊपर जान कर खड़ा न होवे ॥ १३२ ॥

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः । अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥ १३३ ॥ न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते । यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥

अर्थ-शत्रु से मेल न रक्खे और उस के सहायक से भी मेल न रक्खे और अधर्मी,चोर तथा पराई स्त्री से मेल न रक्खे ।। १३३ ।। इस प्रकार का आयु क्षय करने वाला संसार में कोई कर्म नहीं है, जैसा मनुष्य की आयु घटाने वाला दूसरे की स्त्री का सेवन है ॥१३४॥

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् । नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन॥१३५॥एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम् । तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥१३६॥

अर्थ-धर्मादिकों से वृद्धि को चाहने वाला बुद्धिमान्-क्षत्रिय सर्प और बहुश्रुत ब्राह्मण ये दुबले भी हों तौ भी इन से विगाड़ न करे-अपमान न

करे। (इन से डरता ही रहे) ॥ १३५ ॥ ये तीन अपमान करने से अपमान करने वाले को भस्म कर देते हैं, इससे बुद्धिमान् इनका अपमान न करे ॥१३६॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः । आमृत्योःश्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥१३७॥ सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८॥

अर्थ—प्रथम यत्न करने से द्रव्य न मिले, तब अपने को अभागी कह कर अपना अपमान न करे। किन्तु मरने तक सम्पत्ति के लिये यत्न करे, इस को दुर्लभ न जाने ॥१३७॥ सच बोले और प्रिय बोले और जो प्रिय न हो ऐसा सच न बोले (मौन रहे) और असत्य प्रिय भी न बोले। यह सनातन धर्म है ॥१३८॥

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत्। शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ॥ १३९ ॥ नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यंदिने स्थिते। नाऽज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैःसह ॥ १४०॥

अर्थ—भद्र भद्र (अर्थात् अच्छा बहुत अच्छा) ऐसा कहे या केवल "अच्छा" कहे, किन्तु निष्प्रयोजन वैर वा झगड़ा किसी से न करे ॥१३९॥ सबेरे उषःकाल में और प्रदोष समय में तथा दोपहर दिन को और बेजाने के साथ तथा अकेला और शूद्रों के साथ मार्ग न चले ॥ १४० ॥

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोधिकान्। रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत्॥१४१॥न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान्।न चापि पश्येदशुचिःसुस्थो ज्योतिर्गणान्दिवि१४२

अर्थ—अङ्गहीन और अधिक अङ्ग वाले और मूर्ख परन्तु वृद्ध और कुरूप तथा द्रव्यहीन और जाति से हीन, इन को ताना न दे ॥१४१॥ भोजन करके जूंठे हाथ से इन्द्रियों, ब्राह्मणों और अग्नि का स्पर्श न किया करे। व्याधिरहित पुरुष अपवित्र हुआ आकाश में सूर्यादि को न देखे ॥१४२॥

स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिःप्राणानुपस्पृशेत् । गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥१४३॥ अनातुरःस्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः। रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥१४४॥

अर्थ—यदि भूल से इन इन्द्रियादि को अपवित्र हुआ पुरुष स्पर्श करले तो आचमन कर हाथ से जल लेकर चक्षुरादि का स्पर्श करे और संपूर्णगात्र तथा नाभि को स्पर्श करना रूप प्रायश्चित्त करे ।।१४३।। स्वस्थ मनुष्य अपने इन्द्रियों और गुप्त वालों को विना निमित्त न छुवे ।। १४४ ।।

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः । जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥ मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् । जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥

अर्थ—शुभ आचार युक्त, शुचि तथा जितेन्द्रिय रहे । सर्वदा आलस्य रहित होकर जप और होम करे।।१४५।।शुभआचार युक्त और सर्वदा पवित्र रहने वाले और जप तथा होम करने वालों को उपद्रव (रोगादि) नहीं होता ।।१४६।।

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः। तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥१४७॥ वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च। अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥१४८॥

अर्थ—सर्वदा आलस्यरहित होकर यथावसर वेद ही को पढ़े क्योंकि यह ब्राह्मण का श्रेयधर्म कहा है और दूसरा धर्म इससे नीचे है ।। १४७ ।। निरन्तर वेदाभ्यास करने और शुचि रहने और तप करने और जीवों के साथ द्रोह न करने से अपने पूर्व जन्म को जान जाता है ।। १४८ ।।

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः । ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥१४९॥ सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः । पितॄंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च॥१५०॥

अर्थ—जो पूर्वजन्म को स्मरण करता हुआ पुनः नित्य वेद ही का अभ्यास करता है, वह उस वेदाभ्यास से अनन्त सुख अर्थात् मोक्ष को पाता है ।।१४९।। सविता देवताके मन्त्रोंसे और शान्ति पाठसे सर्वदा अमावास्या तथा पौर्णमासी में होम करे और हेमन्त शिशिर ऋतु की कृष्णा अष्टमी और नवमियों में यथाविधि पितरों का विशेष पूजन करे।। (नन्दन टीकाकार ने "सावित्रान्=सावित्र्या" पाठ की व्याख्या की है। जिस प्रकार नित्य भी गुरु का सत्कार करते ही हैं, परन्तु आषाढी गुरुपूर्णिमा में विशेष गुरुपूजन की रीति है। इसी प्रकार

माता पिता आदि के नित्य सत्कार के अतिरिक्त हेमन्त और शिशिर की कृष्ण पक्ष की ४ अष्टमी और ४ नवमियों में पितृपूजा का विशेष उत्सव जानो) ॥१५०॥

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् । उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥१५१॥ मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् । पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥१५२॥

अर्थ–गृह से दूर मल मूत्र करे और पैर धोना और जूठन का त्याग भी दूर ही करे ॥ १५१ ॥ मलका त्याग, शरीरशुद्धि, स्नान, दन्तधावन, अञ्जन, और देवतों के लिये होम ; ये कर्म प्रथम प्रहर में करे ॥१५२॥

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् । ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥ अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् । कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १५४ ॥

अर्थ–यज्ञशालाओं, धार्मिक ब्राह्मणों, राजा और गुरुओं के दर्शन को अपनी रक्षा के लिये और पर्वों में जावे ॥ १५३ ॥ (घर में आये) वृद्धों को नमस्कार करे और बैठने के लिये अपना आसन देवे और हाथ जोड़ कर उन के पास रहे और चलें तो उन के पीछे पीछे चले ॥ १५४ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु । धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥१५५॥ आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः । आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥१५६॥

अर्थ—वेद और स्मृति में कहा हुआ और अपने कर्मों में नियम से तथा बांधा हुवा और धर्म का मूल जो सदाचार है, उसको आलस्य रहित होकर सेवन करे ।।१५५।। आचार से आयु प्राप्त होती है और इच्छित (पुत्र पौत्रादि) सन्तति तथा अक्षय धन प्राप्त होता है और आचार अशुभ लक्षणको नष्ट करता है।। १५६।।

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः । दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥१५७॥ सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः । श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥१५८॥

अर्थ–दुष्ट आचरण करने वाला पुरुष लोक में निन्दित होता है और दुःख का भागी होता है और निरन्तर रोगी रहता है, तथा अल्पायु भी

होता है ॥ १५७ ॥ साधुओं के आचार करने वाला और श्रद्धायुक्त, दूसरे के दोषों को न कहने वाला पुरुष, चाहे संपूर्ण अन्य शुभ लक्षणों से रहित भी हो, सौ वर्ष जीता है (तात्पर्य बड़ी आयु से है) ।।१५८।।

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् । यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥१५९॥ सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् । एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥१६०॥

अर्थ—जो जो कर्म दूसरे के आधीन हैं,उन उनको यत्नसे छोड़देवे और जोजो अपने आधीन हैं,उनको यत्नसे करे।।१५९॥दूसरेके आधीन होना ही संपूर्ण दुःखहै और स्वाधीनता ही संपूर्ण सुखहै। यह सुखदुःख कासंक्षिप्त लक्षण जाने॥१६०।।

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोन्तरात्मनः। तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥१६१॥आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्। न हिंस्याद्ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः॥१६२॥

अर्थ—जिस कर्म के करने से इस कर्म करने वाले पुरुष का अन्तरात्मा प्रसन्न होवे, वह कर्म यत्नपूर्वक करे और इस के विपरीत कर्मों को छोड़ दे ।।१६१।। आचार्य और वेद की व्याख्या करने वाला और पिता, माता और गुरु तथा ब्राह्मण, गाय और संपूर्ण तपस्वी; इन को न मारे (अन्य प्राणियों की अपेक्षा ये अधिक उपकारक होने से विशेष हैं) ॥१६२।।

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्। द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥१६३॥ परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत्। अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ ॥१६४॥

अर्थ—नास्तिकता और वेद की निन्दा तथा देवतों की निन्दा,वैर, दम्भ अभिमान, क्रोध, तेज़ी; इन को छोड़ देवे ।।१६३।। दूसरे के मारने को क्रोधयुक्त हुआ दण्डा न उठावे और (दूसरे के ऊपर) लाठी न फेंके, न मारे। परन्तु पुत्र और शिष्य को छोड़ कर(इन को तो शिक्षा के लिये ताड़ना करे) ।।१६४।।

ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया । शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्त्तते ॥१६५॥ ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मति-

पूर्वकम्। एकविंशतिमाजातीःपापयोनिषु जायते ॥ १६६ ॥

अर्थ-प्राणघातके विचारसे ब्राह्मण को दण्डादि उठाने ही से द्विजाति सौ वर्ष तामिस्र=अन्ध नरक में फिराया जाता है।।१६५।।क्रोध से तृण द्वारा भी बुद्धिपूर्वक मारने से इक्कीस पापयोनियों में जन्मता है ।।१६६॥

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः। दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याऽप्राज्ञतया नरः॥१६७॥शोणितं यावतःपांसून्संगृह्णाति महीतलात् ।तावतोऽब्दानमुत्रान्यैःशोणितोत्पादकोऽद्यते॥ १६८॥

अर्थ-न लड़नेवाले ब्राह्मण के शरीरसे रक्त निकालकर मनुष्य अज्ञानके कारण परलोक में बड़ा दुःख पाताहै।।१६७।। (शस्त्रादि के मारनेसे निकला हुवा ब्राह्मण के शरीरका) रुधिर,जितने पृथ्वीके धूलके अणुओं को शोषता है, उतने वर्ष पर्यन्त मारने वाला अन्यों (कुत्ते आदि) से परलोक में खाया जाता है।।१६८॥

न कदाचिद्द्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदपि। न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्रावयेदसृक् ॥१६९॥ अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्। हिंसारतश्च यो नित्यं नेहाऽसौ सुखमेधते॥१७०॥

अर्थ-इस लिये द्विजके मारने को कभी लाठी न उठावे और न तृणादि से भी मारे और न शरीर से रक्त निकाले ।।१६९।। अधर्म करने वाला और जिस के असत्य ही धनहै और जो नित्य हिंसा करने में रत रहता है, वह पुरुष इस लोक में सुखपूर्वक नहीं बढ़ता ।।१७०।।

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् । अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥१७१॥ नाधर्मश्चरितो लोके सद्यःफलति गौरिव। शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥१७२॥

अर्थ-अधर्म करने वाले पापियों को शीघ्र विपर्यय अर्थात् उलटा फल देखता हुआ धर्म करने से पीडित होता हो तो भी मन को अधर्म में न डाले। ।। १७१ ।। इस लोक में अधर्म किया हुआ उसी समय में नहीं फलता जैसे पृथ्वी (बीज बोते ही उसी समय फल नहीं देती) परन्तु धीरे धीरे फैलता हुआ अधर्म, करने वाले की जड़ें काट देता है ।।१७२॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु । न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥ अधर्मेणैधते तावत्ततोभद्राणि पश्यति । ततःसपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥ सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा । शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ १७५ ॥ परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ । धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ १७६ ॥

अर्थ–किया हुआ अधर्म करने वाले को निष्फल नहीं होता किन्तु यदि तत्काल देह धनादि का नाश नहीं भी करे तो उस के पुत्र में सफल होता है। यदि पुत्र में न हो तो पौत्र में सफल होता है। (इस से उस को क्लेश पहुंचता है) ॥१७३॥ अधर्म से पहले तो बढ़ता है, फिर कल्याणों को देखता है (अर्थात् नौकर चाकर गाय घोड़ा इन से सुख भी पाता है) और फिर शत्रुओं को भी जीतता है परन्तु फिर पाप के परिपाकसमय मूल सहित नष्ट हो जाता है ॥१७४॥ सत्य, धर्म,सदाचार और शौच में सर्वदा प्रीति करे और धर्म से शिष्यों को शिक्षा देवे और वाणी बाहु उदर इन का संयम करे (अर्थात् सत्यभाषण, पर को पीड़ा न देना और न्यायोपार्जित अन्न का भोजन; ऐसा तीनों का संयम करे)॥ १७५ ॥ धर्मरहित जो अर्थ और काम हों उन को न सेवे (जैसे चोरी से द्रव्योपार्जन और परस्त्री से गमन) और उत्तरकाल में दुःख का देने वाला धर्म भी न करे और जिस में लोगों को क्लेश हो ऐसा धर्म भी न करे (जैसे पुत्र पौत्रादि के रहते सर्वस्व दान और पुण्य कर्म की सहायतार्थ भी किसी को अत्यन्त सताना)॥१७६॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः । न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥ १७७ ॥ येनास्य पितरोयाता येन याताःपितामहाः । तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥१७८॥

अर्थ–निष्प्रयोजन हाथ पैर वाणी से चञ्चलता न करे,कुटिल न होवे और दूसरे की बुराई की बुद्धि(नीयत)न करे॥१७७॥जिस मार्ग से इस के पिता पितामह चलते रहे हैं उसी सन्मार्ग को चले,उस में चलते को बुराई नहीं होती।१७८।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः । बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः ॥१७९॥ मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया । दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥१८०॥

अर्थ-ऋत्विक्,पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, भिक्षुकादि,बाल, वृद्ध, रोगी, वैद्य, चाचा इत्यादि, साला इत्यादि, और मा के पिता आदि।।१७९।।मा, बाप,बहन या पुत्रवधू आदि, पुत्र, स्त्री, लड़की, नौकरों से झगड़ा न करे।।१८०।।

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते । एभिर्जितैश्च जयति सर्वांल्लोकानिमान्गृही ॥१८१॥ आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः । अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः १८२

अर्थ-गृहस्थ, इन (ऋत्विगादि) के साथ विवाद को छोड़ कर सब टंटो से छूटा रहता है और इन के (विवाद की उपेक्षा) जीतने से इन सब संसारस्थ लोगों को जीत लेता है । (परन्तु जो घर में ही लड़ता है यह बाहर हारता ही है) ।।१८१।। "आचार्य" ब्रह्म=वेदलोक का स्वामीहै (उस के संतुष्ट होने से वेद प्राप्त होता है) ऐसे ही प्रजापतिलोक का " पिता " स्वामी है और "अतिथि"इन्द्रलोक का प्रभु है । देव लोक का प्रभु "ऋत्विज्" है । (इन्हीं के अनुग्रह से इन की प्राप्ति होती है ॥ पिता उत्पादकहोने से प्रजा का पति है । इन्द्रतत्त्वसम्बन्धिनी बुद्धि का उपदेशक होने से अतिथि इन्द्रलोकेश कहा । ऋत्विज् यज्ञ कराकर वायु आदि देवलोक की सद्व्यवस्था करते हैं)।। १८२।।

जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः । संबन्धिनोह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥ १८३ ॥ आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः । भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥ १८४ ॥

अर्थ-भगिनी और पुत्रवधू आदि अप्सरा लोक की स्वामिनी हैं । और वैश्वदेवलोक के बान्धव और जललोक के सम्बन्धी लोग और भूलोक के मा और मामा स्वामी हैं (इन सब की कृपा से इन की प्राप्ति होतीहै) ।।१८३।। और बालक, वृद्ध, कृश, आतुर, ये आकाश के स्वामी हैं । और ज्येष्ठ भ्राता पिता के तुल्य है । भार्या और पुत्र अपने शरीर के तुल्य हैं (इस से इन से विवाद करना उचित नहीं) ।।१८४।।

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् । तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेताऽसंज्वरः सदा॥१८५॥प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत् । प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥१८६॥

अर्थ—अपने दासवर्ग अपनी छाया के तुल्य हैं । और कन्या परम कृपापात्र है । इस से इन से कुछ बुरा कहा गया भी सर्वदा सह लेवे, बुरा न माने (यदि इस धर्म पर चलें तो आज कलकी मुक़द्दमें बाज़ी द्वारा क्यों सत्यानाश हो । पुत्रवधू आदि देववधू=उत्तमाङ्गनाओं के तुल्य होने से अप्सराओं के तुल्य घर की शोभा हैं । बान्धव लोग विश्वेदेवों के समान सर्वतः सुखदायक और सहायक हैं । साले आदि कामसुखदायक होने से जल के गुण शान्ति के दाता हैं । माता मामा आदि मातृपक्ष के पृथिवी के तुल्य उत्पत्ति की भूमि हैं ।। बाल वृद्धादि हलके होने से आकाश से हैं) ॥ १८५ ॥ प्रतिग्रह लेने को समर्थ होने पर भी उस में फंसा=आसक्त न होवे क्योंकि प्रतिग्रह लेने से वेदसम्बन्धी तेज शीघ्र नष्ट होजाता है ॥ १८६ ॥

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे । प्राज्ञःप्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥१८७॥ हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम् । प्रतिगृह्णन्नऽविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥१८८॥

अर्थ—प्रतिग्रह में द्रव्यों की धर्मयुक्त विधि को न जानकर, क्षुधा से पीडित हुआ भी बुद्धिमान् प्रतिग्रह को न लेवे ।।१८७।। अविद्वान्=वेदादि का न जानने वाला, सुवर्ण भूमि घोड़ा गाय अन्न वस्त्र तिल घृतादि को प्रतिग्रहण करता हुआ, अग्निसंयोग से लकड़ी सा जलता है ॥ १८८ ॥

हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम् । अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासोघृतं तेजस्तिलाःप्रजाः ॥१८९॥ अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः । अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति १९०

अर्थ—सुवर्ण और अन्न आयु को जलाते हैं । भूमि और गाय शरीर को जलाती हैं । अश्व आंख को और वस्त्र त्वचा को और घृत तेज को और तिल प्रजा को जलाते हैं । (अर्थात् इन के प्रतिग्रह को मूर्ख ले तो ये२ नष्ट होते हैं ।। सुवर्ण और भोजन का दान अज्ञानी को भोगासक्त करके आयु नष्ट कराता है । भूमि और गोदान अज्ञानी के मुफ़त के आकर देह क्षीण करते

हैं क्योंकि वह मिथ्याहार विहार करता है। घोड़ा और आंख दोनों इन्द्र तत्त्वप्रधान हैं। वस्त्र और त्वचा शरीर को ढांपते हैं। घृत वृथादान से मिला हुवा तेज नहीं बढ़ाता किन्तु मिथ्याप्रयुक्त हुवा तेज का नाश करता है। तिल मिथ्याप्रयुक्त हो वीर्य को बिगाड़ कर सन्तति में बाधक होते हैं) ॥१८९॥ तप से शून्य और वेदादि जिस के पठित नहीं, प्रतिग्रह लेने की इच्छा करने वाला द्विज ; पानी में पत्थर की नाव के समान साथ ही डूब जाता है ॥१९०॥

तस्मादविद्वान्बिभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात्। स्वल्पकेनाप्यऽविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥१९१॥ न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे। न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥१९२॥

अर्थ-इस लिये ऐसे वैसे प्रतिग्रह से मूर्ख, डरे। थोड़े प्रतिग्रह से भी मूर्ख फंस जाता है। जैसे कीचड़ में गौ ॥ १९१ ॥ धर्म का जानने वाला, पूर्वोक्त बैडालव्रत वाले तथा बकव्रत वाले और वेद के न जानने वाले विप्र वा द्विजनामधारी को जल भी न देवे ॥१९२॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्। दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥१९३॥ यथाप्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन्। तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥१९४॥

अर्थ-न्यायोपार्जित भी धन इन तीनों को दिया हुआ देने वाले और लेने वाले को परलोक में अनर्थ का हेतु होता है॥ १९३ ॥ जैसे पत्थर की तरणि से तरता हुआ नीचे को डूबता है वैसे ही लेने और देने वाले दोनों अज्ञानी डूबते हैं॥ (दाता को इस कारण पाप है कि मूर्खों को देकर मूर्खसंख्या की वृद्धि कराता है और लेने वाला मूर्ख जगत् का उपकार नहीं करसकता) ॥ १९४ ॥

धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिकोलोकदम्भकः । बैडालव्रतिको ज्ञेयोहिंस्रःसर्वाभिसन्धकः ॥१९५॥ अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकःस्वार्थसाधनतत्परः। शठोमिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरोद्विजः ॥१९६॥

अर्थ-(जो लोगों में प्रसिद्धि करके धर्म करता है और आप भी कहता है वा दूसरों से प्रख्यात कराता है वह) धर्मध्वजी और पर धन की इच्छा वाला और छली तथा लोगों में दम्भ फैलाने वाला, हिंसकस्वभाव वाला, दूसरे

के गुण न सहन करने वाला, बिल्ली के सा व्रत धारण करने वाला, बैडालव्रतिक मनुष्य जानिये॥ (इस से आगे चार पुस्तकों में यह श्लोक अधिक मिलता है:—

[यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरध्वज इवोच्छ्रितः।
प्रच्छिन्नानि च पापानि बैडालं नाम तद्व्रतम्॥]

जिस के धर्म का झण्डा तो देवध्वजा सा ऊंचा फहरावे, परन्तु पाप छिपाये हुवे रहें। इस के व्रत को "बैडाल" कहते हैं) ॥१९५॥ नीची दृष्टि रखने वाला, निष्ठुर, स्वार्थसाधन में तत्पर, शठ और झूंठा विनय करने वाला, ऐसा आचरण करने वाले द्विज को "बकव्रत" जानो ॥१९६॥

ये बकव्रतिनोविप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः। ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥१९७॥ न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत्। व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम्॥१९८॥

अर्थ—जो विप्र बकव्रत वाले और जो मार्जार व्रत वाले हैं वे दोनों उस पाप से अन्धतामिस्र में गिरते हैं ॥ १९७ ॥ पाप करके धर्म के बहाने से व्रत का आचरण न करे। जैसा कि व्रत से पाप को छिपा कर, स्त्री और शूद्र=मूर्खों को बहकाता हुआ लोभी रहा करता है ॥१९८॥

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः। छद्मना चरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति॥१९९॥अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण योवृत्तिमुपजीवति। स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥२००॥

अर्थ—परलोक तथा इस लोक में ऐसे विप्र ब्रह्मवादियों से निन्दित होते हैं। और छल से किया हुआ व्रत राक्षसों को पहुंचता है ॥१९९॥ जो अब्रह्मचारी आदि ब्रह्मचारी आदि का वेष धारण करके भिक्षा मांगता है, वह ब्रह्मचारी आदि के पाप को आप लेता है और कुक्कुरादि योनि में जन्म पाता है॥२००॥

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन। निपानकर्त्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते॥२०१॥यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च। अदत्तान्युपभुञ्जानएनसःस्यात्तुरीयभाक् ॥२०२॥

अर्थ—दूसरे के (हौज़) पोखर में कभी स्नान न करे। उस में स्नान करने से पोखर वाले का बुरा अंश लग जाता है॥ (इस का तात्पर्य यही है

कि जो किसी ने नित्य अपने स्नान के निमित्त पोखर (हौज़) बना रक्खा है, उस में कुछ तो नित्य एक ही मनुष्य के स्नान योग्य थोड़े जल में उस के शारीरक विकार संचित रहते हैं, वे अन्य को स्नान करने से लग जाते हैं, कुछ उसके साथ झगड़ा, लड़ाई, टंटा होना संभव है। इस के आगे एक यह श्लोक ७ पुस्तकों में अधिक भी पाया जाता है:-

[सप्तोद्धृत्यततःपिण्डान्कामंस्नायाच्चपञ्चवा ।
उदपानात्स्वयंग्राहाद्बहिःस्नात्वानदुष्यति ॥]

यदि उस पोखर से ७ वा ५ (गार के) पिण्ड निकाल देवे तो स्वयग्राह पोखरसे बाहर चाहे स्नान कर ले, दोष नहीं) ।। २०१ ॥ सवारी, शय्या, आसन,कुवा, बग़ीचा, घर; ये विना दिये भोग करने वाला, उस के स्वामी के चौथाई पाप का भागी होता है ॥२०२॥

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च । स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्त-प्रस्रवणेषु च॥२०३॥यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः। यमान्पतत्यकुर्वाणोनियमान्केवलान्भजन् ॥ २०४ ॥

अर्थ–नदी में और देव (कुदरती) सरोवर या तालाब या सर या गड्ढे या झरने का पानी आता हो; उस में सर्वदा स्नान किया करे ॥२०३॥ विद्वान् सर्वदा यमों का सेवन करे और नियमों का सेवन चाहे सर्वदा न भी करे॥ (हिंसा न करना, सत्यभाषण, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये ५ यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्राणिधान; ये ५ नियम हैं। अर्थात् नियमों से यमों को प्रधानता है) जो यमों को न करता हुआ केवल नियमों को करें वह गिर जाता है ॥

(इससे आगे निम्न लिखित चार श्लोकों में से १ श्लोक १४ पुस्तकों में,दूसरा ४ पुस्तकों में,तीसरा ११ पुस्तकोंमे और चौथा ४पुस्तकों में अधिक पाया जाताहै:-

[आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा । ध्यानं प्रसादो-माधुर्यमार्जवं च यमा दश ॥१॥ अहिसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमक-ल्पता । अस्तेयमिति पञ्चैते यमाश्चोपव्रतानि च ॥२॥ शौचमि-ज्या तपोदानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ । व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं

च नियमा दश ॥ ३ ॥ अक्रोधोगुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्। अप्रमादश्च नियमाः पञ्चैवोपव्रतानि च ॥४॥]

आनृशंस्य, क्षमा, सत्य, अहिंसा, दम, अस्पृहा, ध्यान, प्रसन्नता, मधुरता और सरलता, ये दस यम हैं ॥ १ ॥ अहिंसा, सत्यवचन, ब्रह्मचर्य, बनावट न करना, चोरीत्याग; ये ५ यम और उपव्रत भी कहाते हैं ॥ २ ॥ शौच, यज्ञ, तप, दान, स्वाध्याय, उपस्थेन्द्रिय का निग्रह, व्रत, उपवास, मौन, स्नान, ये १० नियम हैं ॥ ३ ॥ क्रोध न करना, गुरु की सेवा, शौच, हलका भोजन, प्रमाद न करना, ५ नियम और उपव्रत भी कहातेहैं) ॥२०४॥

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा। स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणःक्वचित् ॥२०५॥ अश्लीलमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः। प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥२०६॥

अर्थ—जिस यज्ञ में आचार्य वेदपाठी न हो और जो समस्त ग्राम भर अध्वर्यु हो तथा स्त्री वा नपुंसक होता हो, ऐसे यज्ञ में ब्राह्मण कभी न भोजन करे (करने से बड़प्पन की हानि है) ॥२०५ ॥ जिस यज्ञ में पूर्वोक्त काम करते हैं वह सज्जनों को बुरा लगने वाला और विद्वानों को अप्रिय है । इस से उस में भोजन न करे ॥२०६॥

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन । केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥२०७॥ भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया। पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८॥

अर्थ—उन्मत्त,क्रोधी, रोगी, इन का तथा केश वा कीड़ों के मिलने से दुष्ट हुआ, और इच्छा से पैर लगाया अन्न, कभी भोजन न करे ॥२०७॥ भ्रूणहत्यारों का देखा हुआ और रजस्वला का छुवा हुआ और कौवादि पक्षियों का चाटा हुआ और कुत्ते का छुवा हुआ (अन्न भोजन न करे) ॥२०८॥

गवा चान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः । गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥२०९॥स्तेनगायकयोश्चान्नं तक्ष्णोवार्धुषिकस्य च। दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्यनिगडस्य च॥२१०॥

अर्थ—गौ का सूंघा हुआ और विशेष घोटा हुवा हलवा आदि अथवा

"कोई है ? जो ले, और खावे" ऐसे पुकार के दिया हुवा और समुदाय का अन्न तथा वेश्या का अन्न और विद्वानों का निन्दित;(ऐसे अन्न का भोजन न करे) ।। २०९ ।। चोर, गवय्या, तक्षवृत्ति=बढई, वृद्धि=व्याज का उपजीवन करने वाले, दीक्षित, कृपण तथा बन्धुवे का (अन्न भोजन न करे) ।। २१० ।।

अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च । शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ।। २११।। चिकित्सकस्य मृगयोःक्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः । उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम्

अर्थ—पातकों से लोगों में प्रसिद्ध हुवे का, नपुंसक का, व्यभिचारिणी का दम्भी पूर्वोक्त बैडालव्रत वालों का, और ख़मीर वाला खट्टा अन्न और बासी तथा शूद्र का भोजन करके बचा हुआ अन्न, भोजन न करे ।।२११।। वैद्य का शिकारी का, क्रूर (बदमिज़ाज) का, जूंठन खाने वाले का, उग्र स्वभाव का, सूतिका का, एक के अपमान में दूसरा भोजन करे वह अन्न, और सूतक निवृत्ति न हुवे का अन्न (न भोजन करे) ।।२१२।।

अनर्चितं वृथा मांसमवीरायाश्च योषितः । द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ।।२१३।। पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा । शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ।। २१४।।

अर्थ—विना सत्कार के दिया हुवा,वृथा अन्न,मांस,जिस स्त्री के पति पुत्र न हों उस का अन्न,शत्रु का अन्न, ग्रामाधिपति का अन्न,जाति से निकाले का अन्न,छींका हुआ अन्न ॥ (३ पुस्तकों में नगर्यन्नं=कदर्यान्नं पाठ है। यही अच्छा भी प्रतीत होता है) ।।२१३।। चुगल का अन्न,झूंठी गवाही देने वाले का अन्न और यज्ञ बेचने वाले,नट,सौचिक=दर्ज़ी,कृतघ्न; इन का अन्न(न भोजन करे)।।२१४।।

कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च । सुवर्णकर्तुर्वैणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ।।२१५।। श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च । रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ।।२१६।।

अर्थ—लोहार,निषाद,तमाशा करने वाले,सोनार, बांस का काम बनाने वाले, शस्त्र बेचने वाले; (इन का अन्न भोजन न करे) ।।२१५।। कुत्ते पालने वाले,कलाल,धोबी,रंगरेज़,निर्दयी,जिस के मकान में जार हो अर्थात् जिस की स्त्री व्यभिचारणी हो उस का अन्न; (इन सब का अन्न भोजन न करे) ।।२१६।।

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः। अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७॥ राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम्। आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥२१८॥

अर्थ—जो (घर में) स्त्री के जार को (जान कर) सहन करते हैं उन का अन्न और जो सब प्रकार स्त्री के आधीन हैं उन का, दशाह के भीतर जो सूतकान्न है वह, और तृप्ति का न करने वाला अन्न (भोजन न करे) ॥ २१७ ॥ राजा का अन्न तेज को ले लेता है और शूद्र का अन्न ब्रह्मसम्बन्धी तेज को और स्वर्णकार का अन्न आयु को और चमार का यश को ॥ २१८ ॥

कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च। गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति॥२१९॥पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्।विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम्२२०

अर्थ—बढ़ई का अन्न सन्तति का नाश करता है। धोबी का बलनाश और समुदाय तथा गणिका का अन्न लोकों का नाश करता है (अप्रतिष्ठित है) ॥२१९॥ वैद्य का अन्न पीप समान है और वेश्या का अन्न इन्द्रियसम है और व्याजवृद्धिजीवी का अन्न विष्ठा और शस्त्र बेचने वाले का अन्न शरीर के मैल के समान है॥२२०॥

य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः। तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः॥२२१॥भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम्। मत्या भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च ॥२२२॥

अर्थ—जो ये और दूसरे जिन के अन्न क्रम से भोजनयोग्य नहीं, उन के अन्न को मनीषी लोग त्वचा हड्डी रोम के समान कहते हैं ॥ (इससे आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:—

[अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नं पयः स्मृतम्।
वैश्यान्नमन्नमित्याहुः शूद्रस्य रुधिरं स्मृतम्]

ब्राह्मण का अन्न अमृत, क्षत्रिय का दूध, वैश्य का अन्न और शूद्र का रुधिर के समान है॥ इसी से हम को यह भी शङ्का होती है कि अन्य श्लोक भी जो भिन्न २ अन्नों को भिन्न २ निन्दनीय उपमा देते हैं, कदाचित् पीछे ही

से निन्दार्थवाद के लिये बढाये गये हों। परन्तु आशय कुछ बुरा नहीं है) ॥२२१॥ इनमें से किसीका अन्न विना जाने भोजन करे तो तीन दिन उपवास प्रायश्चित्त करे और जान कर भोजन करे तो कृच्छ्र व्रत करे। ऐसे ही विना जाने वीर्य मल मूत्र के भक्षण में भी (कृच्छ्रव्रत करे) ॥२२२॥

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानऽश्राद्धिनोद्विजः। आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥२२३॥ श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः। मीमांसित्वोभयं देवाःसममन्नमकल्पयन् ॥२२४॥

अर्थ—विद्वान् ब्राह्मण, श्रद्धा से शून्य शूद्र का पक्वान्न भोजन न करे परन्तु विना लिये काम न चले तो कच्चा अन्न एक दिन के निर्वाह मात्र इस से ले लेवे॥ (नन्दन टीकाकार ने "अश्राद्धिनः" पाठ माना है और उत्तम भी यही है। तथा मेधातिथि सब से प्राचीन भाष्यकार ने भी इस पाठान्तर का वर्णन किया है। और अगले श्लोक में भी श्रद्धा की प्रधानता का वर्णन है। सर्वज्ञनारायण भाष्यकार भी श्रद्धा अर्थ करते हैं। नन्दन टीकाकार यह भी कहते हैं कि "श्रद्धारहित शूद्र का पक्वान्न न खावे, इस कहने से श्रद्धालु शूद्र का पक्वान्न ग्राह्य समझना चाहिये"। इससे आगे एक श्लोक १ पुस्तक में और रामचन्द्र के टीके में जो सब से नवीन है, पाया जाता है:—

[चन्द्रसूर्यग्रहेनाद्यादद्यात्स्नात्वा तु मुक्तयोः।
अमुक्तयोरगतयोरद्याच्चैव परेऽहनि ॥]

चन्द्र सूर्य के ग्रहण में भोजन न करे। जब ग्रहण होकर चन्द्र वा सूर्य मुक्त हो जावें तब स्नान करके भोजन करे। यदि विना मुक्त हुवे छिप जावें तो अगले दिन भोजन करे॥ यह लीला ग्रहण में भोजन न करने की चाल को पुष्ट करने के लिये की गई जान पड़ती है) ॥२२३॥ श्रोत्रिय कृपण और दाता वृद्धिजीवी, इन दोनों के गुण दोषों को विचार कर देवता लोग दोनों के अन्नोंको समान कहते थे (इस पर—॥२२४॥

(२०५ से २२४ तक जिन २ के अन्न अभक्ष्य कहे हैं। उन में कारणों से दोष हैं। कहीं तो अन्न में दोष की सम्भावना है। कहीं अन्न वाले की वृत्ति वा जीविका निन्दित है। कहीं उस का अन्न खाने में अपने ऊपर उस का दबाव रहना अनुचित है। कुछ २ अत्युक्ति भी है। कई जगह नवीन

श्लोक भी मिलाये गये हैं जो सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते। कहीं २ उस २ का अन्न खाने से अपने गौरव=बड़प्पन का नाश है। कहीं अवेदवित् के कराये वेदविरुद्ध यज्ञ की निन्दार्थ ही उस यज्ञ का अन्न वर्जित है। कहीं कच्चे अन्न में न्यून विकार और पक्के में अधिक विकार वा संसर्गदोष लगना कारण है। कहीं अपनी उच्चता की रक्षामात्र ही तात्पर्य है। और जो २ यहां गिनाये हैं, उनके अतिरिक्त भी जहां २ हानि का कारण उपस्थित हो वहां २ का अन्न त्याज्य और जो त्याज्य गिनाये हैं इन में हानि की संभावना न हो तो ग्राह्य समझना चाहिये। कारण को प्रधान समझना बुद्धिमानों का काम है। यह भोजन (नोंता जीमने) का बहुत प्रपञ्च इसलिये कहा है कि जो पुरुष अत्यन्त शुद्ध पवित्र धर्मात्मा आत्मा की उन्नति का चाहने वाला द्विजोत्तम है, उसे सूक्ष्म से सूक्ष्म भी कोई बुराई न लगने पावे। राजा के अन्नत्याग का तात्पर्य अपने से अति अधिकप्रभुता रखने वाले मात्र के अन्न का त्याग है। उसके भोजन करने से अपना महत्त्व घटता है। महत्त्व और तेज के घटने से धर्म कर्म का उत्साह भी कम होजाता है। शूद्र के अन्न से नीचपन आकर उत्तमता घटती है। सुवर्ण की चोरी महापातक है, और सुनार प्रायः उसे कर सकते हैं। इस से उस का अन्न दुराचारप्रवर्त्तक होने से आयु का नाशक है। बढई प्रायः हरे वृक्षों को भी लोभ से काटते हैं। उनके अन्न से सन्तति पर प्रभाव पड़ना सम्भव है। धोबी कपड़े के और अपने बल का घटाने वाला है। समुदाय और वेश्या से वृथाऽऽगत धन बहुत मिलना संभव है, उस से जैसे शहद की लोभी मक्खी उड़ती नहीं, मर रहती है, वैसे फंसना सम्भव है। चिकित्सक चीर फाड़ करने वाले वैद्य की वृत्ति निर्घृण होजाती है। व्याज वाला वृद्धि ही प्रतिक्षण सोचता है। शस्त्र बेचने वाला एक क्रूरजीविका करता है। इत्यादि कारण स्वयं विचारणीय हैं) ॥२२४॥

तान्प्रजापतिराहैत्य मा कृध्वं विषमं समम्। श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ २२५ ॥ श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः। श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥

अर्थ— ब्रह्मा उन देवतों के पास आकर बोले कि तुम लोग विषम को

सम मत करो । क्योंकि वृद्धिजीवी दाता का अन्न श्रद्धा से पवित्र होता है और कृपण श्रोत्रिय का अश्रद्धा से अपवित्र (सम नहीं) हत है ।।२२५।। श्रद्धा से यज्ञादि और कूपतड़ागादि को आलस्यरहित होकर सर्वदा बनावे । न्यायार्जित धनों से श्रद्धा से किये हुए ये कर्म अक्षय होते हैं ।।२२६।।

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम् । परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः।।२२७।।यत्किंचिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया। उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ।।२२८।।

अर्थ—आनन्द से युक्त होकर योग्य पात्र को पाकर यथाशक्ति यज्ञादि और कूपतड़ागादि दान धर्मों को सदा करे ।।२२७।।

(२२७ से आगे केवल एक पुस्तक में ये दो श्लोक अधिक पाये गये हैं:—

[पात्रभूतो हि यो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम् । असत्सु विनियुञ्जीत तस्मै देयं न किञ्चन ।। संचयं कुरुते यस्तु प्रतिगृह्य समन्ततः। धर्मार्थं नोपयुङ्क्ते च न तं तस्करमर्चयेत् ।।]

जो ब्राह्मण दानपात्र बना हुआ प्रतिग्रह लेकर बुरे कामों में लगाता हो उसे कुछ न दे।। जो चारों ओर से प्रतिग्रह लेकर धन संचय करे परन्तु धर्म के कामों में न लगावे उस तस्कर को न पूजे) ।।२२७।। दोष न लगा कर कोई अपने से कुछ मांगे तो यथाशक्ति कुछ न कुछ देवे ही, क्योंकि देने वाले को वह पात्र भी कभी मिल जावेगा जो कि सब से तार देगा ।।२२८।।

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः। तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम्।।२२९।। भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः । गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम्।।२३०।।

अर्थ—जल देने वाला तृप्ति को पाता है और अन्न का देनेवाला अक्षय सुख और तिल का देनेवाला यथेच्छित सन्तान और दीपक देने वाला अच्छी आंख पाता है ।।२२९।। भूमि देने वाला भूमि पाता है और सोना देने वाला दीर्घआयु । घर देने वाला अच्छे महल। चांदी देने वाला अच्छा रूप पाता है ।। (एक पुस्तक में भूमिमाप्नोति=सर्वमाप्नोति पाठ है) ।। २३० ।।

वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः । अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदोब्रध्नस्य विष्टपम् ॥२३१॥ यानशय्याप्रदोभार्यामैश्वर्यमभयप्रदः । धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदोब्रह्मसार्ष्टिताम् २३२

अर्थ—वस्त्र देने वाला चन्द्रसमान लोक=शरीर पाता है । घोड़े का देने वाला अश्व वालों की जगह पाता है । बैल का देने वाला बहुत सम्पत्ति पाता है । और गौ देने वाला सूर्य के तुल्य प्रकाश को पाता है ॥ (एक पुस्तक में अश्विसालोक्यं=सूर्यसालोक्यं पाठ है) ॥ २३१ ॥ सवारी और शय्या का देने वाला भार्या को पाता है और अभय का देने वाला राज्य पाता है । धान्य देने वाला निरन्तर सुख पाता है और वेद देने वाला ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥२३२॥

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते । वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥२३३॥ येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति । तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥२३४॥

अर्थ—जल अन्न गाय भूमि वस्त्र तिल सुवर्ण घृत ; इन सब दानों से ब्रह्मदान अर्थात् वेद का पढ़ाना अधिक है ॥ २३३ ॥ जिस जिस भाव से जो जो दान देता है उसी उसी भाव से दिया हुआ सत्कारपूर्वक पाता है ॥२३४॥

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च । तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ २३५ ॥ न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वाच नानृतम् । नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्वा परिकीर्तयेत् ॥२३६॥

अर्थ—जो सत्कारपूर्वक दान लेता है और जो सत्कारपूर्वक देता है, वे दोनों स्वर्ग में जाते हैं और उस के विपरीत करने वाले दोनों नरक में जाते हैं ॥ २३५ ॥

(२२७ से २३५ तक दान का माहात्म्य है । जल प्रत्यक्ष तृप्ति का हेतु है । अन्नभोजन से जैसा सुख मिलना प्रसिद्ध है वैसा अन्य पदार्थ से नहीं । तिलों में सन्तानोत्पादन का प्रभाव है । जब स्त्रियों का रज रुक जाता है वा सन्तानोत्पत्ति में बाधा होती है तब वैद्य तिलप्रधान भोजन बताते हैं । जैसे गाली देने वाले गाली खाते हैं । वैसे जो अन्यों के लिये भलाई करेगा वह परमात्मा की व्यवस्था से वैसी ही भलाई पावेगा । सोने के वर्क खाने

से आयु बढ़ना वैद्यक का भी मत है। जैसे पृथिवी को किसान बीज देते हैं, पृथिवी उन्हें बीज देती है। कूप लोगों को जल देता है तो उस का जल बढ़ता है। चन्द्रमा का रूप सौन्दर्य उपमा में भी लिया जाता है। वस्त्र की श्वेतता प्रशंसनीय है और चन्द्रमा की भी। बैल कृष्यादि से वैश्य की लक्ष्मी बढ़ाने वाले हैं। दान के परिमाणानुसार फल का परिमाण वा देशकाल वस्तु श्रद्धा आदि के अनुसार फल की न्यूनाधिकता माननी ही पड़ेगी) ॥२३५॥

तप करके आश्चर्य न करे (कि मेरा तप बहुत है) और यज्ञ करके असत्य न बोले (कि मैंने यह किया और वह किया) और पीडित होने पर भी विप्रों की निन्दा न करे और दान देकर चारों ओर (लोगों से) कहता न फिरे ॥ २३६ ॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपःक्षरति विस्मयात्। आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥२३७॥ धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः। परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥२३८॥

अर्थ—असत्यभाषण से यज्ञ नष्ट होता है और विस्मय से तप तथा ब्राह्मणों की निन्दा से आयु और चारों ओर कहने से दान घटता है ॥२३७॥ परलोक के हित के लिये सम्पूर्ण जीवों को पीड़ा न देता हुआ, धीरे धीरे धर्म को संचित करे, जैसे दीमक बंबी को बनाती हैं ॥२३८॥

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः। न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥ एकः प्रजायते जन्तुरेकएव प्रलीयते। एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकएव च दुष्कृतम् ॥२४०॥

अर्थ—परलोक में सहाय के लिये मा बाप नहीं रहते और न पुत्र न स्त्री। केवल एक धर्म रहता है ॥२३९॥ अकेला ही जीव उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है और अकेला ही सुकृत का भोग करता है और अकेला ही दुष्कृत का भोग करता है (साथी कोई काम नहीं देता) ॥२४०॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ। विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥२४१॥ तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः। धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥२४२॥

अर्थ—लकड़ी और ढेला सा मृतक शरीर को भूमि पर छोड़ कर बान्धव पीछे लौट आते हैं। (उस मरे के पीछे कोई नहीं जाता) धर्म उसके पीछे जाता है ॥२४१॥ इस कारण धर्मको सहाय के लिये सर्वदा धीरे२ संचित करे क्योंकि धर्म ही की सहायता से अति कठिन दुःख से तरता है ॥२४२॥

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम्। परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥२४३॥ उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं संबन्धानाचरेत्सह। निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४ ॥

अर्थ—तप से नष्ट हुआ है पाप जिस का ऐसे धर्मपरायण प्रकाशयुक्त मुक्तस्वरूप पुरुष को धर्म शीघ्र मोक्षधाम को लेजाता है ॥ २४३ ॥ कुल को उन्नत करने की इच्छा करने वाला सर्वदा अच्छे २ पुरुषों के साथ (कन्यादानादि) संबन्ध करे और अधम अधम मनुष्यों के साथ छोड़ देवे (न करे)॥२४४॥

उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्च वर्जयन्। ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥२४५॥ दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन्। अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥२४६॥

अर्थ—क्योंकि उत्तम पुरुषों से संबन्ध करने और हीनों के त्याग से ब्राह्मण श्रेष्ठता को पाता है। नीच संबन्धों से नीचता को प्राप्त होजाता है ॥२४५॥ दृढ़ वृत्ति वाला और निष्ठुरतारहित और शीत उष्ण का सहन करने वाला, क्रूर आचरण वाले पुरुषों का संबन्ध छोड़ता हुआ और हिंसारहित पुरुष दम=इन्द्रियसंयमरूप और दान, इन कर्मों से स्वर्ग को जीतता है ॥२४६॥

"एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत्। सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥२४७॥ आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम्। मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८॥"

"अर्थ—इन्धन, जल, मूल, फल अन्न और अभयदक्षिणा; ये विना मांगे प्राप्त हों तो सब से ग्रहण कर ले॥२४७॥ लेआई और सामने रक्खी, लेने वाले ने पूर्व न मांगी हुई भिक्षा पापकारी से भी ग्रहण करे, यह ब्रह्मा माना है॥२४८॥"

"नाश्नन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च। न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥२४९॥ [चिकित्सककृतघ्नानां शिल्पकर्त्तु-

श्चवार्धुषेः । षण्ढस्यकुलटायाश्चउद्यतामपिवर्जयेत् ॥ न विद्यमानमेवैवं प्रतिग्राह्यं विजानता । विकल्प्याविद्यमाने तु धर्महीनःप्रकीर्त्तितः ॥] शय्यांगृहान्कुशान्गन्धानपःपुष्पंमणिन्दधि । धानामत्स्यान्पयोमांसंशाकंचैवननिर्नुदेत्॥२५०॥"

उस के किये श्राद्ध में पितर पंद्रह वर्ष भोजन नहीं करते और अग्नि उसके हवि को ग्रहण नहीं करता जो कि अयाचित भिक्षा का अपमान करता है।।२४९।।

(वैद्य कृतघ्न शिल्पी व्याजजीवी नपुंसक और वेश्या का प्रतिग्रह विना मांगे मिलने पर भी न ले ।। यह प्रतिग्रह जान बूझ कर अपने पास होते हुवे न ले परन्तु न होते हुवे लेने में विकल्प करने से धर्महीन होजाता है ।। इन दोनों श्लोकों पर सब से पिछले रामचन्द्र टीकाकार की टीका है । मेधातिथि आदि अन्य ५ की नहीं । इस से नूतन काल में ही इन का मिलाया जाना पाया जाता है । पिछले अगले श्लोकों से सम्बन्ध ऐसा मिलाया है कि कोई जानने न पावे । इन दो में से पहला श्लोक ११ पुस्तकों में पाया जाता है और दो पुस्तकों में कुछ २ पाठान्तर से पाया जाता है। तथा दूसरा श्लोक केवल एक पुस्तक में ही मिलता है) ।।२४९।।

"शय्या घर कुशा गन्ध जल पुष्प मणि दधि धाना मत्स्य दूध मांस और शाक; इन का प्रत्याख्यान न करे (अर्थात् कोई देवे तो न लौटावे) ।।२५०॥"

"गुरून्भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन्देवतातिथीन्।सर्वतःप्रतिगृह्णीयान्नतुतृप्येत्स्वयंततः ॥ २५१ ॥ गुरुषुत्वभ्यतीतेषुविनावातैर्गृहेवसन्। आत्मनोवृत्तिमन्विच्छन्गृह्णीयात्साधुतःसदा,,॥२५२॥

"अर्थ-गुरु और भृत्य भार्यादि क्षुधा से पीडित हों तो इन की तृप्ति के लिये और देवता अतिथि के पूजन को सब से ग्रहण करे परन्तु आप उस में से भोजन न करे ।।२५१।। परन्तु माता पिता के मरने पर वा उन के विना घर में रहता हुआ अपनी वृत्ति की इच्छा करता हुआ निरन्तर साधु से ही ग्रहण करे ॥ २५२ ।।"

"आर्धिकःकुलमित्रंचगोपालोदासनापितौ । एतेशूद्रेषुभोज्यान्नायश्चात्मानंनिवेदयेत्॥२५३॥,,यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम्।यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत्॥२५४॥

अर्थ—आधी साझे की खेती आदि करने वाला और कुलमित्र और गोपाल तथा दास और नापित; ये शूद्रों में भोज्यान्न हैं (अर्थात् इन का अन्न भोजनयोग्य है और जो अपने को निवेदन करे (उस का भी अन्न भोजनयोग्य है) ॥२५३॥

(सब का जल पीना विना मांगे मिलने पर भी अपेय है। और इस २४७ वें में तौ मूल फल अन्न सभी विना मांगे स्वयं कोई कहे कि "लीजिये" तौ गड़प करना विधान करके पिछली कही सारी शुद्धि पर पानी फेर दिया। २४८ वें में दुष्कृतकर्मा को भी अयाचित भिक्षा का ग्रहण अनुचित है। प्रथम तौ अयाचित का नाम भिक्षा रखना ही अनर्गल है। और श्लोक बनाने वाले को अपने हृदय में भी घृणा और त्याज्य होने का सन्देह है, उसी को दबाता हुवा कहता है कि इस को "प्रजापति ने ग्राह्य माना है" अर्थात् मेरा कहना तुम न मानो तौ प्रजापति की अनुमति तौ माननी ही चाहिये। धन्य! २४९ में कहा है कि जो अयाचित भिक्षा का अनादर करता है, उसके पितर और अग्नि १५ वर्ष तक कव्य हव्य नहीं खाते। मरे पितरों की दशा तौ श्लोक बनाने वाला जाने, परन्तु जीते पितर और अग्नि तौ खाते प्रत्यक्ष दीखते हैं। तथा मनु ने ही जब कि दान लेने से न लेने को उत्तम लिखा है कि (प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते) वा (प्रतिग्रहः प्रत्यवरः) दान लेना हलका तुच्छ काम है। तौ न लेनेवाले को ऐसा भ्रष्ट बताना कि उस का हव्य अग्नि भी नहीं ग्रहण करता, कैसे अन्धेर की बात है। २५० में पाठभेद भी है। ३ पुस्तकों में (मणीन्=फलम्) पाठ है। और मछली को इस श्लोक बनाने वाले का जी ऐसा ललचगया कि प्रक्षिप्त श्लोकों में ही अध्याय ५ श्लोक १५ में मछली को खाना सर्वभक्षीपना होने से वर्ज्य बतावेंगे, उसे भी भूल गया। वा इन प्रक्षिप्तों का कर्त्ता भी एक पुरुष नहीं किन्तु अनेकों ने भिन्न २ समयोंमें ये श्लोक मिलाये हैं। और चोर को सुधि भी नहीं रहती कि आगे पीछे क्या है। २५१ में सब का प्रतिग्रह माता पिता आदि तथा देवता अतिथि की पूजार्थ ग्राह्य कर दिया। भला जो अपना पेट नहीं भरसकता, न अपने माता पिता का, उसके अतिथि क्यों आने लगा है। स्नातक विप्र की वृत्तियों का वर्णन करते हुए खेती वाणिज्यादि जब उसका कर्म ही नहींतब २५३ वें का यह कहना कि आधा साझा खेती व्यापारादि में जिनका हो, इत्यादि शूद्रों का अन्न भी भक्ष्य है, असंगत है। और खेती वैश्यकर्म है, शूद्रकर्म नहीं। २४९ के आगे जो दो श्लोक सब पुस्तकों में भी नहीं मिलते, वे भी

अपने साथियों के प्रक्षिप्त होने के संशय को दृढ़ करते हैं और २४६ का २५४ से सम्बन्ध भी नहीं बिगड़ता। इत्यादि कारणों से हमारी सम्मति में २४७ से २५३=७ श्लोक प्रक्षिप्त हैं) ॥२५३॥ जैसा इस का आत्मा हो और इस को करना हो और जैसी इस की कोई सेवा करे वैसा ही अपने को निवेदन करे ॥२५४॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते। स पापकृत्तमो लोके स्तेनआत्मापहारकः ॥ २५५ ॥ वाच्यर्था नियताःसर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः। तां तु यःस्तेनयेद्वाचं ससर्वस्तेयकृन्नरः

अर्थ—जो अपने को और कुछ बलाता है और है कुछ और, वह लोगों में बड़ा पाप करने वाला आत्मा का चुराने वाला चोर है। ॥२५५॥ सम्पूर्ण अर्थ वाणी में बन्धे हैं और सब का मूल वाणी ही है और सब वाणी ही से निकले हैं, उस वाणी को जो चुरावे वह मनुष्य सम्पूर्ण चोरियों का करने वाला है ॥२५६॥

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि। पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्मध्यस्थमाश्रितः ॥२५७॥ एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्तेहितमात्मनः।एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति॥

अर्थ—ऋषि पितर देवता इन का ऋण देकर और यथाविधि पुत्र को कुटुम्ब भार सौंपकर, समदर्शी होकर रहे ॥२५७॥ निर्जन स्थान में अकेला आत्मा का हितचिन्तन करे। अकेला ध्यान करता हुआ परम श्रेय (मोक्ष) को पाता है ॥२५८॥

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती। स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरःशुभः॥२५९॥ अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित्। व्यपेतकल्मषोनित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

इतिमानवेधर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां) चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

अर्थ—यह गृहस्थ ब्राह्मण की सनातन वृत्ति कही और स्नातक का व्रत और कल्प जो शुभ गुण की वृद्धि करता है, कहा ॥ २५९ ॥ वेद शास्त्र का जानने वाला विप्र इस शास्त्रोक्त आचार से नित्यकर्म अनुष्ठान करता हुआ पाप को नष्ट कर ब्रह्मलोक में बड़ाई को पाता है ॥२६०॥

इति श्रीतुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

ओ३म्

अथ पञ्चमोऽध्यायः।

"श्रुत्वैतानृषयोधर्मान्स्नातकस्ययथोदितान्। इदमूचुर्महात्मा-नमनलप्रभवंभृगुम् ॥१॥ एवंयथोक्तंविप्राणांस्वधर्ममनुतिष्ठ-ताम्। कथंमृत्युःप्रभवतिवेदशास्त्रविदांप्रभो ॥ २ ॥"

"अर्थ—ऋषि लोग स्नातक के यथोदित धर्म सुनकर महात्मा अग्निवंशी भृगु के प्रति यह वचन बोले ॥१॥ (कि) हे प्रभु! जो ब्राह्मण स्वधर्म को करते हैं और वेद शास्त्र के जानने वाले हैं, ऐसे विप्रों का मृत्यु कैसे होजाता है (अर्थात् अधर्म ही अकालमृत्यु का हेतु है तब धर्म पर रहने वालों का पूर्ण आयु होने विना क्यों मृत्यु हो जाता है?) ॥ २ ॥"

'सतानुवाचधर्मात्मामहर्षीन्मानवोभृगुः। श्रूयतांयेनदोषेणमृ-त्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ३ ॥" अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्। आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥४॥

"अर्थ—मनु के पुत्र भृगु जी उन महर्षियों के प्रति बोले कि सुनिये, जिस दोष से मृत्यु (अकाल में) विप्रों को मारना चाहता है" (इन श्लोकों से यह स्पष्ट पाया जाता है कि इन का कर्त्ता मनु नहीं है, न भृगु। किन्तु किसी ने (विप्राञ्जिघांसति) इन ४ र्थ श्लोक में आये पदों की सङ्गति मिलाकर ये श्लोक बना दिये हैं) ॥३॥" वेदों के अनभ्यास से और आचार के छोड़ने से तथा सत्कर्मों में आलस्य करने से और अन्न के दोष से मृत्यु विप्रों को मारना चाहता है (आगे अन्न दोष बताते हैं:-)॥४॥

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च। अभक्ष्याणि द्विजाती-नाममेध्यप्रभवाणि च ॥ ५ ॥ लोहितान्वृक्षनिर्यासान्वृश्चन-प्रभवांस्तथा। शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥

अर्थ—लहसन गाजर पियाज कुकुरमुत्ता और जो मैले में उत्पन्न हों, द्विजातियों को अभक्ष्य हैं ॥ ५ ॥ रक्तवर्ण वृक्षों के गोंद और वृक्षों के छेदने से

जो रस निकलता है वह तथा लिसोड़ा—लभेड़ा और नवीन बियाई हुई गाय का दूध यत्न से छोड़ देवे ॥६॥

" वृथाकृसरसंयावंपायसापूपमेवच । अनुपाकृतमांसानिदेवान्नानिहवींषिच ॥ ७ ॥" अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा । आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोःपयः ॥ ८ ॥

"अर्थ—तिल चावल मिला कर पकाये को कृसरसंयाव कहते हैं, लपसी वा खीर तथा मालपूआ ये सब वृथा पक्कान्न (अर्थात् विना वैश्वदेव) छोड़देवे और वैसे ही बलि विना मांसको छोड़ देवे और हवनके पुरोडाशों को (न भक्षण करे)।।७।।

(जब कि बलिवैश्वदेवादि न करके भोजनमात्र ही पूर्व निषिद्ध कर आये, तब तिल चावल लपसी पूड़े मांस हव्य आदि के गिनाने की क्या आवश्यकता है? क्या अन्य वस्तु खाने पकाने में वैश्वदेवादि आवश्यक नहीं ? यह मांसाहारियों की लीला प्रक्षिप्त है । एक पुस्तक में (पूपमेवच=पूपशष्कुली) पाठभेद भी है) ।। ७ ।। १० दिन तक प्रसूता गौ का दूध तथा ऊंटिनी, घोड़ी आदि एक खुरवाली और भेड़ और ऋतुमती का दूध, तथा जिस का बच्चा मरगया हो उस गौ का दूध छोड़ देवे ॥८॥

(इस से आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:—

[क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः।
सप्तरात्रव्रतं कुर्यात्प्रयत्नेन समाहितः ।]

जो दूध अभक्ष्य हैं उन की बनी वस्तु खालेवे तो जानने पर एकाग्रता से यत्नपूर्वक ७ रात्रि का व्रत करे) ॥८॥

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना । स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥९॥ दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम् । यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैःशुभैः ॥१०॥

अर्थ—वन में रहने वाले सब मृगों का दुग्ध परन्तु भैंस का छोड़ कर, न पीवे और स्त्रीदुग्ध तथा बहुत समय के खट्टे हुवे सब पदार्थ भी न खावे, पीवे ॥९॥ खट्टे हुवे द्रव्यों में दही और मट्ठा और जो दही में बने पकौड़ी आदि तथा उत्तम पुष्प मूल फल के संधान से जो पदार्थ बनते हैं, वे भक्षणयोग्य हैं ।।१०।।

(इन अभक्ष्यों में कोई दुर्गन्धियुक्त,कोई गाजर आदि कामोत्तेजक होकर विषयी बना केवल वीर्यनाशक,कोई तमोगुणी बुद्धिनाशक हैं। और यदि कहीं म्लेच्छादि अभक्ष्यभक्षियों की दीर्घ आयु और फलादि शुद्ध सात्विकादि खाने वालोंकी भी अल्प आयु देखतेहैं। वह अन्यकारणोंसे हो ही सकतीहै) ।।१०।।

"क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वांस्तथाग्रामनिवासिनः। अनिर्दिष्टांश्चैक-शफांष्टिट्टिभंचविवर्जयेत् ॥११॥ कलविङ्कंप्लवंहंसंचक्राङ्गंग्रा-मकुक्कुटम्। सारसंरज्जुवालंचदात्यूहंशुकसारिके॥१२॥"

"अर्थ—कच्चे मांस के खानेवाले सब जानवरों को, न बताये हुवे एक खुर वालों ग्राम के रहने वालों तथा गर्दभ और टिड्डी को छोड़ देवे ।। ११ ॥ चिड़िया, परेव,चकवा, ग्राम का मुरग़ा, सारस, बड़ी गुदी वाला जलकाक, पपीहा, मैना, तोता (इन का मांस न भक्षण करे) ।।१२।।"

"प्रतुदाञ्जालपादांश्चकोयष्टिनखविष्किरान्। निमज्जतश्चम-त्स्यादान्सौनंवल्लूरमेवच ॥१३॥बकंचैवबलाकांचकाकोलंख-ञ्जरीटकम्। मत्स्यादान्विड्वराहांश्चमत्स्यानेवचसर्वशः॥१४॥"

"अर्थ—चोंच से फाड़ कर खानेवाले और जिन के पैरों में जाल सा हो (बाज़ इत्यादि) चील्ह और जो नखों से फाड़ कर खाते हैं तथा पानी में डूब कर जो मछलियों को खाते हैं, इन सब का मांस और सौन=मारने के स्थान का मांस और शुष्कमांस (छोड़देवे) ।। १३ ।। बगुला और बलाका, करेरुवा, खंजन और मछली के खाने वाले और ग्राम के विष्ठाभक्षी सूकर और संपूर्ण मछली (इन को भी न भक्षण करे)।। १४ ।।"

"योयस्यमांसमश्नातिसतन्मांसादउच्यते। मत्स्यादःसर्वमांसा-दस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥१५॥ पाठीनरोहितावाद्यौनियुक्तौ हव्यकव्ययोः। राजीवान्सिंहतुण्डांश्चसशल्कांश्चैवसर्वशः॥१६॥"

"अर्थ—जो जिसका मांस खाताहै वह उस मांस का खाने वाला कहाता है। मछली सब का मांस खाती है इस को जो खावे वह सब का खाने वाला कहलाता है। इस से मछली को न खावे।।१५।। पाठा और रोहू ये दो मछलीं हव्य कव्य में ली गयीं हैं, इससे भक्षणयोग्य हैं और राजीव, सिंह-तुण्डा, सब मोटी खाल वाली मछली, ये भी भक्षणयोग्य हैं ।। १६।।"

"नभक्षयेदेकचरानज्ञातांश्चमृगद्विजान्। भक्ष्येष्वपिसमुद्दिष्टान्सर्वान्पञ्चनखांस्तथा ॥१७॥ श्वाविधंशल्यकंगोधांखड्गकूर्मशशांस्तथा। भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥१८॥"

"अर्थ—अकेले चरने वाले (सर्पादिक) और मृगपक्षी जो जाने नहीं गयेहैं और जो भक्ष्यों में भी कहे हों वे पञ्चनख सब भक्ष्य नहीं (जैसे वानरादि)॥१७॥ श्वाविध=सेह, शल्यक, गोधा, गड्ग, कछवा, ससा, ये पांच नखवालों में भक्षण-योग्य हैं और ऊंट को छोड़ कर एक ओर दांत वाले भी ॥१८॥"

"छत्राकंविड्वराहंचलशुनंग्रामकुक्कुटम्। पलाण्डुंगृञ्जनंचैवमत्याजग्ध्वापतेद्द्विजः ॥१९॥ अमत्यैतानिषट्जग्ध्वाकृच्छ्रंसान्तपनंचरेत्। यतिचान्द्रायणंवापिशेषेषूपवसेदहः ॥२०॥"

"अर्थ—छत्राक और ग्राम सूकर, लसुन, शहरी मुर्गा, पियाज़, गाजर; ये सब बुद्धिपूर्वक जो द्विज भक्षण करे वह पतित होवे॥१९॥ये छः जो बुद्धिपूर्वक भक्षणकरे तो (एकादशाध्यायमेंजो) सान्तपन वा यतिचान्द्रायण प्रायश्चित्त हैं सो करे और इससे शेष (गोंद आदि) भक्षण करे तो एक दिन उपवास करे॥२०॥"

"संवत्सरस्यैकमपिचरेत्कृच्छ्रंद्विजोत्तमः। अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्यतुविशेषतः ॥२१॥ यज्ञार्थंब्राह्मणैर्वध्याःप्रशस्तामृगपक्षिणः। भृत्यानांचैववृत्यर्थमगस्त्योह्याचरत्पुरा ॥ २२ ॥"

"अर्थ—विना जाने निषिद्ध का भक्षण किया हो तो द्विज १ वर्ष का १ कृच्छ्रव्रत करे और जान बूझकरकिया होतो विशेष करके ।।२१।। यज्ञ और पोष्य वर्ग की तृप्ति के लिये ब्राह्मण भक्ष्य मृग पक्षियों को मारें। क्योंकि पूर्व अगस्त्य मुनि ने किया है ॥ २२ ॥"

"बभूवुर्हिपुरोडाशाभक्ष्याणांमृगपक्षिणाम्। पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च" ॥२३॥ यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम्। तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥२४॥"

"अर्थ—क्योंकि प्राचीन ऋषियों और ब्राह्मण और क्षत्रियों के यज्ञ करनेमें भक्ष्यमृग पक्षियोंके पुरोडाश हुआकरते थे" (११ से २३ वें तक १२श्लोक मांसाहारियोंने अन्यमांसोंको परिशेषसे भक्ष्यता सिद्ध करने को मिलायेहैं। इस मेंकुछ भी

संशय नहीं १०वें श्लोक में बासी सड़े खट्टे ख़मीरी पदार्थों का वर्णन है, फिर २४वें में भी बासी रक्खे हुवे पदार्थों का ही वर्णन है। इस से उस का सम्बन्ध निर्भ्रम है। लशुन छत्राक पलाण्डु गृञ्जन का निषेध ५ वें में कर आये फिर १९वें में लिखना प्रमाद है। २२ वें में यह ज़ोर लगाना कि यज्ञार्थ ब्राह्मणों को उत्तम मृग पक्षी वध्य हैं, पहिले अगस्त्य मुनि ने भी मारे थे, स्पष्ट जतलाता है कि यह अगस्त्य की पौराणिक कथा के भी बनने से पीछे किसी ने मिलाये हैं। २३ वें में प्राचीन ऋषियों के भी यज्ञों में भक्ष्य मृग पक्षियों के मांससे पुरोडाश बनाये गये थे। यह कहना सिद्ध करता है कि श्लोक बनाने वाला अपने समय में मांस को अभक्ष्य प्रसिद्ध जान कर प्राचीन साक्षी देने की कल्पना करता है। और " बभूवुः " इस परोक्षभूत क्रिया से जतलाता है कि यह बात बहुत पुरानी है जो आंखों देखी नहीं है। भला स्वायंभुव मनु से पूर्व परोक्षभूत कौन लोग ऋषि थे? और अगस्त्य कहां था?) ।।२३।। जो कुछ भक्ष्य या भोज्य निन्दित नहीं है, वह बासी होने पर भी घृतादि युक्त हो तो भक्षण करे और जो शेष चरु हवन से बचा है उसे भी (अर्थात् पुरोडाश विना स्नेह के भी भक्षण करे) ।।२४।।

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः। यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥२५॥ " एतदुक्तंद्विजातीनांभक्ष्याभक्ष्यमशेषतः। मांसस्यातःप्रवक्ष्यामिविधिंभक्षणवर्जने ॥२६॥ "

अर्थ—बहुत काल की भी जौ या गेहूं की घृतरहित और दूध की (मिठाई आदि) बनी वस्तु ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य भक्षण करे ॥२५॥ " यह द्विजातियों का निःशेष करके भक्ष्याभक्ष्य कहा, अब इसके उपरान्त मांस के भक्षण और त्याग की विधि कहेंगे " ।।२६।। (जब निःशेष भक्ष्याऽभक्ष्य कह चुके और मांस भी अपने प्रक्षिप्त श्लोकों में बता चुके फिर दुबारा उस का प्रस्ताव प्रमाद और धिंगई है। अतः आगे के श्लोक भी ४२ तक प्रक्षिप्त हैं)

"प्रोक्षितंभक्षयेन्मांसंब्राह्मणानांचकाम्यया। यथाविधिनियुक्तस्तुप्राणानामेवचात्यये ॥२७॥ प्राणस्यान्नमिदंसर्वंप्रजापतिरऽकल्पयत्। स्थावरंजङ्गमंचैवसर्वंप्राणस्यभोजनम् ॥२८॥ "

"अर्थ—ब्राह्मणों की कामना मांस भक्षण की हो तो प्रोक्षण करके अर्थात

यज्ञ में जो प्रोक्षणविधि है उस से शुद्ध करके भक्षण करे और प्राणरक्षा के हेतु विधि के नियम से मांस ग्रहण करे ।।२७।। प्राण का यह संपूर्ण अन्न प्रजापति ने बनाया है । स्थावर और जङ्गम संपूर्ण प्राण का भोजन है।।२८।। "

"चराणामन्नमचरादंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः । अहस्ताश्चसहस्तानां शूराणांचैवभीरवः ॥ २९ ॥ नात्तादुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि । धात्रैवसृष्टाह्याद्याश्चप्राणिनोऽत्तारएव च ॥३०॥"

"अर्थ—चर जीवों के अचर घास आदि और दंष्ट्रियोंके अदंष्ट्र (अर्थात् व्याघ्र का हरिणादि) और हाथवालों के विना हाथ वाले (अर्थात् मनुष्यों को मछली आदि) और शूरों को डरपोकने, ऐसे एक काएक भोजन बनाया है ।।२९। भक्षणयोग्योंको भक्षण करने से खाने वाले को दोष नहीं लगता क्योंकि विधाता ने ही भोजन और भोजन करने वालों को उत्पन्न किया है (यूं तो चोरों और धनों को भी विधाता ने ही बनाया है । तो क्या चोरी पाप नहीं?)।।३०।।"

"यज्ञायजग्धिर्मांसस्येत्येषदैवोविधिःस्मृतः । अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तुराक्षसोविधिरुच्यते ॥३१॥ क्रीत्वास्वयंवाप्युत्पाद्यपरोपकृतमेववा । देवान्पितृंश्चार्चयित्वाखादन्मांसंनदुष्यति ॥ ३२ ॥"

"अर्थ—यज्ञ के निमित्त पशु को वध करके भक्षण करना दैवविधि है और केवल अपने भक्षण के उद्देश से मारना राक्षसविधि है ।।३१।। मोल लेकर अथवा आप ही मारकर या दूसरे किसी ने लाकर दिया हो उस को देवता और पितरों को चढ़ाकर खाने से दोष नहीं"।। (४ पुस्तकों में "परोपहृतम्" पाठ है । मनु तो ११ वें अध्याय में इसे पिशाचादि का भक्ष्य कहेंगे)।। ३२।।

"नाद्यादविधिनामांसंविधिज्ञोऽनापदिद्विजः । जग्ध्वाह्यविधिना मांसंप्रेत्यतैरद्यतेऽवशः ॥३३॥ नतादृशंभवत्येनोमृगहन्तुर्धनार्थिनः । यादृशंभवतिप्रेत्यवृथामांसानिखादतः ॥ ३४ ॥ "

अर्थ—अनापत्ति में विधि का जानने वाला द्विज विना विधि के मांस भक्षण न करे । क्योंकि विना विधि के जो मांस भक्षण करता है उसके मरने पर जिन का मांस उसने खाया है वे खाते हैं ।।३३।। रोजगार के लिये जो

पशु मारते हैं, उन को वैसा पाप नहीं होता जैसा कि विना देवपितरों को चढ़ाये आप मांसभक्षण करने वाले को ॥ ३४ ॥"

"नियुक्तस्तुयथान्यायंयोमांसंनात्तिमानवः । सप्रेत्यपशुतांयाति संभवानेकविंशतिम् ॥३५॥ असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रःकदाचन । मन्त्रैस्तुसंस्कृतानद्याच्छाश्वतंविधिमास्थितः ॥ ३६ ॥"

"अर्थ—मधुपर्क या श्राद्ध में विधिसे नियुक्त हुआ जो मांस भक्षण न करे,वह मर के इक्कीस वार पशुयोनि में जन्म लेता है (इस धिंगड़े को तौ देखो कि खाने वाले को दोष न मानना तौ एक ओर रहा,न खावे तौ २१ जन्म तक पशु बने। क्या इस से भी मांसभक्षी वाममार्गियों का प्रक्षेप नहीं जानपड़ता ?) ॥ ३५ ॥ मन्त्रों से जिन का संस्कार नहीं हुआ, उन पशुओं को विप्र कभी भक्षण न करे और शाश्वत वेद की विधि से यागादिकों में संस्कृत किये हुओं को भक्षण करे (किसी वेदानुकूल यज्ञ में पशुवध धर्म विहित नहीं,श्रौतसूत्रों में जो कुछ है, वह भी इन्हीं वाममार्गियों की लीला है) ॥ ३६ ॥"

" कुर्याद्घृतपशुंसंगेकुर्यात्पिष्टपशुंतथा । नत्वेवतुवृथाहन्तुंपशुमिच्छेत्कदाचन ॥३७॥ यावन्तिपशुरोमाणितावत्कृत्वोहमारणम् । वृथापशुघ्नःप्राप्नोतिप्रेत्यजन्मनिजन्मनि ॥३८॥"

"अर्थ—खाने की इच्छा हो तौ घृत का पशु वा पिष्ट (मैदा) का पशु बनाकर यथाविधि खावे परन्तु विना देवता के उद्देश पशु मारने की इच्छा न करे (धन्य !!! आटे वा घृत को भी पशुके आकार बनाकर रुचता है !!! इसी से कोई २ गुप्त वाममार्गी बाह्यभीरु यज्ञ में भी आटे वा घृत के पशु बनाया करते थे,यह प्रसिद्ध है) ॥३७॥ विना देवता के उद्देश जो पशु मारता है वह मरने पर जितने पशु के रोम हैं उतने ही जन्मों तक अन्यों से मारा जाता है (हमारी सम्मति में तौ देवतों का नाम न लेकर खाने वाले पापी इतने बढिया कलङ्की नहीं हैं,जितने ये हैं । ५ पुस्तकों में "कृत्वेह" पाठभेद है)॥३८॥"

"यज्ञार्थंपशवःसृष्टाःस्वयमेवस्वयंभुवा । यज्ञस्यभूत्यैसर्वस्यतस्माद्यज्ञेवधोऽवधः ॥३९॥ ओषध्यःपशवोवृक्षास्तिर्यञ्चःपक्षिणस्तथा । यज्ञार्थंनिधनंप्राप्ताःप्राप्नुवन्त्युत्सृतीःपुनः ॥ ४० ॥"

"अर्थ–ब्रह्मा ने स्वयं ही सब यज्ञ की सिद्धि वृद्धि के अर्थ पशु बनाये हैं इस लिये यज्ञ में पशुवध अवध ही है (८ पुस्तकों में "यज्ञोऽस्य" पाठ है) ॥३९॥ ओषधि, पशु,वृक्ष, कूर्मादिक और पक्षी;ये सब यज्ञ के अर्थ मारे जावें तो उत्तम योनि को प्राप्त होते हैं ॥४०॥„

"मधुपर्केचयज्ञेचपितृदैवतकर्मणि। अत्रैवपशवोहिंस्यानान्यत्रे-त्यब्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥ एष्वर्थेषुपशून्हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद्द्विजः। आत्मानंचपशुंचैवगमयत्युत्तमांगतिम् ॥ ४२॥"

"अर्थ–मधुपर्क,यज्ञ और श्राद्ध तथा देवकर्म; इन में ही पशुवध करे,अन्यत्र कहीं न करे " यह मनु ने" कहा है (जी हां, आप के भी हृदय में सन्देह है कि कदाचित् कोई इस को मनुवाक्य न समझे। चोर की डाढी में तिनका) ॥४१॥ वेद का तत्त्वार्थ जानने वाला द्विज इन्हीं मधुपर्कादिकों में पशु हिंसा करता हुआ आप और पशु दोनों को उत्तम गति प्राप्त कराता है ॥४२॥ (तो पहले अपने पुत्रादि को भेट चढ़ा कर उत्तम गति न दिलाई जावे ? ३६ से ४२ तक १७ श्लोक निकाल कर २५वें से ४३ वें को मिलाकर पढ़िये तो प्रकरण ठीक मिलता है। और इस मांस की विधि को मनु में मिलाने वाले ने ऐसी अधिकता से मिलाया है कि एक ही बात को (श्राद्धादि न करके मांस न खावे,इस को) अनेक वार पिष्टपेषण करता ही जाता है। यह मांस-भक्षण किसी कर्म में मनु का संमत नहीं है, इस का निषेध मनु ने स्वयं इसी अध्याय के ४३ वें से ५५ वें तक १३ श्लोकों में बड़े बलपूर्वक किया है और ब्योरेवार इस की बुराई,घृणितता,दूषितता, एवं पापता सब बतलाई हैं। वे बुराइयें यज्ञ में कैसे दूर हो सक्ती हैं। और मनु जब मांस को राक्षसादि का भोजन मानते हैं, तो देवकार्य में कैसे ग्राह्य हो सक्ता है। ये श्लोक अवश्य प्रक्षिप्त हैं। जैसा कि महाभारत मोक्ष धर्म पर्व में कहा है कि–

सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नराः॥

धर्मात्मा मनु ने सब कर्मों (वैश्वदेवादि) में अहिंसा ही कही थी परन्तु अपनी इच्छा से शास्त्रबाह्य यज्ञवेदी पर लोग पशुओं को मारते हैं) ॥४२॥

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः । नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥ या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे । अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥ ४४ ॥

अर्थ—गृहस्थाश्रम में वा ब्रह्मचर्याश्रम में वा वानप्रस्थाश्रम में रहता हुआ जितेन्द्रिय द्विज, अशास्त्रोक्त हिंसा आपत्काल में भी न करे ॥४३॥ इस जगत् में जो वेदविहित हिंसा चराचर में नियत है उस को अहिंसा ही जाने, (हिंसक मनुष्यों वा सिंह सर्पादि के दण्ड से तात्पर्य है, इसी को अगले श्लोक में अहिंसकों के निषेध से स्पष्ट किया है) क्योंकि वेद से धर्मका ही प्रकाश हुवा है ॥ ४४ ॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ॥ स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ ४५ ॥ यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति । स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो अहिंसक प्राणियों को अपने सुख की इच्छा से मारता है, वह पुरुष इस लोक में वा परलोक में जीता और मरा हुआ कहीं सुख नहीं पाता ॥४५॥ जो पुरुष प्राणियोंको बांधने वा मारने के क्लेश देना नहीं चाहता, वह सब के हित की इच्छा करने वाला अनन्त सुख को प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च । तदवाप्नोत्ययत्नेन योऽहिनस्ति न किंचन ॥ ४७ ॥ नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् । न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—वह जो कुछ शोचता है, जो कुछ करता है और जिस में धृति बांधता है, वह सब उसे सहज में प्राप्त हो जाता है, जोकि किसीको नहीं मारता ॥४७॥ प्राणियों की हिंसा किये विना मांस कभी उत्पन्न नहीं होसक्ता और प्राणियोंका वध स्वर्गका देनेवाला नहीं है। इससे मांस को छोड़ देवे ॥४८॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य बधबन्धौ च देहिनाम् । प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥ न भक्षयति यो मांसं विधिं हत्वा पिशाचवत् । स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ५० ॥

अर्थ—मांस की (घृणित शुक्रशोणित से) उत्पत्ति को देखकर और प्राणियों के वध बन्ध (क्रूरकर्मों) को देखकर सब प्रकार के मांसभक्षण से चित्त हटा लेवे ।। ४९ ।। जो विधि छोड़ के पिशाचवत् मांस भक्षण नहीं करता वह लोगों में प्यारा होता है और रोगों से कभी पीड़ित नहीं होता (इस से मांसभक्षण रोगकारक भी समझना चाहिये। और प्रत्यक्ष जब से मांस भक्षणादि दुराचार फैले हैं, तब से रोग भी अधिक देखे जाते हैं) ।।५०।।

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी । संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ।।५१।।स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।अनभ्यर्च्य पितॄन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ।।५२।।

अर्थ—जिसकी सम्मति से मारते हैं और जो अङ्गों को काट के अलग २ करता है और मारने वाला तथा ख़रीदने वाला और बेचने वाला और पकाने वाला, परोसने वाला तथा खाने वाला; ये ८ सब घातक हैं।।५१।।जोदूसरे के मांस से अपने मांस बढ़ाने की इच्छा करता है,पितरों और देवताओं=विद्वानोंकी मांसभक्षण निषेधाज्ञा का भङ्ग रूप अनादर करके, उससे बढ़कर कोई पाप करने वाला नहीं ५२

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन योयजेत शतं समाः ।मांसानि च न खादेद्यस्तयोःपुण्यफलं समम् ।।५३।। फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः । न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ।। ५४ ।।

अर्थ—जो सौ वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेध करता है और जो जन्मपर्यन्त मांस भक्षण नहीं करता, दोनों को पुण्य फल समान है ।। ५३ ।।

(५३ वें से आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक देखा गया है:—

[सदा यजति यज्ञेन सदा दानानि यच्छति ।
स तपस्वी सदा विप्रो यश्च मांसं विवर्जयेत् ।।]

अर्थात् जो ब्राह्मण मांस नहीं खाता वह मानो सदा यज्ञ करता है और दान देता है, वह तपस्वी है)।।५३।। पवित्र फलमूलभोजन से और मुनियों के अन्नों के खाने से वह फल नहीं जो मांस के छोड़ने से प्राप्त होता है ।।५४।।

मांस भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् । एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ।।५५।। "नमांसभक्षणे दोषोन

मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तुमहाफला॥५६॥"

इस लोक में जिस का मांस मैं खाता हूं (मां सः) परलोक में वह मुझे खायगा। विद्वान् लोग यह मांस का मांसत्व कहते हैं॥५५॥ "मांसभक्षण और मद्यपान तथा मैथुन में मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है इस लिये इन में दोष नहीं है और इन को छोड़ देवे तो बड़ा पुण्य है"॥ (स्वाभाविक बच्चे को तो मांस से घृणा होती है। तथा यह श्लोक निषेध के प्रकरण में अनुचित भी स्पष्ट है। कोई लोग खैंचातानी से कई अर्थ करते हैं। परन्तु वे अक्षरार्थ और ध्वन्यर्थ से बाहर हैं॥ यद्यपि ये १३ श्लोक ४३ से ५५ तक मांसभक्षण निषेध के धर्मशास्त्र के सिद्धान्तानुकूल होने से हम को सभी मान्य हैं, परन्तु इन में से ५२। ५३। ५४। ५५ वें श्लोकों की शैली नवीन सी है। और ऐसा सन्देह होता है कि ये श्लोक तब मांसनिषेधार्थ मिलाये गये हैं जब कि मांसविधान के श्लोक मिलाये जा चुके थे)॥५६॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च। चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः॥५७॥ दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते। अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते॥५८॥

अर्थ—अब चारों वर्णों की यथावत् क्रम से प्रेतशुद्धि और द्रव्यशुद्धि आगे कहूंगा॥५७॥ दांत निकलने पर ही वा दांत निकलने के अनन्तर और चूडाकर्म होने पर मरने से सब बान्धवों को अशुद्धि और सूतक लगता है॥५८॥

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते। अर्वाक्संचयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव च॥५९॥ सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते। समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने॥६०॥

अर्थ—सपिण्डों में मृत का अशौच दस दिन रहता है। और किन्हीं को अस्थिसंचयन तक, किन्हीं को ३ दिन, किन्हीं को १ दिन ही (इस में ज्ञान और आचार की न्यूनाधिकता ही कारण है। जो गुणों से जितना हीन हो उतना ही सूतक अधिक होता है। जैसे १। २। ३ दिन बढ़ाये हैं और सर्वगुणों से रहित हो तो १० दिन अशौच होता है)॥ ५९॥ सातवीं पीढ़ी में सपिण्डता का सम्बन्ध छूट जाता है और कुल में उत्पन्न हुवों के नाम जन्म भी स्मरण न रहें तब समानोदकता छूट जाती है॥ ६०॥

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥६१॥

अर्थ-जैसा मरने में सपिण्डों को यह आशौच कहा है। वैसे ही पुत्रादि उत्पन्न होने में भी अच्छी शुद्धता की इच्छा करने वालों को आशौच होता है॥६१॥

(६१ वें से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते ॥
दानं प्रतिग्रहोयज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्त्तते]

जन्म और मृत्यु दोनों में १० दिन तक कुल का अन्न भोजन नहीं किया जाता। देना, लेना, यज्ञ और स्वाध्याय रुके रहते हैं ॥ इस प्रकरण में सपिण्ड शब्द से किसी को मृतक श्राद्ध का भ्रम न हो, किन्तु पिण्ड शरीर का नाम है। सात पीढ़ी तक पूर्वज के वीर्य से थोड़ा बहुत प्रभाव सन्तानों में चलता है इस के पश्चात् श्लोक ६० के अनुसार सपिण्डता नहीं रहती। और जो जिस को जब तक जानता रहे कि अमुकनामा पुरुष हमारे वंश में था, उस की सन्तान तब तक आपस में श्लोक ६० के उत्तरार्धानुसार समानोदक होती हैं) ॥६१॥

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥६२॥

मृतनिमित्त आशौच सब सपिण्डों को रहता है और जन्मनिमित्त आशौच माता पिता को ही रहता है। उस में भी पिता स्नान करने से शुद्ध हो जाता है, माता को ही सूतक रहता है ॥६२॥

(६२ वें से आगे भी ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रक्षिप्त है:-

[सत्रधर्मप्रवृत्तस्य दानधर्मफलैषिणः ।
त्रेताधर्मापरोधार्थमारण्यस्यैतदुच्यते]

जो ज्ञानयज्ञ में प्रवृत्त है और दानधर्म का फल चाहता है, त्रेतायुग के धर्म (ज्ञान) के अनुरोधार्थ उस वानप्रस्थ के लिये यह विधान है॥ इसपर सब से अन्तिम रामचन्द्र ने भाष्य किया है। अन्य किसी ने नहीं) ॥६२॥

"निरस्यतुपुमान्शुक्रमुपस्पृश्यैवशुद्ध्यति । बैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादघंत्र्यहम्॥६३॥,, अह्ना चैकेनरात्र्या च त्रिरात्रैरेव

च त्रिभिः । शवस्पृशोविशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ॥ ६४ ॥

"अर्थ-पुरुष अपना वीर्य निकाल कर स्नान मात्र से शुद्ध होता है और पराई भार्या में पुत्रोत्पन्न करने से तीन दिन अशौच रहता है „ ॥ ६३ ॥

(६३ वां श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ता है । एक तो सूतक मृतक के बीच में वीर्य निकालने की अशुद्धि का वर्णन मनु की उस प्रतिज्ञा के विरुद्ध है जो ५७ वें श्लोक में की गई है । दूसरे परस्त्रीप्रसङ्ग वा उस के सन्तानोत्पादन रूप पाप का प्रायश्चित्त केवल ३ दिन का प्रायश्चित्त मात्र भी सब धर्मशास्त्र के प्रतिकूल और अन्याय है ॥ किसी पुस्तक में ६३ से आगे भी यह श्लोक अधिक है-

[जननेप्येवमेव स्यान्मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेवस्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः] ॥

जन्म में भी ऐसे ही माता पिता को सूतक लगता है कि माता को ही सूतक और पिता स्नान करके शुद्ध है) ॥६३॥ मृतक के स्पर्श करने वाले १ और ३ गुणा ३=९=१० दिनमें शुद्ध होते हैं और (मरते समय कण्ठ में) पानी देने वाले वा अस्थिसञ्चयन में चिता पर जल छिड़कने वाले तीसरे दिन शुद्ध होते हैं ॥६४॥

गुरोःप्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् । प्रेतहारैःसमं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति॥६५॥रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुद्ध्यति । रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥६६॥

अर्थ- मृत गुरु की अन्त्येष्टि करता हुआ शिष्य,प्रेत=मुर्दा उठाने वालों के साथ दसवें दिन शुद्ध होता है ॥६५॥ जितने मास का गर्भस्राव हो उतने दिन में स्त्री शुद्ध होती है । और रजस्वला स्त्री जिस दिन रज की निवृत्ति हो उस दिन स्नान करके शुद्ध होती है ॥ ६६ ॥

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।
निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥६७॥

अर्थ-जिन बालकों का चूड़ाकर्म नहीं हुआ है, उन के मरने से एक दिन में शुद्धि होती है और जिन का चूड़ाकर्म हो गया है उन के मरने से तीन दिन में शुद्धि होती है ॥ ६७ ॥ (६७ वें से आगे ३ श्लोक और भी १ पुस्तक में प्रक्षिप्त मिलते हैं:-

[प्राक्संस्कारप्रमीतानां वर्णानामविशेषतः। त्रिरात्रात्तुभवेच्छु-
द्धिः कन्यास्वन्होविधीयते ॥ १ ॥ अदन्तजन्मनःसद्यआचूडान्नैशि-
कीस्मृता। त्रिरात्रमाव्रतादेशाद्दशरात्रमतःपरम् ॥२॥ परपूर्वासुभा-
र्यासुपुत्रेषुकृतेषुच। मातामहेत्रिरात्रं तुएकाहंत्वसपिण्डतः॥३॥]

सब वर्णों के बच्चे जो संस्कार से पूर्व मर गये हों उन की ३ दिन में शुद्धि होती है और कन्याओं की १ दिन में ॥१॥ जिस के दान्त न जमें हों उन की तत्काल और फिर चूडाकर्म तक आयु वाले की एक रात्रि भर और फिर उपनयन संस्कार तक आयु वाले की ३ रात्रि और उस के पश्चात् १० रात्रि की अशुद्धि है ॥२॥ जो स्त्री प्रथम किसी अन्य की थीं उन की और उन में जन्में पुत्रों की और नाना की अशुद्धि ३ रात्रि तक है। असपिण्ड गोत्रियों की एक दिन है ॥ ३ ॥) ॥ ६७ ॥

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं दिनध्युर्बान्धवा बहिः।
अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसञ्चयनादृते ॥६८॥

पूरे दो वर्ष जिन के न हुवे हों ऐसे मृत बालक को बान्धव लोग ग्रामादि के बाहर पवित्र भूमि में स्वच्छ करके दबा देवें। विना अस्थिसंचयन के (अर्थात् दाह और अस्थिसंचयन विना ही) ॥ ६८ ॥

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया। अरण्ये काष्ठव-
त्त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव च॥६९॥नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्ध-
वैरुदकक्रिया। जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति॥७०॥

अर्थ—और इस का अग्निसंस्कार न करें। इसकी उदकक्रिया अस्थिसंचयनादि भी न करें किन्तु जङ्गलमें काष्ठवत् दबा देवें और तीनदिन अशौच रक्खें।।६९।। जिसके तीन वर्ष पूरे न हुवे हों, उस बालक की उदकक्रिया बान्धवों को नहीं करनी, अथवा जिस के दांत ही उत्पन्न हुवे हों वा नामकरण ही हुआ हो उस के दाहादि संस्कार करें तो अच्छा है (यह दूसरा पक्ष है) ॥७०॥

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम्। जन्मन्येकोदकानां
तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते॥७१॥"स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहा-
च्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः। यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः॥७२"

अर्थ—सह्वाध्यायी के मरने में एक दिन अशौच कहा है और समानोदकों के पुत्रादि जन्म में तो तीन दिन में शुद्धि चाही है ।। ७१ ।। " जिन स्त्रियों का संस्कार नहीं हुआ उन के मरने में उन के बान्धव तीन दिन में शुद्ध होते हैं । और उन के सनाभि भी तीसरे दिन शुद्ध होते हैं।।७२।। "

(७२ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है जो कि ६७ वें के आगे दिखाये ३ में से तीसरे प्रक्षिप्त के सा आशय रखता है, परन्तु चतुर्थ पाद उस के ठीक विरुद्ध है:—

[परपूर्वासु पुत्रेषु सूतके मृतकेषु च।
मातामहे त्रिरात्रं स्यादेकाहं तु सपिण्डने]

पूर्वली पराई स्त्रियों में, पुत्रों में, उन के जन्म तथा मृत्यु और नाना के सूतक में ३ दिन में शुद्धि होती है । परन्तु सपिण्डों में १ रात्रि में ही) ।।७२।।

" अक्षारलवणान्नाःस्युर्निमज्जेयुश्चतेत्र्यहम् ।
मांसाशनंचनाश्नीयुःशयीरंश्चपृथक्क्षितौ ।।७३।। "

"अर्थ— कृत्रिम लवणरहित अन्न का भोजन करें और तीन दिन स्नान करें और मांस भक्षण न करें और भूमि पर अकेले सोवें । (७२ वें से अगला श्लोक तो एक ही पुस्तक में मिलता है, सबों में नहीं । परन्तु ७२ वां और ७३ वां भी प्रक्षिप्त जान पड़ता है । क्योंकि असंस्कृत स्त्रियों का अशौच जब पुरुषों के समान है तो पृथग्विधान व्यर्थ है । और जो लोग सगाई मात्र का अर्थ करते हैं सो धर्मशास्त्रों में सगाई कोई संस्कार १६ संस्कारों में से नहीं है । ७३ वें में ३ दिन स्नानविधान कहना असंगत है क्योंकि अशौच १० दिन और स्नान ३ दिन कैसा ? जब कि विना सूतक मृतक भी नित्य शरीरशुद्धि कर्त्तव्य है ।। मांस का निषेध भी व्यर्थ है, जब कि सब काल में ही मांस निषिद्ध है । ५७ वें श्लोक से यह प्रेतशुद्धि का वर्णन आरम्भ हुवा है जिस के साथ २ कहीं जन्मशुद्धि को भी कहते आते हैं । यथार्थ में जन्म और मृत्यु दो संसार में बड़ी घटना हैं । इन से बढ़ कर कोई घटना नहीं । जिन में एक हर्ष और दूसरी शोक का कारण सर्व साधारण के लिये होती हैं । जन्म समय १० मास का रुका मल जिस घर में निकलता है और वायु तथा अन्य घर के पदार्थों पर अपना प्रभाव डालता है, कुटुम्बी लोग तो हानि लाभ के साथी, साक्षी हैं, उन्हें संसर्ग से बचना कठिन है, परन्तु अन्य जाति पास पड़ोसी आदि को स्वाभाविक रीति पर कुछ घृणा अवश्य उस घर के प-

दार्थों से होती है। इसलिये अपवित्रता के परिमाण से न्यूनाधिक यथासंभव सूतक लगाया गया है। ऐसे ही मृतक भी। अग्नि सूर्य काल वायु आदि पदार्थ उस अशुद्धि को क्रमसे घटाते हैं (देखो १०५) और लीपने पोतने धोने मांजने आदि से भी शुद्धि क्रमपूर्वक होती है। इस लिये जितना २ सम्बन्ध समीपी है वा जितना २ जिस २ वर्ण आश्रम आदि के विचार से जिस को अधिक संसर्ग संभव देखा, उस २ को अधिक सूतक मृतकका अशौचविधान किया है। मृतक अशौचमें मरने वालेकी आयु की न्यूनाधिकता से बान्धवादिके संसर्ग में भी न्यूनाधिकता देखकर अशौचकी न्यूनाधिकता कथनकी गई है। एक बात अधिक विचारणीय है कि दो वर्षसे न्यूनायु वाले बच्चोंका गाड़ना क्यों कहा, जब कि दाह संस्कार वेदोक्त है। इस में एक पक्ष यह भी ७० वें श्लोक में किया है कि जिस का नामकरण हो गया वा जिस के दान्त निकल आये, उस के दाहादि संस्कार करने चाहियें॥ यथार्थ में दाह करनेका तात्पर्य यही है कि मरने वाले देही ने संसारयात्रा में बहुत बड़ी मलिनता शरीर पर मलसंसर्ग से संग्रह कर ली है। वह मलिनता अन्य जीवते प्राणियों को वायु में परिणत हो २ कर दीर्घ काल तक रोगादि का हेतु न हो। परन्तु संसार के सभी कार्य आरम्भ काल में "नहीं" के समीप २ होते हैं। ऐसे ही गर्भस्थिति से नामकरण तक उस मलिनता का संग्रह उनके शरीर में बहुत कम होता है। कहीं न कहीं मर्यादा रखनी ही पड़ती कि यहां से आगे दाह संस्कार से निवारण करने योग्य मलिनता का आरम्भ है। इस से पूर्व सूक्ष्म रूप पृथिवीस्थ अग्नि ही उसे भस्म करने में समर्थ समझा गया॥ और जन्मते बच्चे को दाह विधान करते तब भी यह शङ्का रह ही जाती कि गर्भपात वा गर्भस्राव का दाह करना चाहिये। इस से आगे वीर्यपात मात्र के दाह की भी आशङ्का होती। इसलिये शास्त्रकार ने दाह की योग्यता की अवधि नियत करके मर्यादा स्थापित करदी है। विशेष स्वयं बुद्धिमान् विचार सकते हैं। मृत्यु में शोक भी एक प्रकार की भीतरी मलिनता अशौच का कारण है)॥७३॥

सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः।
असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः संबन्धिबान्धवैः॥७४॥

अर्थ–यह पास रहने में शवसम्बन्धी अशौच का विधान कहा। और विदेश रहने में उसके सम्बन्धी बान्धव आगे कहे अनुसार अशौचविधान जानें॥७४॥

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम् ।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥७५॥

अर्थ—विदेश में मरा हो और १० दिन पूरे न हुवे हों तौ सुनने पर जितने दिन १० में शेष हों उतने दिन अशौच रहै ॥७५॥

(७५ वें के आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:—

[मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्षण्मासे पक्षिणी तथा ।
अहस्तु नवमादर्वागूर्ध्वं स्नानेन शुध्यति]

तीन मास बीतने पर सुने तौ ३ रात्रि तक अशौच और छः मास बीतने पर १॥ दिन और ९ वें मास के भीतर १ दिन तथा इस के पश्चात् स्नान मात्र से शुद्ध होता है) ॥ ७५ ॥

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति ॥७६॥

अर्थ—और दश दिन व्यतीत होने के अनन्तर सुने तौ तीन दिन अशौच रहै और एक वर्ष बीत गया हो तौ स्नान करने से ही शुद्ध होजाता है ॥७६॥

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च । सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥ ७७ ॥ बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते । सवासा जलमाप्लुत्य सद्यएव विशुद्ध्यति ॥७८॥

अर्थ—दशदिन हो जाने पर ज्ञातिमरण या पुत्र का जन्म सुनकर मनुष्य सचैल स्नान करके शुद्ध होता है ॥७७॥ सगोत्र बालक देशान्तर में मरा हो तथा जो सपिण्ड में न हो ऐसे का मरण सुन के सचैल स्नान करने से उसी समय शुद्ध होजाता है ॥ ७८ ॥

अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी । तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥ ७९ ॥ त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति । तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥ ८० ॥

अर्थ—दशाह के बीच में यदि पुनः किसी के मरने वा उत्पन्न होने से अशौच होवे तौ विप्र तब तक शुद्ध न होगा जब तक उसके दश दिन पूरे न

हो जावें ॥ ७९ ॥ आचार्य के मरने में शिष्य को तीन दिन अशौच रहता है और आचार्य के लड़के या स्त्री के मरने में एक दिन ॥८०॥

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् । मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ॥८१॥ प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः । अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥८२॥

अर्थ—वेदशास्त्रसंपन्न श्रोत्रिय के मरने में तीन दिन और मामा शिष्य ऋत्विक् और बान्धवों के मरने में डेढ़ दिन अशौच रहता है ॥८१॥ जिनके देश में रहते हैं उस राजा के मरने में सूर्यास्त तक अशौच रहै और जो श्रोत्रिय न हो तो सारा दिन और जिसने पूर्णवेदाध्ययन किया हो वा गुरु हो उसका भी ॥८२॥

शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥

अर्थ—ब्राह्मण १० दिन में, क्षत्रिय १२ दिन में, वैश्य १५ दिन में और शूद्र ३० दिन में शुद्ध होता है ॥८३॥ (८३ से आगे दो पुस्तकों में पहले दो श्लोक और अन्य दो पुस्तकों में चार श्लोक, जो नीचे लिखे हैं, अधिक हैं:—

[क्षत्रविट्शूद्रदायादाः स्युश्चेद्विप्रस्य बान्धवाः । तेषामशौचं विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ॥१॥ राजन्यवैश्ययोश्चैवं हीनयोनिषु बन्धुषु । स्वमेव शौचं कुर्वीत विशुद्ध्यर्थमिति स्थितिः ॥२॥ विप्रः शुद्ध्येद्दशाहेन जन्महानौ स्वयोनिषु । षड्भिस्त्रिभिरथैकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु ॥३॥ सर्वेचोत्तमवर्णास्तु शौचं कुर्युरतन्द्रिताः । तद्वर्णविधिदृष्टेन स्वं तु शौचं स्वयोनिषु ॥ ४ ॥]

हम ३ । १३ को प्रक्षिप्त बता आये हैं जिस में ब्राह्मणादि को अपने से नीचे वर्णों की कन्या लेने का विधान है । यहां इन ४ श्लोकों में उन्हीं नीच विवाह के सम्बन्धियों का सूतक अशौच बताया जाता है । परन्तु ये श्लोक केवल चार पुस्तकों में हैं, सब में नहीं । इस लिये यह तो स्पष्ट ही है कि ये प्रक्षिप्त हैं और यह भी निश्चय होता है कि ३ । १३ भी ठीक प्रक्षिप्त था यदि मनुप्रोक्त होता तो यहां अशौच प्रकरण में उस का अशौचविधान भी

सब पुस्तकों में होता । अर्थ—यदि क्षत्रिय वैश्य शूद्र, ब्राह्मण के दायाद बान्धव हों, तो उन के अशौच में ब्राह्मण की १० दिन में शुद्धि चाही है ॥१॥ इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य को भी अपने से हीनयोनि सम्बन्धियों की मृत्यु में अपने वर्णानुसार शुद्धि के लिये शौच करना चाहिये।यह नियम है॥२॥ ब्राह्मण, अपने वर्णस्थ सम्बन्धियों के जन्म वा मृत्यु में १० दिन में, क्षत्रिय वर्णस्थ सम्बन्धियों के जन्म वा मृत्यु में ६ दिन में,वैश्य सम्बन्धियों के ३ दिन में, और शूद्र सम्बन्धियों के जन्मादि में १ दिन में शुद्ध होता है ॥ ३ ॥ सब उत्तम वर्ण निरालस्य होकर उन २ वर्णस्थ सम्बन्धियों का उन २ वर्णानुसार और स्ववर्णस्थों का स्ववर्णानुसार आशौच माने ॥४॥) ॥८३॥

न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः।
न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥८४॥

मरणाऽशौच के दिन न बढ़ावे और अग्निहोत्रादि क्रिया का विघात न करे । उस कर्म के करते हुवे सनाभि भी अशुचि नहीं है ॥८४॥

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा। शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥८५॥ आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने। सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः॥८६॥

अर्थ—चाण्डाल,रजस्वला,पतित,प्रसूता तथा शव और शव के स्पर्श करने वाले को छूने पर स्नान से शुद्ध होता है।।८५।। आचमन करके शुद्ध हुवा मनुष्य चाण्डालादि के अशुचिदर्शन होने पर सौरमन्त्र(उदुत्यं जातवेदसम्)इत्यादि और पवमान देवता वाले मन्त्रों को शक्ति और उत्साह के अनुसार जपे ॥८६॥

नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति । आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥८७॥ आदिष्टी नोदकं कुर्यादा व्रतस्य समापनात् । समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति॥८८॥

अर्थ—मनुष्य की स्नेहयुक्त अस्थि छूने से विप्र स्नान करके शुद्ध होजाता है और जिस में चिकनाई न हो उस के स्पर्श करने से आचमन ही से वा गौ=भूमि के स्पर्श से या सूर्य के दर्शन से पवित्र होता है ॥ (यहां दो पुस्तकों में (गां स्पृष्ट्वा वीक्ष्य वा रविम्) पाठभेद है । और मेधातिथि आदि छहों

भाष्यकार "आलभन" का अर्थ "स्पर्श" करते हैं ॥८७॥ ब्रह्मचारी व्रत की समाप्ति पर्यन्त प्रेतोदक न करे। समाप्ति के अनन्तर प्रेतोदक करे तो त्रिरात्र से ही शुद्ध होजाता है ॥८८॥

वृथासंकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम्। आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ॥८९॥ पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः। गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥९०॥

अर्थ—वृथा वर्णसङ्करों, संन्यासियों और आत्मघातियों की उदकक्रिया आवश्यक नहीं ॥८९॥ पाषण्डियों, स्वैरिणियों, और गर्भपात, पतिघात, सुरापान करने वाली स्त्रियों की (उदकक्रिया न करे) ॥ ९० ॥

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम्। निहृत्य तु व्रती प्रेतान्नव्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥ दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत्। पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥९२॥

अर्थ—अपने आचार्य, उपाध्याय, पिता, माता, तथा गुरु के प्रेतकृत्य करने से ब्रह्मचारी का व्रत भङ्ग नहीं होता ॥९१॥ शूद्र के शव को नगर के दक्षिण द्वार से और वैश्य को पश्चिम, क्षत्रिय को उत्तर और ब्राह्मण को पूर्व से निकाले ॥९२॥

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम्। ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥९३॥ राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते। प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥९४॥

अर्थ—राजा को सूतक अशौच नहीं लगता और ब्रह्मचारी वा चान्द्रायणादि व्रत करने वाले और यज्ञ करने वालों को भी नहीं लगता। क्योंकि ये इन्द्र के पद पर बैठे हुवे और सदा निष्पाप हैं॥ (इन्द्र पद शुद्ध स्थान का नाम है जैसा कि (इन्द्र शुद्धो न आगहि०) इत्यादि। और (इन्द्र शुद्धो हि नो रयिम्०) इत्यादि सामवेद उत्तरार्चिक १२।३।२—३ में लिखा है) ॥९३॥ माहात्मिक राज्य पद में स्थित राजा को उसी समय पवित्र कहा है (अर्थात् राज्य से भ्रष्ट क्षत्रियों को सद्यःशुद्धि नहीं है) प्रजा की रक्षार्थ न्यायासन पर बैठना इस में कारण है ॥९४॥

डिम्बाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च। गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥९५॥ सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्प-

स्योर्यमस्य च । अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः॥९६॥

अर्थ—विना शस्त्र की लड़ाई में और बिजली से तथा राजाज्ञा=फांसी से और गौब्राह्मण की रक्षा के लिये मरे हुवे का और जिसको राजा अपने कार्य के लिये चाहे, उस का (तत्काल शौच कहा है)॥९५॥ चन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, कुबेर, वरुण और यम इन आठ लोकपालों का शरीर राजा धारण करता है (अर्थात् राजा में लोकपालनार्थ ये आठ गुण रहते हैं जो दिव्य हैं)॥९६॥

लोकेशाधिष्ठितोराजा नास्याशौचं विधीयते । शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥९७॥ उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च । सद्यःसंतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः९८

अर्थ—इन्द्रादि ८ लोकपालों के स्थान पर रहता है इस लिये राजा को अशौच नहीं कहा । क्योंकि मनुष्यों का शौच और अशौच लोकपालों से उत्पन्न और नष्ट होता है ॥९७॥ संग्राम में उद्यत शस्त्रों से क्षत्रधर्म अर्थात् ढेला लकड़ी से नहीं किन्तु सामने लड़ाई में मरे का यज्ञ उसी समय समाप्त होता है (अर्थात् ज्योतिष्टोमादि यज्ञ का फल उस को तत्काल प्राप्त होता है) उसी प्रकार शौच भी तत्काल हो जाता है ॥९८॥

विप्रःशुद्ध्यत्यपःस्पृष्ट्वा क्षत्रियोवाहनायुधम् । वैश्यःप्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रःकृतक्रियः॥९९॥एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः। असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत॥१००॥

अर्थ—प्रेतक्रिया करके ब्राह्मण जल को स्पर्श कर, क्षत्रिय शस्त्र और वाहनादि, तथा वैश्य हांकने के दण्डे या बाग को, और शूद्र लकड़ी को छूके शुद्ध होता है (अर्थात् अशौचसमाप्ति के दिन इन २ को ये २ वस्तु छूनी चाहियें, यह रीति है)॥९९॥ हे द्विजश्रेष्ठो ! यह सपिण्डों में अशौचविधान तुम लोगों से कहा और असपिण्डों में प्रेतशुद्धि का विधान आगे सुनो॥१००॥

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रोनिर्हृत्य बन्धुवत् । विशुद्ध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥१०१॥ यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुद्ध्यति । अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥१०२॥

अर्थ–यदि ब्राह्मण असपिण्ड मृत द्विज का स्नेह से बन्धु के समान अन्त्येष्टयादि कर्म करे तौ और माता के संबन्ध वाले बान्धवों के भी दाहादि करे तो तीन दिन में शुद्ध होता है ॥१०१॥ जो दाहादि करने वाला विप्र, मृतक के सपिण्डों का अन्न खाता हो तौ १० दिनमें शुद्ध हो और जो उन का अन्न न खाता हो और उस घरमें न रहता हो तौ एक दिन में शुद्ध हो जाता है ॥१०२॥

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च। स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥१०३॥ न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृते शूद्रेण नाययेत्। अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता१०४

अर्थ–स्वजाति वा अन्य जाति के मुरदे के पीछे जान बूझकर जाने से सचैल स्नान, अग्निस्पर्श और घृत को खाकर शुद्ध होता है ॥ १०३ ॥ सजातियों के रहते हुवे ब्राह्मण के मुर्दे को शूद्र से दाहार्थ न लिवा जावे। क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित आहुति सुख देने वाली न होगी ॥१०४॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्। वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् ॥१०५॥ सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्। योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥१०६॥

अर्थ–मनुष्यों को ये ज्ञानादि शुद्धि करने वाले हैं–ज्ञान तप अग्नि आहार मृत्तिका मन पानी लीपना वायु यज्ञादि सूर्य और काल (इसी से आशौच और शौच के हेतु समझ लेने चाहियें) ॥१०५॥ इन सब शौचों में अर्थशौच (अर्थात् अन्याय करके दूसरेका धन न लेनेकी इच्छा रूप शौच) सब से श्रेष्ठ कहा है। यदि अर्थशौच नहीं तौ मृत्तिकादि से कुछ शुद्धि नहीं होती और जो अर्थ में शुद्ध है वही शुद्ध हैं ॥ १०६ ॥

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः। प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥१०७॥ मृत्तोयैः शुद्ध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति। रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ॥१०८॥

अर्थ–क्षमा से विद्वान् शुद्ध होते हैं। जो यज्ञादिक क्रिया नहीं कर सके वे दान। गुप्त पाप वाले जप से और उत्तम वेद के जानने वाले तप से

शुद्ध होते हैं ।। १०७ ।। मलयुक्त अशुद्ध वस्तु मृत्तिका और जल से शुद्ध होती है । नदी वेग से शुद्ध होती है और मन से दूषित स्त्री रजस्वला होने पर शुद्ध होती है और ब्राह्मण त्याग से शुद्ध होता है ।।१०८।।

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति । विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ।।१०९।। एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः। नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ।।११०।।

अर्थ—पानी से शरीर शुद्ध होते हैं । मन सत्य बोलने से शुद्ध होता है । सूक्ष्म लिङ्ग शरीर से युक्त जीवात्मा विद्या और तप से शुद्ध होता है। ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है ।। १०९ ।। यह तुम से शरीरशुद्धि का निर्णय कहा । अब नाना प्रकार के द्रव्यों की शुद्धि का निर्णय सुनो ।। ११० ।।

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च । भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ।। १११ ।। निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति । अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ।।११२।।

अर्थ—सुवर्णादि और हीरादि मणियों और सम्पूर्ण पाषाणमय पदार्थों की, राख मिट्टी और पानी से मनीषियों ने शुद्धि कही है ।।१११।। सोने का बर्तन जिसमें उच्छिष्ट न लगा हो और शंख मोती आदि जलज और पत्थर के वर्त्तन तथा चांदी के जिनपर नक़शा न हो, वे सब केवल जल से शुद्ध होते हैं।।११२।।

अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्बभौ। तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ।। ११३ ।। ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च। शौचं यथार्हं कर्त्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ।।११४।।

अर्थ—जल और अग्नि के संयोग से चांदी सोना उत्पन्न हुआ है इसलिये इन का शोधन अपनी योनि=पानी और अग्नि से ही बहुत उत्तम है।।११३।। तांबा लोहा कांसी पीतल लाख सीसा, इन के वर्त्तनों को खार, खट्टे पानी और केवल पानी से जिस में जो उचित हो उस से उसका शोधन करे।।११४।।

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिराप्लवनं स्मृतम्। प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ।।११५।। मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना

यज्ञकर्मणि। चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥११६॥

अर्थ-द्रवों को पिंघला कर छान लेने से शुद्धि होती है और जमे हुवों की प्रोक्षण से और लकड़ियों के बर्त्तनादि की छीलने से शुद्धि होती है॥११५॥ परन्तु यज्ञकर्म में यज्ञपात्रों की हाथ से मार्जन द्वारा शुद्धि होती है और चमसों तथा ग्रहों=संडसी वा चिमटों की धोने से शुद्धि होती है।।११६।।

चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा। स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च॥११७॥ अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम्। प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिःशौचं विधीयते॥११८॥

अर्थ-यज्ञ की सामग्री चरु, स्रुच्, स्रुव, स्फय, शूर्प, शकट, ओखली और मूसल की शुद्धि गरम पानी से होती है।।११७।।बहुत धान्यों और कपड़ों की शुद्धि पानी के प्रोक्षण से और थोड़े हों तो धोने से कही है ॥११८।। (इस से आगे दो पुस्तकों में एक श्लोक अधिक पाया जाता है:-

[त्र्यहकृतशौचानां तु वायसी शुद्धिरिष्यते।
पर्युक्षणाद्धूपनाद्वा मलिनामतिधावनात् ॥]

३ दिन में जिन की शुद्धि कही है उन मृत बालकों के वस्त्र, उन की आयु के अनुसार शुद्ध होते हैं। किन्हीं की छिड़कने, किन्हीं की धूप देने और किन्हीं मैले वस्त्रों की अत्यन्त धुलाने से शुद्धि जानो) ।।११८।।

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च। शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥११९॥ कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः। श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥१२०॥

अर्थ-चमड़ों और चटाइयों की शुद्धि वस्त्रवत् होती है और शाक मूल फलों की शुद्धि धान्य के समान चाही गई है ॥११९॥ रेशमी और ऊनी कपड़ों की शुद्धि रेह वा सुनहरी मिट्टी से और नैपाल के कंबलों की रीठों से तथा शणादि घास के कपड़ों की बेल से और छालटी वस्त्रों की श्वेत सरसों से शुद्धि होती है।।१२०॥

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च। शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा॥१२१॥ प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुद्ध्यति। मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनः पाकेन मृण्मयम् ॥१२२॥

अर्थ—शङ्ख,शृङ्ग,हड्डी,दांत के पात्रादि की शुद्धि शास्त्र का जानने वाला पुरुष पानी या गोमूत्र से करे। या जैसे छालटी की होती है॥१२१॥ घास, और फूंस प्रोक्षण से और घर मार्जन तथा लीपने से और मिट्टी का बरतन पुनः आग में देने से शुद्ध होता है॥१२२॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः। संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृण्मयम्॥ १२३॥ संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च। गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः॥१२४॥

अर्थ—परन्तु शराब, मूत्र, मल, थूक, राध और रक्त से दूषित हुआ मृत्तिका का पात्र पुनः अग्निमें पकाने से भी शुद्ध नहीं होता॥१२३॥ मार्जन,लीपने, छिडकने,छीलने और गौके वास करने, इन पांचोंसे भूमि शुद्ध होती है॥ १२४॥

पक्षिजग्धं गवा घ्रातमवधूतमवक्षुतम्। दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति॥१२५॥ यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धोलेपश्च तत्कृतः। तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु॥१२६॥

अर्थ—पक्षी ने जहां खाया हो और गाय ने सूंघा हो वा पैर से कुचला हो तथा जिसके ऊपर छींक दिया हो,और जो कीडों तथा केशों से दूषित हुआ हो वह (स्थान) मृत्तिका डालने से शुद्ध होता है॥ १२५॥ अमेध्य अर्थात् विष्टादि के लेप से समस्त द्रव्यशुद्धियों में जब तक उस का गन्ध और लेप रहै तब तक पानी और मिट्टी से उसको धोवे॥ १२६॥

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्। अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते॥ १२७॥ आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत्। अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः॥१२८॥

अर्थ—देवतों ने ब्राह्मणों के तीन पदार्थ पवित्र कहे हैं। एक अदृष्ट, दूसरा जो पानी से धोलिया हो, तीसरे ब्राह्मण की वाणी से जो ठीक हो॥१२७॥ जिस पानी में गाय की प्यास निवृत्त होसके और अमेध्ययुक्त न हो तथा गन्ध वर्ण रस से ठीक हो, ऐसा पानी भूमि में शुद्ध है॥१२८॥

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम्। ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमितिस्थितिः॥१२९॥ "नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां

(१४१ से आगे एक पुस्तक में दो श्लोक अधिक हैं:-

[अजाश्वं मुखतो मेध्यं गावो मेध्याश्च पृष्ठतः ।
ब्राह्मणाः पादतो मेध्याः स्त्रियोमेध्याश्च सर्वतः ॥
गौरमेध्या मुखे प्रोक्ता अजा मेध्या ततः स्मृता ।
गोः पुरीषं च मूत्रं च मेध्यमित्यब्रवीन्मनुः]

बकरी घोड़े मुख से पवित्र हैं। गौ पीठसे पवित्र है। ब्राह्मण पावों से पवित्र हैं और स्त्रियां सब ओर से पवित्र हैं॥ गौ का मुख अपवित्र है परन्तु बकरी का मुख पवित्र है और गौ का गोबर और मूत्र पवित्र है। यह मनुने कहा है)।।१४१॥

स्पृशन्ति बिन्दवःपादौ यआचामयतःपरान् ।
भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत् ॥ १४२॥

दूसरे के आचमनको जल देनेवाले के पैरों पर जो बिन्दु (भूमि से उछट कर) पड़ते हैं उन को भूमि के जलबिन्दुसमान जाने। उनसे अशुद्ध नहीं होता ।।१४२।।

(१४२ से आगे भी एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[दन्तवद्दन्तलग्नेषु जिव्हास्पर्शेषु चेन्न तु ।
परिच्युतेषु तत्स्थानान्निगिरन्नेव तच्छुचिः]

दान्तों में घुसा अन्न दान्तों के तुल्य पवित्र है परन्तु जीभ से न लगता हो। और वह अन्न दान्तों से छूटने पर निगलने में शुद्ध है) ।।१४२।।

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तःकथञ्चन । अनिधायैव तद्द्रव्यमा-
चान्तःशुचितामियात् ॥१४३॥ वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्रा-
शनमाचरेत् । आचामेदेव भुक्त्वान्नं नानं मैथुनिनःस्मृतम्॥१४४॥

अर्थ-उच्छिष्ट पुरुष से कोई द्रव्य हस्त में लिये हुवे छूगया हो तो उस द्रव्य को अलग किये विना ही आचमन करके शुद्ध होजाता है।।१४३।। वमन तथा दस्त जिसे हुवा हो वह स्नान करके (थोड़ा) घृत खावे और भोजन करके वमन किया हो तो आचमन करके ही और मैथुन वाला स्नान से (शुद्ध होता है)।।१४४।।

(१४४ वें से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[अनृतौ तु मृदा शौचं कार्यं मूत्रपुरीषवत् ।
ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्]

ऋतु काल में मैथुन करने वाले को मिट्टी से शौच करना चाहिये । जैसे मल मूत्र करने से आकर करते हैं । परन्तु ऋतु में गर्भ की शङ्कायुक्त होने से स्नान करना कहा है) ॥ १४४ ॥

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वानृतानि च। पीत्वापोऽध्ये-ष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥ १४५॥ एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च।उक्तो वःसर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत॥१४६॥

अर्थ–सोकर, छींक कर, भोजन करके, थूक के, (भूल से) झूंठ बोल कर और पानी पीकर और पढ़ने के पूर्व समय में शुद्ध हुआ भी आचमन करे।।१४५॥ यह संपूर्ण शौचविधि और सब वर्णों की द्रव्यशुद्धि तुम से कही । अब स्त्रियों के धर्म सुनो।।१४६॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता । न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि॥१४७॥बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने। पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ १४८ ॥

अर्थ–चाहे बालक या वृद्ध या युवति भी हो, स्त्री स्वतन्त्र कोई काम घर में भी न करे।।१४७।।बाल्य अवस्था में पिता के, यौवन में पति के और पति मरने पर (वृद्धावस्था में) पुत्रों के घर में वा आधीन रहे। स्त्री कभी स्वतन्त्र न रहै। (कहीं २ "पितुर्गृहे" । पाठ है) ।। १४८ ॥

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वाऽपि नेच्छेद्विरहमात्मनः। एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले॥१४९॥सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया। सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

अर्थ–पिता भर्ता पुत्र, इन से स्त्री अलग होना न चाहे क्योंकि इन से अलग होने से दोनों कुलों को निन्दित करती है ।।१४९।। सर्वदा प्रसन्नचित्त और घर के कामों में चतुर तथा घरके बर्तन भांडे ठीक करकेरक्खे और व्यय करने में स्त्री सर्वदा हाथ सकोड़े रहे ।।१५०।।

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनांभ्राता चानुमते पितुः। तंशुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्॥१५१॥मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः। प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥१५२॥

अर्थ—पिता या पिता की अनुमति से भाई जिस(स्वयंवृत पति)को इसे देवे, उस की जीवते की सेवा करे और मरने पर व्यभिचारादि न करे ।।१५१।। इन का जो स्वस्त्ययन और प्राजापत्य होम विवाह में किया जाता है, वह तो केवल मङ्गलार्थ है और कन्यादान (पति के) स्वामी होनेका कारण है ।।१५२।।

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः।सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥१५३॥ विशीलःकामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः। उपचर्यःस्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥१५४॥

अर्थ—मन्त्रसंस्कार अर्थात् विवाह करने वाला पति ऋतु और अनृतु में सदा सुख देने वाला है। उस की सेवा से यहां और परलोक में भी सुख प्राप्त होता है ॥१५३।। पति शीलरहित कामी तथा विद्यादि गुणों से रहित भी हो तथापि अच्छी स्त्री को देववत् आराधनयोग्य है ।।१५४।।

(१५४ के आगे भी ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:—

[दानप्रभृति या तु स्याद्यावदायुः पतिव्रता ।
भर्तृलोकं न त्यजति यथैवारुन्धती तथा]

जो स्त्री पिता आदि ने जब कन्यादान किया उस समय से सारी आयु पतिव्रता रहती है वह अरुन्धती(तारे)के समान भर्तृलोक को नहीं त्यागती) ।।१५४।।

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ १५५ ॥

अर्थ—स्त्रियों का अलग कोई यज्ञ नहीं है, न व्रत, न उपवास। केवल एक पति की शुश्रूषा से स्वर्ग में पूज्या होजाती है ।। (इस के आगे का एक श्लोक ३ पुस्तकों में मिलता है:—

[पत्यौ जीवति या तु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत् ।
आयुष्यं बाधते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति]

जो स्त्री पति के जीवते भूखी रहने वाला व्रत करती है, वह पति की आयु को बाधा पहुंचाती और नरक को जाती है) ॥१५५।।

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किञ्चिदप्रियम् ॥१५६॥

अर्थ—पतिलोक की इच्छा करने वाली स्त्री जीवित वा मृत पति को अप्रिय कोई कर्म न करे ।। १५६ ।।

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैःशुभैः।न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥१५७॥ आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी। यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥१५८॥

अर्थ—चाहे तो स्त्री पवित्र पुष्प मूल फलों से देह को कृश करदे, परन्तु पति के मरने पर परपुरुष का (व्यभिचार की इच्छा से) नाम भी न लेवे ।।१५७।। (चाहे तो) क्षमायुक्त, नियम वाली और पवित्र एक पतिधर्म की इच्छा करने वाली और मैथुन की इच्छा न करती हुई, मरण पर्यन्त रहे ।।१५८।।

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् । दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥१५९॥ मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता। स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥१६०॥

अर्थ—कुमार ब्रह्मचारी ब्राह्मणों के कई हज़ार समुदाय विना पुत्रोत्पादन किये स्वर्ग का गये ।।१५९।। इसी प्रकार साध्वी स्त्री पति के मरने पर ब्रह्मचर्य में रहे तो अपुत्रा भी स्वर्ग को जाती है, जैसे वे ब्रह्मचारी ।।१६०।।

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्त्तते । सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते॥१६१॥नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे। न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते ॥१६२॥

अर्थ—पुत्र के लोभ से जो स्त्री परपुरुष से सम्बन्ध करती है, वह यहां निन्दा को पाती है और पतिलोक से भी वञ्चित रहती है (मेधातिथि ने "परलोकात्„ पाठ माना है) ।। १६१।। दूसरे पुरुष से (व्यभिचार की) उत्पन्न हुई सन्तान शास्त्र से उसकी नहीं है और न दूसरी स्त्री में उत्पन्न करने वाले की है । और न कहीं साध्वी स्त्रियों का दूसरा विवाहित पति कहा है ।।१६२।।

पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते। निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते॥१६३॥व्यभिचारात्तु भर्तुःस्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्। शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥१६४॥

अर्थ—अपने अपकृष्ट पति को छोड़कर उत्कृष्ट को करे तो लोगों में निन्दा होती है और उसको 'दो पति की स्त्री है' ऐसा कहते हैं ।। १६३ ।। पर-पुरुष के भोग से स्त्री, लोगों में निन्दा और मरने पर स्यार की योनि को प्राप्त होती है और कुष्ठादि पापरोगों से पीड़ित होती है ।।१६४।।

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता । सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥१६५॥ अनेन नारी वृत्तेन मनोवाग्देह-संयता । इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥१६६॥

अर्थ—मन वाणी देह से जो पति को दुःखित नहीं करती, वह पति-लोक को प्राप्त होती है । और अच्छे पुरुष उसको साध्वी कहते हैं ।।१६५।। इस धर्म से मन वाणी और देह का संयम करने वाली स्त्री यहां श्रेष्ठ कीर्त्ति और परलोक में पतिलोक को प्राप्त होती है ।। १६६।।

एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् । दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ १६७ ॥ भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्वाग्नीन-न्त्यकर्मणि । पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥१६८॥

अर्थ—ऐसी सवर्णा स्त्री पति से पूर्व मर जावे तो धर्मज्ञ द्विज उसे स्मार्ता-ग्नि और यज्ञपात्रों के सहित दाह देवे।।१६७।। पूर्व मरी स्त्री को अन्त्येष्टि में अग्नि देकर गृहस्थाश्रम के निमित्त पुनः विवाह करे तो और अग्निहोत्र लेवे ।। १६८ ।।

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥१६९॥

—:※:—

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)

पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

—:※:—

अर्थ—इस विधि से विवाह करने वाला पुरुष आयु का दूसरा भाग गृहस्थाश्रम में व्यतीत करे और पञ्चमहायज्ञों का त्याग न करे ।। १६९ ।।

(यद्यपि सामान्य धर्म पुरुषों के साथ ही स्त्रियों का भी कहा गया समझना चाहिये। परन्तु १४७ से अध्यायसमाप्ति तक स्त्री का जो विशेष धर्म है उस का वर्णन है। इस में १४७। १४८ वें श्लोकों का तात्पर्य नवमाध्याय में भी आवेगा इस लिये पुनरुक्त से हैं। १५४ वें में पुरुष का अनुचित (हिमायत) पक्षपात है। १५७ से १६१ तक स्त्री को विधवा होने पर ब्रह्मचर्य से रहने की उत्तमता का वर्णन है। नियोगादि करना उस से घटिया पक्ष है। १६३। १६४ में जो परपुरुषसंग की निन्दा है, वह व्यभिचार की निन्दा है। जिससे पापरोग उपदंशादि प्रत्यक्ष होते देखे जाते हैं। १६२ में अन्य से उत्पन्न सन्तान को सन्तान न मानना व्यभिचार की सन्तान के विषय में है। नियमपूर्वक विधियुक्त नियुक्तों की सन्तति तो सन्तति ही है।१६८ में स्त्री मरने पर पुनर्विवाह का विधान आवश्यक नहीं है किन्तु उस का भाव यह है कि यदि पुरुष अक्षत वीर्य होने से पुनर्विवाह का अधिकारी हो और विवाह करना चाहे, तो कर सक्ता है परन्तु फिर से अग्निहोत्र लेना होगा॥ इस में ऊपर लिखे अनुसार दो श्लोक इस प्रकरण में ऐसे भी हैं जो सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते और यह भी संशय है कि पुनरुक्तादि उक्त दोषों वाले श्लोक भी स्त्रियों की अत्यन्त परतन्त्रता के पक्षपाती लोगों ने कदाचित् बढ़ाये हों क्योंकि १५९।१६० श्लोकों में तो बहुत ही नवीनता झलकती है)॥१६९॥

इति श्रीतुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

ओ३म्

अथ षष्ठोऽध्यायः

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥१॥

अर्थ—स्नातक द्विज (जिस का समावर्त्तन हुआ हो) ऐसे यथाविधि गृहस्थाश्रम में रह कर नियमपूर्वक जितेन्द्रियता से वन में निवास करे (अर्थात् वानप्रस्थाश्रम को स्वीकार करे ॥ एक पुस्तक में और रामचन्द्र के भाष्य में इस से आगे यह श्लोक अधिक है:—

[अतःपरंप्रवक्ष्यामिधर्मंवैखानसाश्रमम् ।
वन्यमूलफलानांचविधिंग्रहणमोक्षणे]

इस से आगे वानप्रस्थाश्रमी का धर्म और वन के मूल तथा फलों के लेने और त्यागने का विधान कहूंगा) ॥ १ ॥

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥२॥

अर्थ—गृहस्थ जब अपने देह का त्वचा को ढीली और सिर के बाल श्वेत और सन्तान की भी सन्तान को देखले तब वन का आश्रय करे ॥ २ ॥

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्। पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥३॥ अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् । ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥४॥

अर्थ—ग्रामका भोजन (दाल चावल पक्वान्नादि) और गाय घोड़ा शय्या इत्यादि को छोड़, स्त्री को पुत्रों के पास छोड़ के या साथ लेकर वन को गमन करे ॥३॥ अग्निहोत्र और उसके पात्र स्रुवा इत्यादि का ग्रहण कर, ग्राम से निकल कर इन्द्रियों को स्वाधीन करता हुवा वन में निवास करे ॥४॥

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा । एतानेव महायज्ञा-

न्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥५॥ वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा। जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥६॥

अर्थ—नाना प्रकार के मुनियों के पवित्र अन्न वा शाक मूल फलों से इन महायज्ञों को करे ॥५॥ मृगों का चर्म या वृक्षों के वल्कलों को पहिने। प्रातःकाल तथा सायंकाल दोनों समय स्नान करे। जटा और श्मश्रु तथा नख और रोम सर्वदा धारण करे ॥ ६ ॥

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः। अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥७॥ स्वाध्याये नित्ययुक्तःस्याद्दान्तो मैत्रःसमाहितः। दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥८॥

अर्थ—अपना जो भोजन है उसी में से यथाशक्ति बलि करे और भिक्षा देवे और आश्रम में आयों का जल मूल फल भिक्षा से सत्कार करे ॥ ७ ॥ प्रतिदिन वेदाध्ययन करे और शीत आतपादि का सहन करने वाला और सब का उपकार करने वाला तथा मन को स्वाधीन करने वाला और सर्वदा देता रहे, लेवे नहीं। संपूर्ण जीवोंपर दया करने वाला हो ॥८॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि। दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥९॥ ऋक्षेष्ट्याग्रायणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत्। उत्तरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च ॥१०॥

अर्थ—गार्हपत्य कुण्ड में की अग्नि को आहवनीय दक्षिणाग्नि में मिलाने का नाम वितान है। उस में वैतानिक अग्निहोत्र यथाविधि करे और समय पर दर्श पौर्णमास इष्टियों को न छूटने दे ॥ ९ ॥ नक्षत्रेष्टि और अग्रयणेष्टि तथा चातुर्मास्य और उत्तरायण दक्षिणायन में विहित श्रौतकर्म भी करे (मेधातिथि ने—दर्शेष्ट्य ग्रहणम्। पाठ माना है। तथा दो पुस्तकों में दक्षिणायनमेव च। और ७ पुस्तकों में—दक्षस्यायनमेव च। पाठ है) ॥१०॥

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैःस्वयमाहृतैः। पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विविधवन्निर्वपेत्पृथक् ॥११॥ देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः। शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयंकृतम् ॥१२॥

अर्थ—अपने हाथसे लाये हुवे वसन्त और शरद् में उत्पन्न हुए पवित्र मुनियों के अन्नों से पुरोडाश और चरु बना कर विधियुक्त होम करे ॥११॥ वन का उत्पन्न हुआ अतिपवित्र हवि होम करके शेष लवण मिलाकर आप भोजन करे ॥१२॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च। मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसंभवान् ॥१३॥ वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च। भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥१४॥

अर्थ—भूमि वा जल में उत्पन्न हुवे शाक पुष्प मूल फलों और पवित्र वृक्षों से उत्पन्न स्नेहों=तैलों या फलों के स्नेहों का भोजन करे ॥१३॥ मद्य मांस और भूमि के कुकुरमुत्तों और भूतृण (मालवा में प्रसिद्ध है) तथा सहोंजना और श्लेष्मातक=लिसोड़ों को न खावे ॥१४॥

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम्। जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥ न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्। न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥१६॥

अर्थ—आश्विन के महीने में संचय किया हुआ पहिला मुन्यन्न और पुराने कपड़े तथा शाक मूल फल सब छोड़ देवे ॥१५॥ खेतों में के धान्यादि चाहे किसीने छोड़ भी दिये हों, न भोजन करे और ग्राम में होने वाले मूल फल पीड़ित हुआ भी न खावे ॥१६॥

अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा। अश्मकुट्टो भवेद्वापि दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥१७॥ सद्यःप्रक्षालको वा स्यान्मासस्संचयिकोऽपि वा। षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा॥१८॥

अर्थ—अग्नि का पका या समय से पके हुए फल ही या पत्थरों से कूटा हुवा या दांतों ही से चबाया हुवा खाने वाला होना चाहिये॥१७॥ एक बार के भोजन मात्र का संचय करने वाला वा महीनेभर का,वा छः महीने का,वा वर्ष दिन के निर्वाहयोग्य का संचय करने वाला हो ॥१८॥

नक्तं वान्नं समश्नीयाद्दिवा वाहृत्य शक्तितः। चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ॥१९॥ चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्ल-

कृष्णे च वर्तयेत्। पक्षान्तयोर्वाप्यश्नीयाद्यवागूं क्वथितां सकृत्२०

अर्थ–अपने सामर्थ्य के अनुसार रात्रि में वा दिन में अन्न लाकर १ वार खावे वा एक दिन उपवास करके दूसरे दिन सायंकाल को भोजन करे वा तीन दिन रात्रि उपवास करके चौथे दिन रात को भोजन करे ।।१९।। चान्द्रायण के विधान से शुक्ल कृष्ण पक्ष में ग्रास घटावे बढ़ावे वा पौर्णमासी अमावस में यवागू का एक बार भोजन करे ।।२०।।

(२० वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक मिलता है :–

[यतः पत्रं समादद्यान्न ततः पुष्पमाहरेत् ।
यतः पुष्पं समादद्यान्न ततः फलमाहरेत्]

जिस वृक्ष से पत्ते ले, उस से फूल न ले, जिससे फूल ले उस से फल न ले)।।२०।।

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा। कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ।।२१।। भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम्। स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः ।।२२।।

अर्थ–अथवा पुष्प मूल फल जो काल पाकर पकें और आप ही गिरें उन से वानप्रस्थाश्रम में रहने वाला निर्वाह करे।। २१ ।। भूमि में बैठा करे वा दिन भर खड़ा रहे । स्थान और आसन पर घूमें और सायं प्रातः मध्यान्ह त्रिकाल स्नान करे ।।२२।।

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशोवर्धयंस्तपः ।।२३।।
उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्देवांश्च तर्पयेत् ।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ।।२४।।

अर्थ–ग्रीष्म में पञ्चाग्निसाधन करे (चारों ओर अग्नि रक्खे ऊपर से सूर्य) और वर्षा काल में बादल और आकाश का आश्रय करे और हेमन्त में भीगे कपड़ों रहे । इस प्रकार सहिष्णुता रूपी तप को बढ़ावे ।।२३।। त्रिकाल स्नान करके देवों और पितरों का तर्पण करे। और उग्रतर तप करके अपने शरीर को सुखावे ।।२४।।

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि। अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥२५॥ अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः। शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

अर्थ—अग्नियों को वैखानस शास्त्र के विधान से अपने में समारोप करके मुनिव्रत करने वाला, फल मूल का भोजन किया करे। अग्नि और निकेत=स्थान भी न रक्खे॥२५॥ सुख के लिये प्रयत्न न करे और स्त्रीसंभोगरहित भूमि पर सोने वाला और निवासस्थानों में ममत्वरहित, वृक्ष के नीचे वास करने वाला होवे ॥२६॥

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्। गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥२७॥ ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन्। प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥२८॥

अर्थ—वानप्रस्थाश्रम वाले विप्रों से प्राण बचाने भर भिक्षा लेवे। उस के अभाव में अन्य वनवासी गृहस्थ द्विजों से लेवे॥२७॥ वनवासी ग्राम से लाकर अन्न के आठ ग्रास पत्ते वा सकोरे वा हाथ पर रखकर भोजन करे ॥ २८ ॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्। विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥२९॥ ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः। विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥

अर्थ—इन दीक्षाओं को वा अन्य जो वानप्रस्थाश्रम में कही हैं उनको वन में रहता हुआ सेवन करे। और विविध उपनिषत्सम्बन्धी श्रुतियों का आत्मज्ञानार्थ अभ्यास करे॥२९॥ जो कि ऋषि ब्राह्मण गृहस्थों ने ही विद्या और तप की वृद्धि तथा शरीर की शुद्धि के लिये सेवित की हैं ॥ ३० ॥

अपराजितां वास्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः। आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥३१॥ आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम्। वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते॥३२॥

अर्थ—शरीर के मरने तक जल वायु भक्षण करता हुआ जिस का पराजय न हो ऐसी दिशा को जितेन्द्रिय और कुटिल गति से रहित होकर

गमन करे। कोई कहते हैं कि असाध्य व्याधिके उत्पन्न होने में ऐसा करे॥३१॥ ये जो महर्षियों के अनुष्ठान हैं इन में से कोई अनुष्ठान करके विप्र शरीर को छोड़,शोक भय से रहित हो,ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त होताहै ।३२॥ (यहां तक वानप्रस्थाश्रम का वर्णन है। इस में १९ वें से ३२ वें तक जो शरीर का कर्षण है,यह आवश्यक विधान नहीं, किन्तु सहनशीलतादि तप की वृद्धि के लिये कथन है। जो जैसा करसके वा करना चाहे, करे) ।।३२।।

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः। चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥३३॥ आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः। भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥

अर्थ–ऐसे आयु के तीसरे भाग को वन में व्यतीत कर, चतुर्थ भाग में विषयादि का सङ्ग छोड़कर, संन्यास आश्रम को धारण करे (आयु के चार भाग चारों आश्रमों पर हैं) ।।३३॥ आश्रम से आश्रम में गमन करे (अर्थात् ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, उस से वानप्रस्थ, वानप्रस्थ से) जितेन्द्रिय हवन करके भिक्षा और बलि से थका हुवा संन्यास आश्रम का अनुष्ठान करने वाला मरने पर मोक्ष प्राप्त करता है ।।३४।।

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ३५ ॥ अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥३६॥

अर्थ–तीन ऋणों को चुका कर मन को मोक्ष में लगावे। विना ऋणों के चुकाये चतुर्थ आश्रम को धारण करने वाला, नीचे गिरता है ॥ ३५ ॥ विधियुक्त वेदों को पढ़कर, विवाहादि से पुत्रों को उत्पन्न कर, यथाशक्ति ज्योतिष्टोमादि यज्ञों को करके, (ऋषिऋण, पितृऋण, देवऋण; इन से निवृत्त हुआ चतुर्थ आश्रम में) मोक्ष में मन लगावे ।।३६।।

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्। अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥३७॥ प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ॥३८॥

अर्थ–वेदाध्ययन किये विना,और पुत्रों को उत्पन्न किये विना, यथाविधि

यज्ञों को न करके,मोक्ष की इच्छा करता हुआ नीचे को गिरता है ॥३७॥ सर्व-स्वदक्षिणाकी प्रजापति देवताके उद्देशवाली इष्टि करके और अपने में अग्नियों का समारोपण करके ब्राह्मण वानप्रस्थाश्रम से चतुर्थाश्रम को धारण करे॥३८॥

यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् । तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥३९ ॥ यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् । तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥

अर्थ–जो स्थावर जङ्गमों को अभय दान करके गृह से चतुर्थ आश्रम को जाता है,उस को तेजोमय लोक प्राप्त होते हैं (अर्थात् ब्रह्मलोक प्राप्त होता है) ॥३९॥ जिस द्विज से प्राणियों को थोड़ा भी भय नहीं होता, देह छूटने पर उस को कहीं भय नहीं है (अर्थात् वह भी अभय होजाता है) ॥ ४० ॥

आगारादभिनिष्क्रान्तःपवित्रोपचितो मुनिः । समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥ एकएव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् । सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥४२॥

अर्थ–घर से निकला हुआ और पवित्र दण्ड कमण्डलुयुक्त अच्छे प्रकारप्राप्त हुवे कामों में भी अपेक्षारहित हुआ मुनि चतुर्थाश्रम धारण करे ॥४१॥ एकाकी (सर्वसङ्गरहित) को मोक्षप्राप्ति होती है,ऐसा जानताहुआ सर्वदा सहायकरहित अकेला रहे (तब) वह न छोड़ता है, न छूटता है (एकरस हो जाता है) ॥४२॥

अनग्निरनिकेतःस्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् । उपेक्षकोऽशङ्कुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥ कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता । समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

अर्थ–अग्नि तथा घर से रहित भिक्षा को ग्राम का आश्रय करे और दुःख हो तो चिन्ता न करे तथा स्थिरचित्त और मुनिधर्म से युक्त रहे ॥ ४३ ॥ भोजनार्थ खपरा, स्थानार्थ वृक्षके नीचे की भूमि,स्थूल वस्त्रों की कन्था, किसी से सहायता न चाहना और सब में समान बुद्धि; यह मुक्त का लक्षण है ॥४४॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥४५॥

अर्थ—न जीवने में सुख माने न मरने में, किन्तु मृत्यु के समय की प्रतीक्षा करे। जैसे नौकर आज्ञा की प्रतीक्षा करता है॥ ("बहुत अच्छा" कह कर प्राण त्याग दे) ॥४५॥ (नीचे लिखे श्लोकों में से एक पुस्तक में पहले दो, और एक पुस्तक में पहिला एक और ८ पुस्तकों में तीनों श्लोक अधिक पाये जाते हैं और एक पर राघवानन्दकी तथा तीनों पर रामचन्द्रकी टीका भी है:—

[ग्रैष्म्यान्हैमन्तिकान्मासानष्टौभिक्षुर्विचक्रमेत्।
दयार्थं सर्वभूतानां वर्षास्वेकत्र संवसेत्॥ १॥
भासूर्यं हि व्रजेन्मार्गं नादृष्टां भूमिमाक्रमेत्।
परिभूताभिरद्भिस्तु कार्यं कुर्वीत नित्यशः॥ २॥
सत्यां वाचमहिंस्रां च वदेदनपकारिणीम्।
कल्कापेतामपरुषामनृशंसामपैशुनाम्॥ ३॥]

गरमी और जाड़े के आठ मास में संन्यासी देशाटन करे और सब जीव जन्तुओं पर दया के लिये वर्षा के ४ मास तक एक स्थान में निवास करे॥१॥ रात्रि में मार्ग न चले। भूमि को बिना देखे न चले। अधिक जल से नित्य कार्य करें॥२॥ सत्य, हिंसारहित, दूसरे की हानि न करने वाला, कठोरता क्रोध निन्दा और चुगली से रहित वचन बोले॥ ३॥]॥४५॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ ४६॥

अर्थ—दृष्टि से शोधित (मार्ग में) पैर रक्खे (अर्थात् देखकर चले) और वस्त्र से (छानकर) पवित्र हुआ जल पीवे और सत्य से पवित्र वाणी बोले और मन से पवित्र आचरण करे॥४६॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन। न चेमं देहमाश्रित्य वैरंकुर्वीत केनचित्॥४७॥ क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुद्ध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्। सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥४८॥

अर्थ—दूसरे के कहने का सहन करे और किसी का अपमान न करे और इस देह का आश्रय कर किसीके साथ वैर न करे॥४७॥ क्रोध करने वालेके साथ

क्रोध न करे और निन्दा करने वाले से आप अच्छा बोले और पञ्चेन्द्रिय मन बुद्धि इन ७ (वा १ मुख का २ नाक के २ कानों के २ आंखों के इन ७) छिद्रोंमें बिखरी हुई असत्य वाणी न बोले(किन्तु शास्त्रीय वचन बोले)।।४८।।)

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः। आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥४९॥न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया । नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥५०॥

अर्थ--सर्वदा ब्रह्मध्यान में रहने वाला और किसी की अपेक्षा न रखने वाला और विषयों के अभिलाष से रहित तथा अपनी ही सहायता से सुख चाहने वाला होकर इस संसारमें विचरे।।४९।।भविष्यत् उत्पात भूकम्पादि बताने वा ग्रहोंकी विद्या वा उपदेश वा शास्त्रार्थके बदले भिक्षाकी इच्छा नकरे।।५०।।

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः । आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसंव्रजेत् ॥५१॥ क्लृप्तकेशनखश्मश्रुःपात्री दण्डी कुसुम्भवान्। विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥५२॥

अर्थ—वानप्रस्थों वा और ब्राह्मणों तथा पक्षियों वा कुत्तों वा अन्य मांगने वालों से घिरे मकान में भिक्षा को न जावे ।।५१।। नख केश श्मश्रु जिस के मुंडे हों, पात्र और दण्ड तथा कमण्डलु और रंगे कपड़ों से युक्त, किसी को पीड़ा न देता हुआ सर्वदा नियम से विचरे ।।५२।।

“अतैजसानिपात्राणितस्यस्युर्निर्व्रणानिच । तेषामद्भिःस्मृतं शौचंचमसानामिवाध्वरे॥५३॥ अलाबुंदारुपात्रंचमृण्मयंवैदलं तथा । एतानियतिपात्राणिमनुःस्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥५४॥ ”

“अर्थ—उसके पात्र तैजस अर्थात् सोना चांदी पीतलआदि धातुओं के न हों और छिद्ररहित हों। पानीसे उनकी पवित्रता कही है,जैसे यज्ञ में चमसोंकी।।५३॥तूंबी,लकड़ी मिट्टी वा बांस के बनेहुवे, ये यतियोंके भिक्षापात्र हैं। ऐसा “स्वायंभुव मनुने कहाहै” (इसीसे स्पष्टहै कि अन्यकृत हैं) ।।५४।।

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे । भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥५५॥ विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे

*यहां सब टीकाकारों ने“आमिष”का अर्थ“विषय” ही कियाहै। मांस नहीं

भुक्तवज्जने । वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥५६॥

अर्थ—एक बार भिक्षा करे। बहुत में आसक्त न हो। बहुत भिक्षा में फंसा संन्यासी अन्य विषयों में भी आसक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥ रसोई का धुआं निकल चुका हो और कूटना आदि बन्द हो गया हो, तथा आग बुझा दी हो, और गृहस्थादि सब भोजन कर चुके हों और रसोई के बर्त्तन डाल दिये हों, तब ऐसे गृह में संन्यासी सर्वदा भिक्षा मांगे ॥५६॥

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् । प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद्विनिर्गतः ॥५७॥ अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः । अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते॥५८॥

अर्थ—भिक्षा न मिले तो खेद न करे और मिले तो आनन्द न माने। जीवनमात्र का उपाय करे। मात्रासङ्ग (अर्थात् शब्द रूप रस गन्ध स्पर्श इन) विषयों से रहित होवे ॥५७॥ यती पूजापूर्वक (स्वादिष्ट) भिक्षालाभ की निन्दा करे (अर्थात् ऐसी भिक्षा प्रसन्न न करे)। क्योंकि ऐसी भिक्षा के लाभों से देने वाले के स्नेह ममत्वादि से मुक्त भी यती बन्धन को प्राप्त होजाता है ॥५८॥

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च । ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥५९॥ इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च । अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥६०॥

अर्थ—थोड़े भोजन और निर्जन देश और स्थान में रहने से विषयों में खिंची हुई इन्द्रियों को रोके ॥५९॥ इन्द्रियों के रोकने और रागद्वेष के नाश करने तथा प्राणियों की हिंसा न करने से मोक्ष के योग्य होता है ॥ ६० ॥

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः । निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥६१॥ विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः । जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२॥

अर्थ—मनुष्यों की कर्म दोषों से उत्पन्न दशाओं को देखे। और नरक में गिरना और मृत्यु के पश्चात् नाना—प्रकार की शिक्षाओं का सर्वदा चिन्तन करे ॥६१॥ और प्यारों के वियोग तथा अप्रियों के संयोग, वृद्धावस्था से दबाये जाने तथा व्याधियों से पीड़ित होने पर भी (कर्मदोषोद्भव) ध्यान करे ॥६२॥

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च संभवम् । योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥६३॥ अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् । धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥६४॥

अर्थ—जीवात्मा का इस देह से निकलना, फिर गर्भ में उत्पत्ति, और कोटि सहस्रयोनियोंमें आना—॥६३॥ देहधारियों को अधर्म से दुःख का योग धर्म अर्थ से उत्पन्न अक्षय सुख का (चिन्तन करे) ॥६४॥

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः । देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥६५॥ दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः । समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥६६॥

अर्थ—योग से परमात्मा की सूक्ष्मता का ध्यान करे । उत्तम और अधम योनियों में जीवों के शुभाशुभ फल भोग के लिये उत्पत्ति का भी (अनुचिन्तन करे) ॥६५॥ दोष लगाने पर भी संपूर्ण जीवों में समदृष्टि करता हुआ चाहे किसी आश्रम में रहे पर धर्म के आचरण करे । क्योंकि दण्डादि चिन्ह धर्मका कारण नहीं है (एक पुस्तकमें दूषितः=गृहस्थः, और ४ पुस्तकों में—भूषितः । पाठभेद है)॥६६॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् । न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति॥६७॥ संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा । शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥६८॥

अर्थ—जैसा कि निर्मली का फल यद्यपि पानी शुद्ध करने वाला है, परन्तु निर्मलीके नामोच्चारणसे ही पानी शुद्ध नहीं होता॥६७॥ पिपीलिकादि सूक्ष्म जन्तुओंकी रक्षाके लिये शरीरको क्लेश होनेपरभी सर्वदा भूमिको देखकरचले॥६८॥

अह्ना रात्र्या च यान् जन्तून्हिनस्त्यज्ञानतो यतिः । तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्षडाचरेत् ॥६९॥ प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः। व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥७०॥

अर्थ—यती से जो जीव विना जाने दिन या रात में मरजाते हैं, उस पाप के दूर होने को स्नान कर छःबार प्राणायाम करे ॥६९॥ व्याहृतिप्रणव युक्त विधि से किये हुवे ३ ही प्राणायाम ब्राह्मण का परम तप जानिये ॥७०॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७१॥ प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम्। प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥

अर्थ–जैसे सुवर्ण आदि धातुओं के मैल अग्नि में धोंकने से फुंकते हैं वैसे ही प्राण के रोकने से इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं।।७१।।प्राणायामों से रागादि दोषों को जलावे और धारणाओं से पाप को । तथा इन्द्रियों के रोकने से विषयों के संसर्गों को और ध्यान से काम क्रोध लोभ मोहादि को जलावे।।७२।।

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः। ध्यानयोगेन संपश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः ||७३॥सम्यग्दर्शनसंपन्नःकर्मभिर्न निबद्धयते। दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ||७४||

अर्थ–इस जीव की उत्तम अधम योनियों में प्राप्ति को, जो अकृतात्मा पुरुषों से नहीं जानी जाती, ध्यान योग से देखे (जाने) ॥७३॥ ब्रह्म को साक्षात् करने वाला कर्मों से नहीं बन्धता और जो साक्षात्कार से रहित है वह संसार को प्राप्त होता है ।।७४।।

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः । तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ।।७५॥ अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् । चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ||७६||

अर्थ–हिंसा न करने और इन्द्रियों को विषयों में न फांसने और वैदिक कर्मों और उग्रतप के आचरणों से इस लोक में उस पद को प्राप्त होते हैं ॥७५॥ हड्डी की थूणा अर्थात् स्तम्भ से युक्त और स्नायुरूप जेवड़ी से बंधा और मांस रक्त से लिपा हुआ और चाम से मंढ़ा हुवा और मूत्र मल दुर्गन्ध से पूर्ण–।।७६।।

जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् । रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत्॥७७॥नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा। तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते ||७८||

अर्थ–जरा अर्थात् बुढ़ापा और शोक से घिरा हुवा और रोग का घर और क्षुधा प्यास से पीडित और रजस्वला के रक्त समान मलिन रजोगुण वाला

और अनित्य तथा पञ्चभूतों का गृह जो यह शरीर है, इसे छोड़ देवे (अर्थात् ऐसा करे कि फिर शरीर न हो) ।।७७।। जैसे नदी के किनारे को वृक्ष छोड़ देता है और पक्षी जैसे वृक्ष को छोड़ देता है,वैसे संन्यासी इस देह की ममता छोड़ देवे, तो कठिन संसाररूपी ग्राह से छूट जाता है ।। ७८ ।।

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥७९॥ यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः। तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥८०॥

अर्थ—अपने प्रिय में पूर्वजन्मार्जित सुकृत और अप्रिय में दुष्कृत जानकर उस से होने वाले रागद्वेषादि को छोड़ कर अपना हित करने वाले से प्रीति और अहित वाले से अप्रीति न करे। वह ध्यान योग से सनातन ब्रह्म को प्राप्त होता है ।।७९।। जब विषयों के दोषों के ज्ञान से संपूर्ण पदार्थों में निःस्पृह होजाता है,तब इस लोक और परलोक में मोक्ष रूप नित्य सुख को प्राप्त होता है।।८०॥

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगान् शनैःशनैः। सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥८१॥ ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम्। न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते॥८२॥

अर्थ—इस प्रकार संपूर्ण पुत्रकलत्रादि की ममता धीरे धीरे छोड़ कर संपूर्ण द्वन्द्वों (मानापमानादि) से छूटा हुवा ब्रह्म में ही स्थित हो जाता है ।। ८१ ।। यह जो पुत्रादि का ममत्व त्याग कहा है, सो संपूर्ण ध्यान करने से ही होता है। क्योंकि इस प्रकार आत्मा का ध्यान न करने वाला उस क्रिया के फल को नहीं प्राप्त होता (अर्थात् ममता का त्याग और मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती) ।। ८२ ।।

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च। आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥८३॥ इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम्। इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम्॥८४॥

अर्थ—यज्ञ और देवतों तथा आत्मा के विषय में जो वेदवाक्य हैं और वेदान्त (ब्रह्मज्ञान) विषयक जो वाक्य हैं उन का निरन्तर जप और विचार करे ।।८३।। यह वेदाभ्यास,ब्रह्मके न जानने वालों को भी हित है और जानने वा-

लों को भी हित है। यह स्वर्ग की इच्छा करने वालों और मोक्ष की इच्छा करने वालों का भी शरण है (अर्थात् वेदद्वारा सब की प्राप्ति है) ॥८४॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः। स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति॥८५॥ एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्। वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥८६॥

अर्थ—इस क्रम के अनुष्ठान से जो द्विज संन्यास धारण करता है, वह यहां पापों का नाश करके परब्रह्म को प्राप्त होता है ॥८५॥ यतियों और जितेन्द्रियों का यह धर्म तुम को बताया। अब वेदसंन्यासियों का (अर्थात् ज्ञान से ही संन्यासी, जिन्हों ने बाहर से संन्यस्त चिन्ह वा गृहवासत्यागादि नहीं किये उन) का कर्मयोग सुनो ॥८६॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा। एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारःपृथगाश्रमाः॥८७॥ सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः। यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥८८॥

अर्थ—ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और यति; ये ४ पृथक् पृथक् आश्रम गृहस्थ से उत्पन्न हैं ॥८७॥ यह चारों ही आश्रम क्रम से शास्त्रानुकूल सेवित किये हुवे, उक्त विधिसे अनुष्ठान करनेवाले विप्र को मोक्ष प्राप्त कराते हैं।॥८८॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः। गृहस्थउच्यते श्रेष्ठःस त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥८९॥ यथा नदीनदाःसर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणःसर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥९०॥

अर्थ—इन सब आश्रमों में वेदों और स्मृतियों के विधान से गृहस्थ को श्रेष्ठ कहा है। क्योंकि वह इन तीनों का पोषण करताहै ॥८९॥ जैसे संपूर्ण नदी और नद समुद्र में जाकर ठहरते हैं, वैसे ही सब आश्रम वाले गृहस्थ में ठहरते हैं (अर्थात् गृहस्थ के आश्रय रहते हैं) ॥ ९० ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः। दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥९१॥ धृतिःक्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥९२॥

अर्थ–ब्रह्मचारी से लेकर चारों आश्रम वाले द्विजों को दश लक्षण वाले धर्म का सेवन यत्न से करना चाहिये ॥ ९१ ॥ धैर्य, दूसरे की की हुई बुराई को सहलेना, चित्त का रोकना, चोरी न करना, बाहर भीतर से शुद्ध होना, चक्षुरादि इन्द्रियों को रोकना, शास्त्र का तत्वज्ञान, आत्मा का ज्ञान, सत्य बोलना और क्रोध न करना; ये धर्म के दश लक्षण हैं (५ पुस्तकों और नन्दनकृत टीका में–धीः=ह्रीः पाठभेद है) ॥९२॥

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राःसमधीयते। अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥९३॥दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः। वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥९४॥

अर्थ–जो विप्र धर्म के दश लक्षणों को पढ़ते हैं और पढ़ के उस के अनुसार चलते हैं,वे मोक्ष को प्राप्त होतेहैं॥९३॥ ऋषि पितर देव सम्बन्धी ऋणों से मुक्त द्विज स्वस्थचित्त होकर दश लक्षण वाले धर्म को करता हुवा विधि से वेदान्त का श्रवण करके संन्यास को धारण करे ॥ ९४ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन्।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत्॥९५॥

अर्थ–संपूर्ण (गृहस्थों के) कर्मोंको छोड़ कर और (विना जाने जो जीवों का नाश होताहै उन) पापोंको (प्राणायाम से) नष्ट करता हुवा जितेन्द्रिय होकर वेद का अभ्यास करके पुत्रके ऐश्वर्य में (वृत्तिकी चिन्तासेरहित हुवा) सुखपूर्वक निवास करे ॥ (९५ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:–

[संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्।
वेदसंन्यासतः शूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत्]

सब काम छोड़ दे, परन्तु एक वेद को न छोड़े। क्योंकि वेद के छोड़ने से शूद्र हो जाता है,इस लिये वेद को न छोड़े ॥ इसी आशय का श्लोक पाठभेद से दो पुस्तकों में मिलता है कि–

[संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदं तु न परित्यजेत्।
परित्यागाद्धि वेदस्य शूद्रतामनुगच्छति] ॥९५॥

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।
संन्यासेनापहत्यैनःप्राप्नोति परमां गतिम् ॥९६॥

अर्थ—इस प्रकार कर्मों को छोड़ कर अपने कार्य (आत्मसाक्षात्कार) में तत्पर हुवा निःस्पृह संन्यास से पापों को दूर करके परम गति को प्राप्त होताहै।।९६।।

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ॥
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥९७॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे
(भृगुप्रोक्तायां संहितायां) षष्ठोऽध्यायः॥६॥

अर्थ—हे ऋषियो ! तुम से यह ब्राह्मण के चार प्रकार के धर्म जो परलोक में पुण्य तथा अक्षय फल देनेवाले हैं, कहे । अब राजाओं का धर्म सुनो ।।९७।।

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभावानुवादे षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

ओ३म्

अथ सप्तमोऽध्यायः

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः । संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥१॥ ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि । सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥२॥

अर्थ—जैसे आचरण वाला राजा होना चाहिये, उस प्रकार के राजधर्म और राजा की उत्पत्ति और जैसे राजा की प्रभुता की सिद्धि हो, वह सब आगे कहूंगा ॥१॥ उपनयनादि और यथाविधि राज्याभिषेकादि वेदोक्त संस्कार हुवे क्षत्रिय को इस संपूर्ण राज्य की न्यायानुसार रक्षा करनी चाहिये ॥२॥

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् । रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥३॥ इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च । चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥४॥

अर्थ–विना राजा के इस लोक में भय से चारों ओर चल विचल होता इस कारण सब की रक्षा के लिये प्रभु ने राजा को उत्पन्न किया ॥३॥ इन्द्र वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र, कुबेर; इनकी शाश्वतमात्रा अर्थात् सारभूत अंश को निकाल कर (राजा को बनाया अर्थात् इन दिव्यगुणांशों से युक्त पुरुष राजा होता है) ॥४॥

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः । तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥५॥ तपत्यादित्यवच्चैषां चक्षूंषि च मनांसि च । न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥६॥

अर्थ–क्योंकि सुरेन्द्रों की मात्राओं से राजा बनाया गया है, इस लिये यह राजा तेज से सब प्राणियों को दबा सक्ता है ॥ ५ ॥ (दो श्लोकों में यह बताते हैं कि राजा में कैसे उक्त आठ देवों का प्रभाव रहता है ?) राजा अपने तेज से देखने वालों की आंखों और मनों को सूर्य सा असह्य होता है और कोई पृथिवी में इस राजा के सामने होके नहीं देख सकता ॥६॥

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्। स कुबेरः स वरुणःस महेन्द्रः प्रभावतः॥७॥ बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥८॥

अर्थ–वह राजा प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुबेर, वरुण, और इन्द्र है ॥७॥ मनुष्य जान कर बालक भी राजा अपमान करने योग्य नहीं है। क्योंकि यह एक बड़ा देवता मनुष्य रूप से स्थित है ॥८॥

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम्। कुलं दहति राजाग्निःसपशुद्रव्यसंचयम् ॥९॥ कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः। कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥१०॥

अर्थ–अग्नि के ऊपर कोई मनुष्य बेचाल चलै तो अग्नि केवल उसीको जलाती है और राजा बेचाल चलने वाले के कुल को भी पशु और धन के सहित नष्ट कर देता है ॥९॥ कार्य, शक्ति, देश और काल को तत्त्व से देख कर धर्मसिद्धि के लिये राजा बार २ नाना प्रकार का रूप धरता है (कभी क्षमा, कभी कोप, कभी मित्र, कभी शत्रु इत्यादि) ॥१०॥

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे। मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः॥ ११ ॥तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम्। तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥१२॥

अर्थ–क्योंकि जिस की प्रसन्नता में लक्ष्मी रहती है (अर्थात् प्रसन्न होने से द्रव्यप्राप्ति होती है) और जिसके पराक्रम में जय रहता है। और जिस के क्रोध में मृत्यु होती है। वह राजा सर्वतेजोमय है ॥ ११ ॥ जो राजा को अज्ञान से अप्रसन्न करता है, वह निश्चय नाश को प्राप्त होता है, क्योंकि उस के शीघ्र नाश के लिये राजा का मन करने लगता है ॥१२॥

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः। अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥१३॥ तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्। ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥

अर्थ–इस लिये राजा अपने अनुकूलों में जिस धर्म=अनुकूलता को और

प्रतिकूलों में जिस अनिष्ट का निश्चय करके स्थापन करे (अर्थात् क़ानून बनावे) उस धर्म (क़ानून) को न बिचलावे (अर्थात् उस नियम को कोई न तोड़े) ॥ १३ ॥ उस के लिये प्राणिमात्र के रक्षक आत्मा से उत्पन्न बड़े तेज से बने दण्डधर्म को ईश्वर ने पूर्व बनाया ॥१४ ॥

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च । भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च॥ १५॥तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः । यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥१६॥

अर्थ—उस दण्डके भयसे सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम भोग को प्राप्त होते हैं और अपने धर्मसे कोई नहीं विचलता।।१५।।देश,काल,दण्ड की शक्ति,विद्या इत्यादि शास्त्रके अनुसार तत्त्व को विचार कर अपराधियों को यथायोग्य दण्ड देवे॥१६॥

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः । चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ १७ ॥ दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति । दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥१८॥

अर्थ—वह दण्ड ही राजा है,वही पुरुष है (उससे अतिरिक्त सब स्त्री हैं) और वही नेता तथा शासिता और चारों आश्रमों के कर्म का प्रतिभू है (अर्थात् उसके द्वारा सब को धर्म की प्राप्ति होती है)।।१७।।दण्ड सम्पूर्ण प्रजा का शासन करता है । दण्ड ही रक्षा करता है । सोते हुवे दण्ड ही जागता है (उसी के डर से चोर चोरी नहीं करते) विद्वान् लोग दण्ड को धर्म जानते हैं ।।१८।।

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः । असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १९ ॥ यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः॥२०॥

अर्थ—वह दण्ड शास्त्र से अच्छे प्रकार निरूपण करके (देह धनादि में) धरा हुआ अर्थात् अपराध के अनुसार उचित शिक्षा देने से सम्पूर्ण प्रजा को प्रसन्न करता और (लोभ से) विना देखे किया हुआ चारों ओर से नाश करता है ।।१९।। आलस्यरहित राजा, यदि अपराधियों को दण्ड न देवे तो शूल पर मछली के समान अतिबलवान् लोग निर्बलों को भून डालें ॥ २० ॥

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा। स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥२१॥ सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः। दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥२२॥

अर्थ-(यदि राजा दण्ड न करे तो) कौवा पुरोडाश भक्षण करे और कुत्ता हवि का भक्षण करे और कोई किसी का स्वामी (मालिक) न हो सके और नीच ऊंचे और ऊंचे नीचता में प्रवृत्त हो जावें ॥ २१ ॥ सम्पूर्ण लोग दण्ड से नियमित किये हुवे ही सन्मार्ग में रहते हैं। स्वभाव से सन्मार्ग में रहने वाला शुचि मनुष्य दुर्लभ है। और सम्पूर्ण जगत् दण्ड के भय से ही आवश्यक भोजनादि उपभोग कर सकता है ॥ २२ ॥

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः। तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ २३ ॥ दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः। सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ २४ ॥

अर्थ-देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी, सर्प; ये भी भय से ही भोग को पा सकते हैं ॥२३॥ दण्ड के विना सम्पूर्ण वर्ण विरुद्धाचरण में प्रवृत्त होजावें और चतुर्वर्ग रूप सब पुल टूट जावें और सम्पूर्ण लोगों में उपद्रव होजावे ॥२४॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा। प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति॥२५॥ तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्। समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥२६॥

अर्थ-जिस देश में श्यामवर्ण वाला और लाल आंखवाला पाप का नाश करनेवाला दण्ड विचरता है, वहां प्रजा व्याकुल नहीं होती, यदि नेता (राजा) अच्छे प्रकार देखता हो तो ॥२५॥ सत्य बोलने वाले, अच्छे प्रकार समझ कर करने वाले, बुद्धिमान्, धर्म अर्थ काम के जानने वाले राजा को उस दण्ड के देने का अधिकारी (न्याय करने वाला) कहते हैं ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते। कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते॥२७॥ दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः। धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥

अर्थ-जो राजा दण्ड को अच्छे प्रकार चलाता है वह धर्म अर्थकामसे वृद्धि

को प्राप्त होता है और जो राजा विषय का अभिलाषी और उलटा चलने वाला तथा क्षुद्रता करने वाला है वह (अधर्म से) उसी दण्ड से नष्ट होजाता है।।२७।। बड़े तेजवाला दण्ड, शास्त्रोक्त विधिसे संस्काररहित राजाओं से धारण नहीं किया जा सकता किन्तु राजधर्मरहित राजा का ही बन्धुसहित नाश कर देता है ।।२८।।

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम्। अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत्॥२९॥ सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना। न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥३०॥

अर्थ—राजा के नाश के अनन्तर क़िला राज्य और स्थावर जङ्गम प्रजा और अन्तरिक्ष के रहने वाले वायु आदि देवतों को (हव्यादि न मिलने से) और सब मुनियों को (वह अधर्मी राजा का दण्ड) पीड़ित करने लगे।।२९॥ मन्त्री वा सेनापतियों के सहाय से रहित, मूर्ख, लोभी, निर्बुद्धि और विषयों में आसक्त राजा से वह दण्ड=राजधर्म न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ॥ ३० ॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा। प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता॥३१॥ स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च शत्रुषु। सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः॥३२॥

अर्थ—अर्थशौचादि युक्त, सत्यप्रतिज्ञा वाले, शास्त्र के अनुसार चलने वाले और अच्छे सहायकों वाले बुद्धिमान् राजा से दण्ड दिया जा सकता है (अर्थात् ऐसा राजा शिक्षा करने को योग्य है) ॥ ३१ ॥ राजा को अपने राज्य में न्यायकारी और शत्रुओं को सदा दण्ड देने वाला और प्यारे मित्रों से कुटिलतारहित और ब्राह्मणों पर क्षमायुक्त होना चाहिये ।।३२।।

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः। विस्तीर्यते यशो लोके तैलविन्दुरिवाम्भसि ॥३३॥ अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः। संक्षिप्यते यशो लोके घृतविन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥

अर्थ—उक्त प्रकार से चलने वाले शिलोञ्छवृत्ति से भी जीते हुवे राजा का यश जगत् में फैल जाता है। जैसे पानी में तेल की बूंद ।। ३३ ।। विषयासक्त और उक्त विधि से विपरीत चलने वाले राजा का यश लोगों में संकोच को प्राप्त होता है। जैसे पानी में घृत की बूंद ।।३४।।

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः । वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥३५॥ तेन यद्यत्सभृत्येन कर्त्तव्यं रक्षता प्रजाः । तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥३६॥

अर्थ—अपने अपने धर्म में चलने वाले आनुपूर्व्य से सब वर्णों और आश्रमों की रक्षा करने वाला राजा उत्पन्न किया है ॥३५॥ प्रजा की रक्षा करते हुवे अमात्यों के सहित उस राजा को जो जो करना कराना चाहिये सो सो तुम से मैं आगे क्रम के साथ यथावत् कहूंगा ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः । त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥३७॥ वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् । वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥३८॥

अर्थ—राजा को प्रातःकाल उठकर ऋग् यजुः साम वेदों और धर्मशास्त्र के जानने वाले ब्राह्मणों के साथ बैठना और उनके कहने को मानना चाहिये॥३७॥वेद के जानने वाले,पवित्र,आयु में बड़े ब्राह्मणों का नित्य सेवन करे। क्योंकि बड़े विद्वानों की सेवा करने वाला राजा दुष्ट जीवों से भी पूजा (सत्कार) को पाता है ॥३८॥

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः। विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥३९॥बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः। वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥

अर्थ—स्वभाव से शिक्षित राजा भी उन विद्वानों से शिक्षा का नित्य अभ्यास करे क्योंकि सुशिक्षित राजा कभी नाश को प्राप्त नहीं होता ॥३९॥ हाथी घोड़ा ख़ज़ाना इत्यादि सब सामानों से युक्त बहुत से राजा विनयरहित नष्ट होगये और बहुत से बेसामान जंगल में रहते हुवे भी विनय से राज्य को प्राप्त होगये ॥४०॥

"वेनोविनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैवपार्थिवः । सुदासोयवनश्चैवसुमुखोनिमिरेवच ॥ ४१ ॥ पृथुस्तुविनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेवच । कुबेरश्चधनैश्वर्यंब्राह्मण्यंचैवगाधिजः ॥ ४२ ॥ ,,

" अर्थ—वेन, नहुष, सुदास, यवन, सुमुख, और निमि भी अविनय से नष्ट हुवे ॥ ४१ ॥ पृथु और मनु विनय से राज्य को पागये और कुबेर

ने विनय से धनाधिपत्य पाया और गाधि के पुत्र विश्वामित्र ब्राह्मणता को विनय से प्राप्त हुवे ।। (ये श्लोक मनु के नहीं, क्योंकि यवन तक को भी इन में भूतकालस्थ वर्णन किया है) ।। ४२ ।।"

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्। आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः॥४३॥ इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्। जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥४४॥

अर्थ—तीनों वेदों के जानने वालों से तीनों वेद पढ़े और सनातन दण्डनीति विद्या तथा वेदान्त पढ़े । और लोगों से व्यवहारविद्या पढ़े ।। ४३ ।। इन्द्रियों के जय का सर्वदा रातदिन उद्योग करे क्योंकि जितेन्द्रिय ही प्रजा को वश में कर सकता है ।। ४४ ।।

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च । व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥४५॥ कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः। वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥४६॥

अर्थ—काम से उत्पन्न दश और क्रोध से उत्पन्न आठ, ऐसे १८ व्यसनों को जिनका अन्त मिलना दुर्लभ है, यत्न से छोड़ देवे ।।४५।। काम से उत्पन्न हुवे व्यसनों में आसक्त हुआ राजा, अर्थ धर्म से हीन होजाता है और क्रोध से उत्पन्न हुवे व्यसनों में आसक्त, अपने शरीर से भी नष्ट होजाता है ।।४६।।

मृगयाक्षा दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥४७॥ पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥४८॥

अर्थ—शिकार करना, जुवा खेलना, दिनमें सोना, दूसरे के दोषों को कहना, स्त्रीसंभोग, मद्यपान, गाना, नाचना, बजाना, और विना प्रयोजन घूमना; ये दश काम के व्यसन हैं ।।४७।। चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दूसरे के गुणों में दोष लगाना, द्रव्यहरण, गालीदेना, कठोरता; ये आठ क्रोध से उत्पन्न व्यसन हैं ।।४८।।

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः। तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ४९ ॥ पानमक्षाःस्त्रियश्चैव मृगया च

यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥

अर्थ—जिस को सम्पूर्ण विद्वान् इन दोनों गणों का कारण बताते हैं उस लोभ को यत्न से छोड़ देवे । उसी से ये दोनों गण उत्पन्न हैं ॥ ४९॥ काम से उत्पन्न हुवे गण में मद्यपान, जुवा खेलना, स्त्रीप्रसंग, शिकार, इस चौकड़ी को बहुत कठिन जाने ॥ ५० ॥

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे । क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥५१॥ सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः । पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥

अर्थ—क्रोध से उत्पन्न हुवे गण में कठोर वचन कहना, दंडे से मारना, और द्रव्य का हरण करना;इस त्रिक को सदैव अतिकठिन जाने ॥ ५१ ॥ ये जो सब में साथ लगे सात व्यसन हैं, इन में पहिले पहिले व्यसन को सज्जन पुरुष भारी व्यसन जाने ॥ ५२॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते । व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥५३॥ मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्गतान् । सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥५४॥

अर्थ—व्यसन और मृत्यु दोनों नाश करने वाले हैं, इन में मृत्यु से व्यसन कठिन है । क्योंकि व्यसनी दिन दिन अवनति में जाता है और बेव्यसनी मर कर स्वर्ग को जाता है ॥ ५३ ॥ मोल से नौकरी किये हुवे, शास्त्र के जानने वाले, शूरवीर, अच्छा निशाना लगाने वाले, अच्छे कुल के, परीक्षोत्तीर्ण ७ या ८ मन्त्री रक्खे ॥५४॥

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् । विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥५५॥ तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् । स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥५६॥

अर्थ—सुलभ काम भी एक से होना कठिन है । विशेष कर बड़े फल का देने वाला राज्यसम्बन्धी काम एकला कैसे कर कसता है ॥५५॥ उन के साथ साधारण सन्धि विग्रह की सलाहें करे और (दण्ड,कोश, पुर, राष्ट्र,चतुर्विध)

स्थान का चिन्तन करे और द्रव्य धान्यादि की उन्नति का विचार करे और सब की रक्षा और जो प्राप्त है उस की शान्ति का विचार करे ॥५६॥

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् । समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥५७॥ सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता । मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥५८॥

अर्थ—उन मन्त्रियों के अलग अलग और सब के मिले अभिप्राय (अर्थात् अलग अलग राय और मिली हुई राय) को जान कर कार्यों में अपना हित करे ॥ ५७ ॥ उन सब मन्त्रियों में अधिक धर्मात्मा और बुद्धिमान् ब्राह्मण के साथ राजा षड्गुणयुक्त परम मन्त्र (सलाह) करे ॥५८॥

नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत् । तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥५९॥ अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् । सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥६०॥

अर्थ—उस ब्राह्मण में अच्छा विश्वास होने पर सब काम उस के सुपुर्द करे और जो करना हो, उस के साथ निश्चय करके तब उस काम को करे ॥ ५९ ॥ अन्य भी पवित्र, बुद्धिमान्, परीक्षित तथा द्रव्य के उपार्जन की युक्ति जानने वालों को मन्त्री बनावे ॥६०॥

निर्वर्तेतास्य यावद्भिरिति कर्तव्यता नृभिः । तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥ तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान् कुलोद्गतान् । शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२॥

अर्थ—इस राजा का जितने मनुष्योंसे पूरा काम निकले उतने आलस्यरहित चतुर बुद्धिमानों को मन्त्री बनावे॥६१॥उन में शूर चतुर कुलीन तथा निर्लोभी मन्त्रियों की धन के स्थान में योजना करे और अर्थशुचियोंको रत्नों की खानि खोदवाने में,तथा डरपोकों को महलों के भीतर जाने आनेमें नियुक्त करे॥६२॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् । इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥६३॥ अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् । वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥६४॥

अर्थ—और दूत उस को रक्खे जो बहुश्रुत हो और हृदय के भाव, आकार, चेष्टाओं को जानने वाला हो और अन्तःकरण का शुद्ध हो, तथा चतुर और कुलीन हो ॥ ६३ ॥ प्रीति वाला, शुद्धचित्त, चतुर, याद रखने वाला, देश काल का जानने वाला, अच्छे देह वाला, निडर और बोलने वाला राजा का दूत प्रशस्त है॥६४॥ (अर्थात् राजा को ऐसा दूत रखना चाहिये ॥ ६४ वें से आगे १ पुस्तक में ये ५ श्लोक अधिक हैं:—

[सन्धिविग्रहकालज्ञान्समर्थानायतिक्षमान् । परैरहार्यान्शुद्धांश्चधर्मतःकामतोऽर्थतः ॥ १ ॥ समाहर्त्तुंप्रकुर्वीतसर्वशास्त्रविपश्चितः । कुलीनान्वृत्तिसंपन्नान्निपुणान्कोशवृद्धये ॥२॥ आयव्ययस्यकुशलान्गणितज्ञानऽलोलुपान् । नियोजयेद्धर्मनिष्ठान्सम्यक्कार्यार्थचिन्तकान् ॥३॥ कर्मणिचातिकुशलांल्लिपिज्ञानायतिक्षमान् । सर्वविश्वासिनःसत्यान्सर्वकार्येषुनिश्चितान् ॥४॥ अकृताशांस्तथाभर्त्तुःकालज्ञांश्चप्रसङ्गिनः । कार्यकामोपधाशुद्धाबाह्याभ्यन्तरचारिणः ॥ ५ ॥ कुर्यादासन्नकार्येषुगृहसंरक्षणेषुच ॥]

कोशवृद्धि के लिये सन्धि और विग्रह के समय को जानने वाले, समर्थ, समय पड़े को झेल सकने वाले, शत्रुओं से न मिल जाने योग्य, धर्म अर्थ काम से शुद्ध, सब शास्त्रों के ज्ञाता, कुलीन, पुष्कल जीविका वाले और चतुर पुरुषों को इकट्ठा करने का उद्योग किया करे । आय व्यय में चतुर, हिसाब के पक्के, निर्लोभ, धर्म में श्रद्धालु और कार्यों का तात्पर्य समझने वालों को नियुक्त करे । जो काम में अतिकुशल, अच्छा लिखना जानने वाले, भीड़ पड़ी को झेलने वाले, सब के विश्वासपात्र, सच्चे, सब कार्यों में निश्चित और स्वामी पर आशा न रखने वाले (सन्तुष्ट), समय और प्रसङ्ग (मौके) के जानने वाले हों ॥ कार्य, काम और धरोहर में सच्चे, बाहर भीतर के भेदी लोगों को समीपी कामों और गृह की रक्षाओं में नियुक्त करे) ॥६४॥

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकीक्रिया । नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥६५॥ दूतएव हि संधत्ते भिनत्त्येव च

संहतान् । दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥ ६६ ॥

अर्थ-मन्त्री के आधीन दण्ड और दण्ड के आधीन सुशिक्षा और राजा के आधीन देश तथा ख़ज़ाना और दूत के आधीन मेल वा बिगाड़ है ॥६५॥ दूत ही मेल कराता है और दूत ही मिलों को फोड़ता है और दूत वह काम करता है जिस ने मनुष्यों वा भाइयों में भी भेद हो जाता है ॥ (५ पुस्तकों में-मानवाः=बान्धवाः । पाठ है) ॥६६॥

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः । आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम्॥६७॥बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् । तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत्॥६८॥

अर्थ-राजा के कामों और भृत्यों में राजा की इच्छा,छिपे इङ्गित(इशारों)। और चेष्टाओं से; आकार, इङ्गित और चेष्टा दूत को जानने चाहियें ॥६७॥ अन्य राजा की सब इच्छाओं को ठीक२ जान कर वैसा प्रयत्न करे जिस से वह अपने को पीड़ा न दे सके ॥ ६८ ॥

जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् । रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥६९॥ धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा । नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥

अर्थ-जङ्गल=जहां थोड़ा घास और पानी भी हो, धान्य बहुत हो, अच्छे शिष्ट आर्य पुरुष निवास करते हों और रोगादि उपद्रवों से रहित हो और देखने में मनोहर और पास अच्छे वृक्ष पक्षी खेती और बाज़ार हों, ऐसे देश में रहे ॥ ६९ ॥ जहां धनुर्दुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, सेनादुर्ग,वा गिरिदुर्ग,हों,ऐसे किसी दुर्ग का आश्रय करके पुर को बसावे(जहां धनुषों वा भूमि की बनावट वा जल वा वृक्ष वा सेना वा पहाड़ों का ऐसा घेरा हो जिसे दुर्ग (क़िला) कह सकें। जहां शत्रु को आना कठिन हो)॥७०॥

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् । एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते॥७१॥ त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः । त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥७२॥

अर्थ-सब दुर्गों में गिरिदुर्ग श्रेष्ठ है, इस लिये सब प्रयत्न से उस का आश्रय करे। क्योंकि इस में सब से अधिक गुण हैं ॥७१॥(इन छः प्रकार के दुर्गों से छः प्रकार के प्राणी अपने को बचा लेते हैं जैसा कि)-इन में से पहले ३ दुर्गों में क्रम से धनुर्दुर्ग में मृग, महीदुर्ग में मूंसे आदि, जलदुर्ग में अप्सर=जलचर। अगले ३ में से वृक्षदुर्ग में वानर, नृदुर्ग में साधारण मनुष्य और गिरिदुर्ग में पर्वतवासी देवजाति रहते (और अपनी रक्षा करते) हैं ॥७२॥

यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः। तथाऽरयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥७३॥ एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः। शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते॥७४॥

अर्थ-जैसे इन दुर्गवासियों को शत्रु पीड़ा नहीं दे सके, वैसे ही दुर्ग के आश्रय करने वाले राजा को शत्रु नहीं मार सकते ॥ ७३ ॥ क़िले के भीतर रहने वाला एक धनुर्धर, सौ के साथ लड़ता है और सौ, दस हज़ार के साथ लड़ते हैं, इसलिये क़िला बनाया जाता है ॥७४॥

(७४ वें के आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रक्षिप्त है:-

[मन्दरस्यापि शिखरं निर्मनुष्यं न शिष्यते।
मनुष्यदुर्गं दुर्गाणां मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्]

स्वायंभुव मनु ने कहा है कि दुर्गों में दुर्ग मनुष्यों का दुर्ग है। क्योंकि मन्दराचल पर्वत का शिखर भी मनुष्यों से रहित हो तो शत्रु उसे शेष नहीं छोड़ते)॥७४॥

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः। ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥७५॥तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः। गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥

अर्थ-वह दुर्ग आयुध (शस्त्रादि), धन, धान्य,वाहनों,ब्राह्मणों, कलों के जानने वालों,कलों,चारा,जल और इन्धन से समृद्ध हो (९ पुस्तकों में-उदकेन च=उदकेन्धनैः। पाठ है) ॥ ७५ ॥ उस क़िले के भीतर पर्याप्त (स्त्रीगृह देवागार, आयुधमन्दिर, अग्निशालादि युक्त) और भित्तियों से रक्षित और सब ऋतुओं के फल पुष्पादि युक्त और सफ़ेदी किया हुआ तथा जल और वृक्षों से युक्त अपना घर बनावे ॥ ७६ ॥

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्। कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥७७॥ पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजम्। तस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥७८॥

अर्थ-उस घर का आश्रय करके अपनी सवर्णा और शुभ लक्षण युक्त, बड़े कुल में उत्पन्न हुई, प्रसन्न करने वाली तथा रूप और गुणों से युक्त भार्या को विवाहे ॥ ७७ ॥ पुरोहित और ऋत्विग् का वरण करे। वे इस के गृह्यकर्म अग्निहोत्र शान्त्यादि किया करें (इन को भी किले में रक्खे) ॥७८॥

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः। धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ७९ ॥ सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम्। स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु॥८०॥

अर्थ-राजा, नाना प्रकारके बहुत दक्षिणा वाले अश्वमेधादि यज्ञ करे और ब्राह्मणों को भोग और सुवर्ण वस्त्र धनादि धर्मार्थ देवे ॥७९॥ राजा राज्य से प्रामाणिकों (तहसीलदारों) द्वारा वार्षिक बलि (मालगुज़ारी) उगहावे और लोगों में शास्त्रानुकूल चलने में तत्पर हो तथा अपनी प्रजा में पिता के सा स्नेह करे ॥ ८० ॥

अध्यक्षान् विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः। तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम्॥८१॥आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्। नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥८२॥

अर्थ-नाना प्रकार के काम को जानने वाले अध्यक्ष (अफ़सर) उन २ कामों में नियत करे, वे राजा के सब काम करने वालों के कामों को देखें ॥८१॥ गुरुकुल में पढ़ चुके ब्राह्मणों का (धन धान्यों से) पूजन किया करे। राजाओं की यह ब्राह्मनिधि अक्षय कही है (अर्थात् देने से कमी नहीं होती) ॥८२॥

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति। तस्माद्राज्ञा निधातव्योब्राह्मणेष्वक्षयोनिधिः॥८३॥ न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्। वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम्॥८४॥

अर्थ—ब्राह्मण को दिये हुवे निधि को चोर नहीं चुरा सकते और शत्रु नाश नहीं कर सकते इसलिये राजा ब्राह्मणों में अक्षय निधि जमा करे ॥८३॥ अग्नि में जो हवन किया जाता है वह कभी गिर जाता है, कभी सूख जाता है और कभी नष्ट होजाता है परन्तु गुरुकुलागत ब्राह्मण के मुख में जो हवन किया जाता है उस में ये दोष नहीं होते। इसलिये अग्निहोत्र से उक्त ब्राह्मण को देना श्रेष्ठ है ॥८४॥

"सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे। प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ ८५॥" पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च। अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्यावाप्यते फलम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—"क्षत्रियादि को देने में बराबर फल होता है (अर्थात् न्यूनाधिक नहीं) जो क्रियारहित अपने को ब्राह्मण कहता है उस के देने में दूना और पढ़े हुवे के देने में १ लक्षगुणा और संपूर्ण वेद को पढ़े ब्राह्मण को देने से अनन्त फल होता है ॥" (यह नाम मात्र के आज कल के से ब्राह्मणब्रुवों ने बनाया है पूर्वोक्त पात्रनिर्णय के विरुद्ध होने से त्याज्य है)॥ ८५॥ वेदाध्ययनादि पात्र के विशेष से और श्रद्धा की अतिशयता के अनुसार परलोक में दान का थोड़ा वा बहुत फल मिलता है ॥८६॥

(८६ वें से आगे दो श्लोक हैं, जिन में से पहला ३ पुस्तकों और दूसरा १ पुस्तक और मेधातिथि के तथा राघवानन्दी टीके में पाया जाता है:—

[एष एव परो धर्मः कृत्स्नो राज्ञ उदाहृतः। जित्वा धनानि संग्रामात् द्विजेभ्यः प्रतिपादयेत् ॥ १ ॥ देशकालविधानेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम्। पात्रे प्रदीयते यत्तु तद्धर्मस्य प्रसाधनम् ॥२॥]

राजा का सारा परम धर्म यही है कि संग्राम से धन जीत कर द्विजों को बांट दे॥१॥ देश काल के विधान से श्रद्धासहित द्रव्य जो कुछ पात्र को दिया जाता है वह धर्म का शृङ्गार है ॥२॥ यह दानपात्र द्विजों ने पीछे से बढ़ा दिये जानपड़ते हैं जो कि सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते, न सब की टीका इन पर है। और आश्चर्य नहीं कि ८३।८४ वें भी इन्हीं दानपात्रों ने बनाये हों) ॥८६॥

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः। न निवर्तेत संग्रामा-

त्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥८७॥ संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानांचैव पालनम् । शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥८८॥

अर्थ—प्रजा का पालन करता हुआ राजा, सम उत्तम वा हीन शत्रु के साथ, बुलाने पर क्षत्रियधर्म को स्मरण करता हुआ युद्ध से न हटे ॥ ८७ ॥ संग्राम से न भागना और प्रजा का पालन करना तथा ब्राह्मणों की सेवा;ये राजा के परम कल्याण करने वाले हैं ॥८८॥

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः । युध्यमानाःपरंशक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥८९ ॥ नकूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् । न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः॥९०॥

अर्थ—संग्राम में स्पर्धा करने वाले एक को एक मारने की इच्छा करते हुवे राजा लोग परम शक्ति से लड़ने वाले और पीछे न हटने वाले स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ॥ ८९ ॥ लड़ता हुआ रण में शत्रुओं को कूट (छिपे) आयुधों से न मारे और कर्णी बाण जो फिर निकलने कठिन हों उन से और विषयुक्त शस्त्रों तथा जलतों से न मारे ॥९०॥

(पूर्व श्लोकों में योद्धा को स्वर्गप्राप्ति कही थी, इस श्लोक में उस संग्राम के ऐसे नियमों का वर्णन है जो अदृष्टार्थ हैं अर्थात् जिन नियमों से लड़ने वालों को मानुषी स्वाभाविक अक्रूरता से लड़ते हुवे अदृष्ट पारलौकिक फल मिल सक्ता है । क्योंकि केवल राज्यलोभार्थ जैसे बने वैसे जीत कर लेने वाले स्वार्थी योद्धा उत्तम गति के अधिकारी नहीं हो सकते) ॥ ९० ॥

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् । न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीतिवादिनम्॥९१॥न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥९२॥

अर्थ—रथ से उतर भूमि पर स्थित को न मारे, न नपुंसक को, न हाथ जोड़े हुवे को, न सिर के बाल खुले हुवे को, न बैठे को और न "तुम्हारा हूं" ऐसे कहते को मारे ॥९१॥ न सोते को, न कवच उतारे हुवे को, न नङ्गे को, न बेहथियार को, न वे लड़ने वाले को और न देखने वाले को और न दूसरे से समागम करते हुवे को मारे ॥९२॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् । न भीतं न परावृत्तं

सतां धर्ममनुस्मरन्॥९३॥यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः। भर्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥

अर्थ-टूटे आयुध वाले को, पुत्रादि मरने से आर्त्त को, जिस के बहुत घाव हुवे हों उस को, डरपोक को, और भागने वाले को, सत्पुरुषों के धर्म का अनुस्मरण करता हुआ न मारे ॥९३॥ जो योद्धा युद्ध में डरकर पीछे हटा हुआ शत्रुओं से मारा जाता है, वह स्वामी के जो कुछ पाप हैं उन सबको पाता है॥९४॥

यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम्। भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु॥९५॥ रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः। सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्॥९६॥

अर्थ-पीछे हट के मरे का जो कुछ परलोक के लिये उपार्जन किया हुआ सुकृत है वह संपूर्ण स्वामी लेलेता है ॥ ९५ ॥ रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन धान्य, बैल आदि पशु, स्त्री और द्रव्य तथा घृत तैलादि; इन में से जो जिस को जीते वह उस का है ॥९६॥

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥

अर्थ-लूट में से उत्तम धन और वाहनादि राजा को देवें, यह वेदों से सुना है। साथ मिल कर जीती वस्तु विभागपूर्वक राजा सब योद्धों को देदेवे ॥९७॥ (९७ वें से आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक है-

[भृत्येभ्यो विभजेदर्थान्नैकः सर्वहरो भवेत्।
नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः]

नौकरों को धन बांटे, अकेला ही सब न लेले। क्यों कि राजा को तो छत्र और नाममात्र से प्रसन्न होना चाहिये) ॥ ९७ ॥

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥९८॥

अर्थ-यह सनातन अनुपस्कृत=अनिन्दित योद्धाओं का धर्म कहा है। रण में शत्रुओं को मारता हुवा क्षत्रिय इस धर्म को न छोड़े ॥९८॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः । रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥९९॥ एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् । अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥

अर्थ-जो नहीं जीता है उस को जीतने की इच्छा करे और जीते हुवे की प्रयत्न से रक्षा करे और जो रक्षित है उस को बढ़ावे और बढ़े को अच्छे योग्य पात्रों को देवे ।।९९ ।। यह चार प्रकार का पुरुषार्थप्रयोग जाने । आलस्यरहित होकर नित्य अच्छे प्रकार इस का अनुष्ठान करे ।।१००।।

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया । रक्षितं वर्धयेद्वृद्ध्या वृद्धं दानेन निक्षिपेत् ॥ १०१ ॥ नित्यमुद्यतदण्डःस्यान्नित्यं विवृतपौरुषः। नित्यं संवृतसर्वार्थो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः॥१०२॥

अर्थ-जो नहीं प्राप्त है उस को दण्ड से जीतने की इच्छा करे और प्राप्त को देखने से रक्षा करे और रक्षित को व्यापार से बढ़ावे और बढ़े को दान से जमा कर देवे ।। १०१ ।। सदा दण्ड को उद्यत रक्खे और सदा शस्त्रादि के अभ्यास से प्रकाशित पुरुषार्थ वाला रहे और सदा अपने सम्पूर्ण अर्थों को गुप्त रक्खे और शत्रु के छिद्रों को सदा देखे ।।१०२।।

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् । तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३॥ अमाययैव वर्तेत न कथञ्चन मायया । बुद्ध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥

अर्थ-नित्य उद्यत दण्ड वाले राजा से सम्पूर्ण जगत् डरता है, इस लिये दण्ड ही से सम्पूर्ण जीवों को स्वाधीन करे ।।१०३।। छलसे रहित व्यवहार करे, किसी प्रकार का छल न करे (उस से विश्वास जाता रहता है) और अपनी रक्षा करता हुवा शत्रु के किये छल को जानता रहे ।।१०४।।

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत्कूर्मइवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥१०५॥

अर्थ-ऐसा यत्न करे कि जिस में अपने छिद्रों को शत्रु न जाने, परन्तु उस के छिद्रों को आप जाने । कछवे के समान राजा अपने राज्यसम्बन्धी अङ्गों को गुप्त रक्खे और अपना जो कुछ छिद्र हो,उस का संरक्षण करे।।१०५।।

(१०५ से आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति]

अविश्वासी पर विश्वास न करे । विश्वासी पर अतिविश्वास न करे। क्योंकि विश्वास से उत्पन्न भय जड़ से काट देता है) ॥ १०५ ॥

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥१०६॥

अर्थ-बगला सा अर्थों (प्रयोजनों) का चिन्तन करे और सिंह सा पराक्रम करे और वृक सा मारडाले और शश सा भाग जावे ॥ १०६ ॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युःपरिपन्थिनः । तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥१०७॥ यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः । दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत्॥१०८॥

अर्थ-इस प्रकार विजय करने वाले राजा के विजय के जो विरोधी हों उन को सामादि उपायों से वश में करे।।१०७।।यदि प्रथम के तीन (साम दान भेद) उपायों से न मानें तो दण्ड से ही बल करके क्रमसे वश में लावे।।१०८।।

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः । सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥१०९॥ यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति। तथा रक्षेन्नृपोराष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः॥११०॥

अर्थ-पण्डितलोग सामादि चार उपायों में सदा राज्य की वृद्धि के लिये साम और दण्ड की प्रशंसा करते हैं (अर्थात् अच्छा कहते हैं) ।।१०९।। जैसे खेती नलाने वाला धान्यों की रक्षा करता है और तृण को उखेड़ डालता है, वैसे ही राजा राष्ट्र की रक्षा और विरुद्ध चलने वालों का नाश करे।।११०।।

मोहाद्राजास्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया। सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥१११॥शरीरकर्षणात्प्राणाःक्षीयन्ते प्राणिनां यथा । तथा राज्ञामपि प्राणाःक्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्॥११२॥

अर्थ-जो राजा अज्ञान से बिना विचारे अपने राज्य को दुःख देता है

वह शीघ्र ही राज्य से तथा जीवन और बान्धवों से भ्रष्ट हो जाता है ।।१११।। जैसे शरीर के शोषण से प्राणियों के प्राण घटते हैं, वैसे राजाओं के भी प्राण राष्ट्र को पीड़ा देने से घटते हैं ।।११२।।

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् । सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ।। ११३ ।। द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् । तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ।। ११४ ।।

अर्थ–राज्य के संग्रहार्थ यह उपाय (आगे कहते हैं) करे, क्योंकि अच्छे प्रकार सुरक्षित राष्ट्र वाला राजा सुखपूर्वक बढ़ता है ।। ११३ ।। दो, तीन, पांच तथा सौ ग्रामों के बीच में संग्रह करने वाले पुरुषों का समूह स्थापन करे (अर्थात् पुलिस तहसील कलक्टरी इत्यादि राष्ट्र के रक्षास्थानों का स्थापन करे) ।। ११४ ।।

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा । विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ।।११५।। ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम् । शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम् ।।११६।। विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् । शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ।।११७।। यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः । अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ।।११८।।

अर्थ–एक गांवका अधिपति नियत करे । वैसे ही दश गांव का । और बीस का । और सौ गांव का । तथा हज़ार गांव का । (इस क्रम से राजा स्थापन करे) ।। ११५ ।। ग्रामाधीश उत्पन्न हुवे ग्रामों के दोषों को आप धीरे से जान कर (अपने लायक़ न समझे तो) दश ग्राम के अधिपति को सूचित करे। इसी प्रकार दश ग्राम वाला बीस ग्राम वाले को।।११६।। और बीस वाला यह सब सौ वाले को और सौ वाला हज़ार वाले को स्वयम् सूचित करे ।।११७।। और अन्न पान इन्धनादि जो ग्रामवासियों को प्रतिदिन देने योग्य हों उन को इस २ ग्राम पर नियत राजपुरुष ग्रहण करे ।।११८।।

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्चकुलानि च । ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः

सहस्त्राधिपतिः पुरम् ॥ ११९ ॥ तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि। राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥१२०॥

अर्थ—छः बैल का एक मध्यम हल, ऐसे दो हलों से जितनी ज़मीन जोती जाय उस को कुल कहते हैं। दश ग्राम वाला एक कुल का भोग ग्रहण करे। और बीस गांववाला पांच कुल का। और सौ ग्राम वाला एक मध्यम ग्राम तथा हज़ार गांव वाला एक मध्यम नगर का भोग ग्रहण करे (अर्थात् यह २ उन २ की जीविका हो)॥ ११९॥ उन के ग्रामसम्बन्धी तथा अन्य कामों को एक प्रीति वाला राजा का (प्रतिनिधि) सचिव आलस्यरहित हो कर देखे ॥ १२० ॥

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्। उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥१२१॥ स तानुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम्। तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥१२२॥

अर्थ—प्रति नगर में एक एक बड़े कुल का प्रधान, सेना आदि से भय का दे सकने वाला और तारों में (शुक्रादि) ग्रह सा तेजस्वी, कार्य का द्रष्टा, नगराधिपति नियत करे ॥ १२१ ॥ वह नगराधिपति सर्वदा आप उन सब ग्रामादिपतियों के ऊपर दौरा करे और राष्ट्र में उन के समाचारों को उस विषय में नियुक्त दूतों से जाने ॥ १२२ ॥

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः। भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥१२३॥ ये कार्यकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः। तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥१२४॥

अर्थ—रक्षा के लिये नियत, राजा के नौकर प्रायः दूसरों के द्रव्य को हरण करने वाले और वञ्चक होते हैं। राजा उन से अपनी इस प्रजा की रक्षा करे (बचावे) ॥१२३॥ जो पापबुद्धि कार्यार्थियों से द्रव्य (रिशवत) ही ग्रहण करते हैं उनको राजा सर्वस्व हरण करके देश के बाहर निकाल देवे ॥१२४॥

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च। प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥ पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्। षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥ १२६ ॥

अर्थ–राजा के काम में नियुक्त स्त्रियों और काम करने वाले पुरुषों की उनके कर्म के अनुसार पदवी और वृत्ति सदा नियत किया करें (अर्थात् तनूख्वाह में घटी वा वृद्धि आदि करे) ।।१२५।। निकृष्ट चाकर को वेतन (तनूख्वाह) एक पण जो (जो आगे कहेंगे) देवे और छः महीने में दो कपड़े और एक महीने में द्रोण भर धान्य देवे और उत्कृष्ट=अच्छे काम वाले को छः गुणा देवे (मध्यम को तिगुणा समझ लो ।। ५ पुस्तकों में वेतनं=भक्तकम्, पाठ है) ।।१२६।।

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् । योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥ १२७ ॥ यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम् । तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥१२८॥

अर्थ–बेचना ख़रीदना और रास्ते के ख़र्च, रक्षादि के ख़र्च और उनके निर्वाह को देख कर बनियों से कर दिवावे।।१२७।।कामों के करने वाले और राजा, दोनों को फल अच्छा रहे,ऐसा विचारकर सदा राज्य में कर (टैक्स) लगावे।।१२८।।

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः । तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥१२९॥ पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः । धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥१३०॥

अर्थ–जैसे जोंक, बछड़ा, और भौंरा धीरे धीरे अपनी ख़ुराक को खींचते हैं, वैसे राजा भी थोड़ा थोड़ा करके राष्ट्र से वार्षिक कर ग्रहण करे (अर्थात् थोड़ा थोड़ा कर लेवे,उजाड़ न कर देवे) ॥१२९।। पशु और सुवर्ण के लाभ का पचासवां भाग राजा ग्रहण करे और धान्य का आठवां भाग वा छठा वा बारहवां भाग (पैदावार के श्रम को देख कर) ग्रहण करे ।।१३०।।

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् । गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥१३१॥ पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च । मृण्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥१३२॥

अर्थ–वृक्ष (मांस) मधु घृत गन्ध औषधि रस पुष्प मूल फल और–।।१३१।। पत्र शाक तृण चर्म और मिट्टी वा पत्थर की चीज़ों की आमदनी का छठा भाग लेवे (दो पुस्तकों में द्रुमांस=द्रुमाणां, पाठ है ।। १३२।।

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्। न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥१३३॥ यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा। तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥१३४॥

अर्थ–मरता हुआ भी राजा, श्रोत्रिय से कर ग्रहण न करे और इस के राज्य में रहता हुआ श्रोत्रिय क्षुधा से पीड़ित न हो ॥ १३३ ॥ जिस राजा के राज्य में श्रोत्रिय (वेदपाठी) क्षुधा से पीड़ित होता है उसकी क्षुधा से उस राजा का राज्य भी थोड़े ही दिनों में पीड़ा को प्राप्त होजाता है ॥१३४॥

श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत्। संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम्॥१३५॥ संरक्ष्यमाणो राज्ञाऽयं कुरुते धर्ममन्वहम्। तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥१३६॥

अर्थ–राजा इस का वेदाध्ययन पूर्वक अनुष्ठान जान कर धर्मयुक्त जीविका कर देवे और सब प्रकार इस की रक्षा करे। जैसे पिता औरस पुत्र की रक्षा करता है ॥ १३५ ॥ क्योंकि राजा से रक्षा किया हुआ यह श्रोत्रिय नित्य धर्म करता है, उस पुण्य से राजा की आयु धन और राज्य बढ़ता है ॥१३६॥

यत्किञ्चिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम्। व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥१३७॥ कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः।एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः॥१३८॥

अर्थ–राजा अपने राज्य में,व्यापार वालों से भी कुछ वार्षिक थोड़ा सा कर दिलावे ॥१३७॥ लोहार बढ़ई आदि और दासों से राजा महीने में एक एक काम (बेगार में) करावे ॥१३८॥

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया। उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत्॥१३९॥तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः॥१४०॥

अर्थ–प्रजा के स्नेह से अपना कर न लेना अपना मूलच्छेद और लालच से बहुत कर ग्रहण करना औरों का मूलच्छेद है। ये दोनों काम राजा न करे। अपना मूलच्छेदन करता हुआ (कोश के क्षीण होने से) आप क्लेश को प्राप्त

हो और (अधिक कर ग्रहण करने से) प्रजा क्लेश को प्राप्त हो ॥१३९॥ राजा काम को देख कर न्यायानुसार तीक्ष्ण और नम्र हो जाया करे। क्योंकि इस प्रकार का राजा सब के संमत होता है ॥१४०॥

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्। स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम् ॥१४१॥ एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः। युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥१४२॥

अर्थ—आप मनुष्यों के कामों के देखने में खिन्न (रोगादि वश मुकद्दमों को न देख सकता) हो तो मुख्य मन्त्री जो धर्म का जानने वाला बुद्धिमान् जितेन्द्रिय कुलीन हो, उस को उस जगह मनुष्यों के काम देखने पर योजना करे ॥१४१॥ अपने संपूर्ण कर्तव्य को इस प्रकार पूरा करके, प्रमादरहित युक्त हुआ राजा, इस प्रजा की सब से रक्षा करे ॥१४२॥

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः। संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥१४३॥ क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्। निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ १४४ ॥

अर्थ—भृत्यों के सहित जिस राजा के देखते हुवे चिल्लाती हुई प्रजा चोरों से हरण की जाती हैं, वह राजा जीता नहीं, किन्तु मरा है ॥ १४३ ॥ प्रजा का पालन ही क्षत्रिय का परम धर्म है। इस लिये अपने धर्म ही से राजा को फल भोग करना ठीक है ॥ १४४ ॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः। हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥१४५॥ तत्रस्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्। विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥१४६॥

अर्थ—राजा, पिछली रात पहर भर के तड़के उठ कर शौच (मुखमार्जन स्नानादि) कर, एकाग्रचित्त हो, अग्निहोत्र और ब्राह्मणों का पूजन करके सुन्दर सभा में प्रवेश करे (अर्थात् राजा नित्यकर्म करके कचहरी में जावे) ॥१४५॥ उस सभा में स्थित संपूर्ण प्रजा को निबटेरे से प्रसन्न करके विसर्जन करे (अर्थात् उन का अर्ज़ मारूज़ सुन कर कचहरी बरख़ास्त करे) अनन्तर मन्त्रियों से (राजसंबन्धी संधि विग्रहादि रूप) मन्त्र (सलाह) करे ॥१४६॥

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः । अरण्ये निःशलाकेवा मन्त्रयेदविभावितः॥१४७॥यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः॥१४८॥

अर्थ-पर्वत पर चढ़ कर वा निर्जन घर में वा वृक्षरहित वन में वा एकान्त में जहां भेद लेने वाले न पहुंच सकें (ऐसे स्थान में मन्त्र करे) ।।१४७।। जिस के मन्त्र को अलग २ वा मिल कर कोई मनुष्य नहीं जान पाते, वह कोशहीन राजा भी संपूर्ण पृथिवी को भोगता है ।।१४८।।

जडमूकान्धबधिरांस्तिर्यग्योनान्वयोतिगान् । स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत्॥१४९॥भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तिर्यग्योनास्तथैव च। स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत्॥१५०॥

अर्थ-जड़ मूक बधिर अन्ध पक्षी आदि और वृद्ध स्त्री म्लेच्छ रोग व्यङ्गवाला, इन को मन्त्र के समय में वहां से हटा देवे ।। १४९ ।। पूर्वोक्त जड़ादि अपमान को प्राप्त हुवे मन्त्रभेद कर देते हैं । ऐसे ही शुक सारिकादि पक्षी और विशेष करके स्त्री मन्त्रभेदक हैं । इस लिये उन का अपमान न करके आदरपूर्वक हटा देवे ।।१५०।।

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः । चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्साधं तैरेक एव वा ।।१५१।। परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् । कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ।।१५२।।

अर्थ-दो प्रहर दिन को वा अर्ध रात्रि को चित्त के खेद और शरीर के क्लेश से रहित हुआ मन्त्रियों के साथ वा अकेला धर्म अर्थ काम का चिन्तन करे ।। १५१ ।। यदि धर्म अर्थ काम परस्पर विरुद्ध हों तो इन के विरोधदोष के परिहार द्वारा उपार्जन और कन्याओं का दान और पुत्रों का रक्षण शिक्षादि (इन का चिन्तन करे) ।।१५२।।

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च। अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ।। १५३ ।। कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः । अनुरागपरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ।। १५४ ।।

अर्थ—परराज्य में दूत भेजने और शेष कामों तथा अन्तःपुर अर्थात् महल में जो प्रचार होरहा है, उस का और प्रतिनिधिओं के काम का (विचारकरे) ॥ १५३ ॥ संपूर्ण अष्टविध कर्म का और पञ्चवर्ग का तत्व से विचार करे और अमात्यादिकों के अनुराग विराग को जाने और मण्डल के प्रचार (कौन लड़ना चाहता है और कौन सुलह करना चाहता है) को विचारे ॥१५४॥ (यहां आठ प्रकार के वा पांच प्रकार के कामों की गिनती नहीं लिखी है, इसलिये हम मेधातिथि के भाष्य से उद्धृत करके उशनःस्मृति के श्लोकों को सार्थ लिखना उचित समझते हैं:—

[आदाने च विसर्गे च तथा प्रैषनिषेधयोः ।
पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥
दण्डशुद्धयोस्तथा युक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः ।]

भेंट वा कर लेना, वेतन वा पारितोषिकादि देना, दुष्टोंको त्यागना=पृथक् करना, अधिकारियों के मतिभेद (इस्तैफ़े) का स्वीकार न करना, (वा विधि और निषेध), बुरी प्रवृत्तियों को नाहीं करना (अपील सुनना), व्यवहार पर दृष्टि, अपराधियों को दण्ड, और पराजितों की भूल के प्रायश्चित्त कराना, ये आठ हैं। और दूसरे प्रकार भी मेधातिथि ने गणना की है। यथा—व्यापार, पुलबांधना, किले बनवाना, उन की स्वच्छता का ध्यान, हाथी पकड़ना, खानि खोदना, जङ्गलों को बसाना और वन कटवाना ८ ॥ अन्य भी कई प्रकार से भाष्यकारों ने गणना की हैं ॥ अब ५ की गणना सुनिये—कोई तो मानते हैं कि १ कर्मारम्भोपाय २ पुरुषद्रव्यसंपत्ति ३ हानि का प्रतीकार ४ देश काल का विभाग ५ कार्यसिद्धि। और कोई कहते हैं कि १ कापटिक २ उदासीन ३ वैदेह ४ गृहपति ५ तापस; ये ५ प्रकार के बनावटी साधु वेष बनाये अन्य राजों की ओर से अन्य राज्यों का भेद जानने को फिरा करते हैं, उन के लिये वैसे ही अपने यहां रक्खे ॥ इसी भाव के २ श्लोक नन्दन के टीके में मिलते हैं:—

[वने वनेचराः कार्याश्रमणाटविकादयः । परप्रवृत्तिज्ञानार्थं शीघ्राचारपरंपराः ॥ परस्य चैते बोद्धव्यास्तादृशैरेव तादृशाः । चारसंचारिणः संस्थाः शठाश्चागूढसंज्ञिताः] ॥ १५४ ॥

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् । उदासीनप्रचारं च

शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥१५५॥ एताःप्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः। अष्टौ चान्याःसमाख्याता द्वादशैव तु ताःस्मृताः ॥१५६॥

अर्थ—मध्यम, जीतने की इच्छा करने वाले, उदासीन, और शत्रुके प्रचार को प्रयत्न से (राजा विचारे) ॥१५५॥ ये चार प्रकृतियां संक्षेप से कही मण्डल की मूल हैं और आठ अन्य भी कही हैं (इन ४ के मित्र ४ और ४ के शत्रु ४=८) ये मिलकर बारह हैं ॥१५६॥

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याःपञ्च चापराः। प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥१५७॥ अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च। अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोःपरम् ॥१५८॥

अर्थ—अमात्य देश दुर्ग कोश दण्ड, ये पाञ्च और भी प्रकृति होती हैं। पूर्वोक्त मूल प्रकृति चार और शाखाप्रकृति आठ, ऐसे बारह की पांच पांच प्रत्येकों की द्रव्यप्रकृति हैं ये मिलकर साठ होती हैं और वे मूल बारह मिलाकर संक्षेप से बहत्तर होती हैं॥१५७॥शत्रु के सेवियों को शत्रु ही जाने। उसके अनन्तर मित्र को जाने पश्चात् उदासीन को जाने (अर्थात् इन पर उत्तरोत्तर दृष्टि रक्खे) ॥ १५८ ॥

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः। व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥ सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च। द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ १६० ॥

अर्थ—उन सब को सामादि उपायों से वश में करे। ए एक उपाय से या सब से और पुरुषार्थ तथा नीति से वश में करे ॥ १५९॥ मेल, लड़ाई, शत्रु पर चढ़ जाना, उस की राह देखना, अपने दो भाग कर लेना और दूसरे का आश्रय कर लेना, इन छः गुणों को सर्वदा विचारे ॥१६०॥

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च। कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च॥ १६१ ॥ संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च। उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥ १६२॥

अर्थ—पूर्वोक्त आसन यान संधि विग्रह द्वैध और आश्रय; इन गुणों को अवसर देखकर जब जैसा उचितहो,तब वैसा करे॥१६१॥संधि दो प्रकारकी जाने और विग्रह

भी दो प्रकार का। ऐसे ही यान आसन और संश्रय भी दो दो प्रकार के हैं ॥१६२॥

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च। तदात्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः॥१६३॥स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा। मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः॥ १६४ ॥

अर्थ—तत्काल वा आगामी समय के फललाभ के लिये जहां दूसरे राजा के साथ किसी और राजा पर चढ़ाई की जाती है उस को "समानयानकर्मा" संधि और "हम इस पर चढ़ाई करेंगे, तुम उस पर करो" इस प्रकार मेल कर के दो भिन्न भिन्न राज्यों पर चढ़ाई करने के लिये जो मेल किया जाता है उस को "असमानयानकर्मा" संधि जाने ।। १६३ ।। शत्रु के जयरूप कार्य के लिये (शत्रु के व्यसनादि को जान कर उचित मार्गशीर्षादि) काल में वा बे काल में युद्ध करना, एक विग्रह और अपने मित्र के अपकार होने से उसकी रक्षा को जो युद्ध है सो दूसरा, ऐसे दो प्रकार का विग्रह कहा है ।।१६४।।

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया । संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते॥१६५॥ क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा। मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम्॥१६६॥

अर्थ—दैवयोग से अत्यावश्यक कार्य में अकेला शत्रु पर चढ़ाई करना, या मित्र के साथ हो कर शत्रु पर चढ़ाई करना, ये दो प्रकार का "यान" (छापा) है ॥ १६५ ॥ पूर्व जन्म के दुष्कृत से वा यहीं की बुराई से क्षीण राजा का चुप चाप बैठ रहना १ आसन है और मित्र के अनुरोध से चुप चाप बैठ रहना दूसरा, ये दो आसन कहे हैं ।। १६६ ।।

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये। द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः॥१६७॥ अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः। साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥१६८॥

अर्थ—(अपनी वा मित्र की) अर्थसिद्धि के लिये सेना को एक स्थान पर स्थापित करके, कुछ सेना के साथ राजा दुर्ग में रहे, ये दो प्रकार का द्वैध षड्गुणज्ञ लोग कहते हैं ।। १६७ ।। शत्रुओं से पीडित राजा को प्रयोजन की सिद्धि के लिये किसी की शरण लेना और सज्जनों के साथ व्यपदेश के लिये शरण लेना

(अर्थात् विना शत्रुपीड़ा भी किसी बड़े राजा के आश्रय रहना, जिस से अन्य राजों को इस बड़े के आश्रय का भय रहे) ऐसे दो प्रकार का संश्रय कहा है ।।१६८।।

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः । तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा सन्धिं समाश्रयेत्।। १६९।।यदा प्रकृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्। अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम्।। १७०।।

अर्थ—जब भविष्यत्काल में निश्चय अपना आधिक्य जाने और वर्त्तमान समय में अल्प पीड़ा देख पड़े, उस समय में सन्धि करे ।।१६९।। जब अमात्यादि सब प्रकृति अत्यन्त बढ़ी हुई (उन्नत) जाने और अपने को जब अत्यन्त बलिष्ठ देखे तब विग्रह करे ।। १७० ।।

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् । परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति।।१७१।। यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च। तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन्।।१७२।।

अर्थ—जब अपने सैन्य हर्षयुक्त और (द्रव्यादि से) पुष्ट दशा में प्रतीत हों और शत्रु के निर्बल हों, तब शत्रु का पीछा करे ।। १७१ ।। परन्तु जब वाहन और बल से आप क्षीण हो, तब धीरे धीरे शत्रुओं को प्रयत्न से शान्त करता हुआ ठहरा रहे ॥ १७२ ।।

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्। तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः।। १७३।।यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्। तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ।।१७४।।

अर्थ—जब लड़ाई में राजा शत्रु को सर्वथा अतिबलवान् समझे तब कुछ सेना के साथ आप क़िले का आश्रय करे और कुछ सेना लड़ने को मोरचों पर रक्खे, इस प्रकार अपना कार्य साधे ।। १७३ ।। जब शत्रुसेना की बहुत चढ़ाई हो (और आप क़िले के आश्रय से भी न बच सके) तब शीघ्र किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय (पनाह) लेवे ।।१७४।।

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च । उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा।। १७५।।यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम्। सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ।। १७६ ।।

अर्थ—जोकि मित्र राजा, प्रकृतियों का निग्रह करे और अपने शत्रु के बल का भी निग्रह करे, उस का सदा सम्पूर्ण यत्नों से गुरुवत् सेवन करे (अर्थात् उस के कहने के अनुसार चले) ॥१७५॥ परन्तु जब आश्रय किये जाने से भी दोष देखे (अर्थात् उन में भी कुछ धोका समझा जाय) तब उस के साथ भी निःशङ्क होकर युद्ध करे ॥ १७६ ॥

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः । यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः॥१७७॥आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्। अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः॥१७८॥

अर्थ—नीति का जानने वाला राजा सामादि उपायों से ऐसा करे कि जिस में इस के मित्र, उदासीन वा शत्रु बहुत न होवें ॥ १७७ ॥ सम्पूर्ण भावी गुण दोष और वर्त्तमान समय के कर्त्तव्य को विचारे और व्यतीत हुवों को भी विचारे कि ठीक २ किस २ में क्या २ गुण दोष निकले ॥ १७८ ॥

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः। अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥१७९ ॥ यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीन-शत्रवः । तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः॥१८०॥

अर्थ—जो होने वाले कार्यों के गुण दोष को जानने वाला, (अच्छे का प्रारम्भ करता है और बुरे को छोड़ देता है) और उसी समय के भी गुण दोषों को शीघ्र निश्चय करके काम करता है और हुवे कार्य के शेष कर्त्तव्य का जानने वाला है, वह शत्रुओं से नहीं दबता॥१७९॥ जिस में मित्र उदासीन और शत्रु अपने को दबाने न पावें, वैसे सब विधान करे। यह संक्षेप से नीति है॥१८०॥

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः । तदानेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥ मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः। फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम्॥१८२॥

अर्थ—जब राजा शत्रु के राज्य में जाने को यात्रा (चढ़ाई) करे तब इस विधि से धीरे धीरे शत्रु के राज्य में गमन करे (कि) ॥ १८१ ॥ जैसी अपनी सेना वा अन्य बल हो, तदनुसार शुभ मार्गशीर्ष के महीने में अथवा फाल्गुन वा चैत्र के महीने में राजा यात्रा करे ॥१८२॥

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद् ध्रुवंजयम्। तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥१८३॥ कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि। उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥१८४॥

अर्थ—और दूसरे काल में भी जब निश्चय जय समझे तब यात्रा करे। चाहे तौ अपनी ओर से ही युद्ध ठानकर अथवा जब शत्रु की ओर से उपद्रव उठे।।१८३।। अपने राज्य और दुर्ग की रक्षा करके और यात्रासम्बन्धी ठीक २ विधान करके, डेरा तम्बू आदि लेकर और दूतों को अगाऊ भेज कर (यात्रा करे) ।।१८४।।

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्। सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८५ ॥ शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्। गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥१८६॥

अर्थ—(जल, स्थल, आकाश, वा ऊंचे, नीचे, सम) तीन प्रकार के मार्गों का शोधन करके और छः प्रकार का अपना बल लेकर संग्रामकल्प की विधि से धीरे धीरे शत्रु के नगर को यात्रा करे। (६ प्रकार का बल यह है—मार्ग रोकने वाले वृक्षादि कटवाना, गढ़ों को बराबर कराना, नदी वा झीलों के पुल बान्धना वा नौकादि रखना, मार्ग रोकने वालों को नष्ट करना, जिन से शत्रु को सहारा मिलना सम्भव हो उन्हें अपना बनाना, रसद और सेनादि तैयार रखना ६। अथवा हस्त्यारोही, अश्वारोही, रथारोही और पैदल सेना, कोश और नौकर चाकर ६) ।।१८५।। जो मित्र छिप कर शत्रु से मिला हुआ हो और जो पहिले छुड़ाया फिर आया हुवा नौकर हो, इन से सचेत रहे क्योंकि ये दोनों शत्रुता करें तौ बड़ा दुःख दे सकते हैं ।।१८६।।

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा। वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥१८७॥ यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम्। पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥ १८८ ॥

अर्थ—(दण्ड के आकार व्यूह की रचना दण्डव्यूह कहलाता है। ऐसे ही शकटादि व्यूह भी जानिये। उस में आगे सेना के अफ़सर, बीच में राजा, पीछे सेनापति, दोनों बगल हाथी, उन के पास घोड़े और उन के आस पास पैदल। इस प्रकार लम्बी रचना दण्डव्यूह कहाती है। ऐसे) दण्डव्यूह से मार्ग

चले अथवा शकट, वराह, मकर, सूची, गरुड़ तुल्य आकृति वाले व्यूहों से जहां जैसा उचित समझे वहां वैसे यात्रा करे ।।१८७।। जिस ओर डर समझे उस ओर सेना बढ़ावे । सर्वदा आप (कमलाकार) पद्मव्यूह से चले ।।१८८।।

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् । यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥१८९॥ गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान्समन्ततः । स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥१९०॥

अर्थ—सेनापति और सेनानायकों को सब दिशाओं में नियुक्त करे और जिस दिशा में भय समझे उसे पहली (पूर्व) दिशा कल्पना करे ।।१८९।। सेना के स्तम्भ के समान दृढ़ आप्तों को भिन्न २ संज्ञा धर के स्थापन करे, जो स्थान और में युद्ध प्रवीण तथा निर्भय हों और बिगड़ने वाले न हों ।।१९०।।

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून् । सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥ १९१ ॥ स्यन्दनाश्वैः समे युद्ध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा । वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ १९२ ॥

अर्थ—अल्प योधा हों तो उन को इकट्ठा करके युद्ध करे । और बहुतों को चाहे फैलाकर लड़े। पूर्वोक्त सूच्याकार वा वज्राकार व्यूह से रचना करके इन से युद्ध करावे।।१९१।। बराबर की पृथिवी पर रथों और अश्वों से युद्ध करे । पानी की जगह हाथी और नावों पर से युद्ध करे। वृक्षलताओं से घिरी पृथ्वी पर धनुषों से लड़े। और कण्टकादिरहित स्थल में खड्गचर्मादि आयुधों से लड़े।।१९२।।

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालान् शूरसेनजान् । दीर्घाँल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥१९३॥ प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत् । चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥ १९४ ॥

अर्थ—कुरुक्षेत्रनिवासी और मत्स्यदेश के निवासी तथा पञ्चाल और शूरसेन देश निवासी नाटे वा ऊंचे मनुष्यों को सेनाके आगे करे (क्योंकि ये रणकर्कश वीर होते हैं) ।।१९३।। व्यूह की रचना करके उनको उत्साहित करे और उनकी परीक्षा करे। शत्रुओं से लड़ते हुवे भी उनकी चेष्टाओं को जाने कि कैसे लड़ते हैं ।।१९४।।

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् । दूषयेच्चास्य सततं

यवसान्नोदकेन्धनम् ॥१९५॥ भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरि-
खास्तथा । समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥

अर्थ—शत्रुओं को घेर कर देश को उच्छिन्न करे और निरन्तर घास,अन्न,जल, इन्धन को ख़राब करे ॥१९५॥ बावड़ी तालाब और शहरपनाहों को तोड़ डाले और घेरे भी तोड़ डाले और शत्रु को निर्बल करे और रात्रिमें भी कष्ट देवे ॥१९६॥

उपजप्यानुपजपेद्बुद्ध्येतैव च तत्कृतम् । युक्ते च दैवे युद्ध्येत
जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७ ॥ साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा
पृथक् । विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥

अर्थ—शत्रु के मन्त्री आदि को तोड़ कर भेद लेवे । और उस के इसी काम का भेद जाने । यदि दैव सहायक हो तो निडर होकर जय की इच्छा करने वाला ऐसे युद्ध करे ॥१९७॥ (हो सके तो) साम दाम भेद,इन में से एक २ से वा तीनों से शत्रु को जय करने का प्रयत्न करे, पहले युद्ध से कभी न करे ॥१९८॥

अनित्योविजयोयस्माद्दृश्यते युद्ध्यमानयोः । पराजयश्च संग्रामे
तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ १९९॥ त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्ताना-
मसम्भवे । तथा युध्येत संपन्नोविजयेत रिपून्यथा ॥ २०० ॥

अर्थ—संग्राममें लड़ने वालों के जय पराजय अनित्य देखे जाते हैं । इस लिये (अन्य उपायोंके होते) युद्ध न करे ॥ १९९ ॥ पूर्वोक्त तीनों उपायों से जय संभव न हो तो संपन्न (हस्ती अश्वादि से युक्त) हुआ जिस प्रकार शत्रुओं को जीते, उस प्रकार लड़े ॥ २०० ॥

जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् । प्रदद्यात्परिहारांश्च
ख्यापयेदभयानि च ॥२०१॥ सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चि-
कीर्षितम् । स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥ २०२ ॥

अर्थ—परराज्य को जीत कर वहां देवता और धार्मिक ब्राह्मणों का पूजन करे और उस देश वालों को परिहार (लड़ाई के समय जिन दीन पुरुषों की हानि हुई हो, उनके निर्वाहार्थ) देवे और अभय की प्रसिद्धि करे ॥२०१॥ शत्रु राजा और उनके अमात्यादि के अभिप्राय को संक्षेप से जानकर उस

राजा के वंश में हुवे पुत्रादि को उस गद्दी पर बैठावे और "यह करो, यह न करो" तथा उसके अन्य विषयों के नियम (अहद) स्वीकार करावे ॥ २०२ ॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान् । रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥ आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् । अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥

अर्थ—उनके यथोदित धर्मों (रिवाजों) को प्रमाण करे और रत्नों से प्रधान पुरुषों के साथ उस का पूजन करे (अर्थात् नये वज़ीरों के उस गद्दी पर बैठाये राजा को ख़िलत देवे) ॥२०३॥ यद्यपि अभिलषित पदार्थों का लेना अप्रिय और देना (सब को) प्रिय है। तथापि समयविशेष में लेना और देना दोनों अच्छे हैं॥२०४॥

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे ।
तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥२०५॥

अर्थ—यह संपूर्ण कर्म दैव तथा मनुष्य के आधीन है। परन्तु उन दोनों में दैव अचिन्त्य है (उस की चिन्ता व्यर्थ है) इसलिये मनुष्य के आधीन अंश में कार्य किया जाता है ॥ २०५ ॥

(२०५ से आगे छहों भाष्यों में प्राचीन भाष्यकार मेधातिथि का भाष्य इन ३ श्लोकों पर अधिक है जो कि अब अन्य भाष्यों वा मूल पुस्तकों में नहीं पाये जाते । प्रतीत होता है कि ये श्लोक पीछे से नष्ट होगये वा किये गयेः—

[दैवेन विधिना युक्तं मानुष्यं यत्प्रवर्तते । परिक्लेशेन महता तदर्थस्य समाधकम् ॥ १ ॥ संयुक्तस्यापि दैवेन पुरुषकारेण वर्जितम्। विना पुरुषकारेण फलं क्षेत्रं प्रयच्छति॥२॥चन्द्रार्काद्या ग्रहा वायुरग्निरापस्तथैव च।इह दैवेन साध्यन्ते पौरुषेण प्रयत्नतः॥३॥]

जब कभी दैव की विमुखता में पुरुषार्थ किया जाता है, तबभी अधिक कष्ट उठाने से काम बन ही जाता है ॥१॥ और दैव की अनुकूलता में पुरुषार्थ न किया जाय,तो जैसे बोया हुवा ही बीज खेती से मिलता है,(वैसे पूर्व पुरुषार्थ का ही फल होता है)॥२॥ चन्द्र सूर्य आदि ग्रह, वायु और अग्नि तथा बादल सब संसार में यत्नपूर्वक ईश्वरीय पुरुषार्थ से ही सध रहे हैं ॥३॥) ॥२०५॥

सह वापि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः ।
मित्रं भूमिं हिरण्यं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥२०६॥

अर्थ—अथवा मित्रता, सुवर्ण, भूमि; यह तीन प्रकार का यात्रा का फल देख कर उसके साथ सन्धि करके वहां से गमन करे (अर्थात् मित्रता या कुछ रुपया या कुछ भूमि लेकर उसके साथ प्रयत्न से सुलह कर चला आवे) ॥२०६॥

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथा क्रन्दं च मण्डले । मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥२०७॥ हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते। यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥२०८॥

अर्थ—जो पराये राज्य का जय करते राजा के पीछे राज्य दबाता हुआ राजा आवे उसको मण्डल में "पार्ष्णिग्राह" कहते हैं । और जो उसको ऐसा करने से रोके उसको "क्रन्द" कहते हैं । उन दोनों को देखकर मित्र से वा अमित्र से यात्रा का फल ग्रहण करे(ऐसा न करे जिस से पार्ष्णिग्राह वा क्रन्द अपने से बिगड़ जावें)॥२०७॥राजा—सुवर्ण और भूमि को पाकर वैसा नहीं बढ़ता, जैसे वर्त्तमान में दुर्बल भी आगामी कालमें काम देने योग्य स्थिर मित्रको पाकर बढ़ता है॥२०८॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च । अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघु मित्रं प्रशस्यते ॥२०९॥प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च । कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥२१०॥

अर्थ—धर्मज्ञ, कृतज्ञ, प्रसन्नचित्त, प्रीति करने वाला, स्थिर कार्य का आरम्भ करने वाला, छोटा मित्र अच्छा होता है ॥२०९॥ बुद्धिमान्, कुलीन, शूर, चतुर दाता, कृतज्ञ और धैर्य वाले शत्रु को विद्वान् लोग कठिन कहते हैं (अर्थात् ऐसे शत्रु को जय करना बहुत कठिन है) ॥२१०॥

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता । स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥२११॥ क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि। परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥

अर्थ—सभ्यता, मनुष्यों की पहिचान, शूरता, कृपालुता और मोटी २ बातों पर ऊपरी लक्ष्य रखना; यह उदासीन गुणों का उदय है ॥ २११ ॥

कल्याण करने वाली, संपूर्ण धान्यों को देने वाली और पशुवृद्धि करने वाली भूमि को भी राजा अपनी रक्षा के लिये विचार न करता हुवा छोड़ देवे ।।२१२।।

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि । आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥२१३॥ सह सर्वाःसमुत्पन्नाःप्रसमीक्ष्यापदो भृशम् । संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद्बुधः ॥२१४॥

अर्थ—आपत्ति की निवृत्ति के लिये धन की रक्षा करे और धनों से स्त्रियों की रक्षा करे और अपने को दारा से और धनों से भी निरन्तर रक्षित करे ।। २१३ ।। बहुत सी आपत्ति एक साथ उत्पन्न होती देखे तो उन के हटाने को बुद्धिमान् सामादि सब ही उपाय अलग अलग वा मिला के करे ।।२१४।।

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः । एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥२१५॥ एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः । व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत्२१६

अर्थ—उपाय करने वाले और उपाय के योग्य साध्य और उपाय; इन तीनों को ठीक२ आश्रय करके अर्थसिद्धि के लिये प्रयत्न करे।।२१५।। उक्त प्रकारसे संपूर्ण राजवृत्तिको मन्त्रियोंके साथ विचारकर स्नान तथा शस्त्रके अभ्यास द्वारा व्यायाम (कसरत) करके मध्यान्ह में भोजन को अन्तः पुर में प्रवेश करे ।।२१६।।

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैःपरिचारकैः। सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः॥२१७॥ विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् । विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥२१८॥

अर्थ—उस अन्तःपुर में,भोजन काल के भेद जानने वाले,टूट कर शत्रुपक्ष में न मिल जाने योग्य अपने, सेवकों के द्वारा सिद्ध कराया हुवा और (चकोरादि पक्षियों से) परीक्षित और विष के दूर करने वाले मन्त्रों (गुप्त विचारों) से शुद्ध हुवे अन्न का भोजन करे ।। २१७ ॥ राजा के सब भोज्य द्रव्यों में विष का नाश करने वाली दवा डाले और विष के दूर करने वाले रत्नों का नियम से सदा धारण करे ।।२१८।।

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः । वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः॥२१९॥एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्या-

सनाशने । स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालङ्कारकेषु च ॥२२०॥

अर्थ—परीक्षा की हुई, वेष आभूषणों से शुद्ध, एकाग्र चित्त हुई, स्त्रियां; पंखा, पानी, धूपगन्ध से राजा की सेवा करें।।२१९।। इसी प्रकार (परीक्षादि) प्रयत्न, वाहन, शय्या, आसन, भोजन, स्नान, अनुलेपन और सब अलङ्कारों में भी करे।।२२०॥

भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तः पुरे सह। विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥२२१॥ अलंकृतश्च संपश्येदायुधीयं पुनर्जनम् । वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥२२२॥

अर्थ—भोजन करके उसी अन्तःपुर में स्त्रियों के साथ कुछ देर टहले। फिर (राजसम्बन्धी) कामों का विचार करे ।।२२१।। शस्त्र भूषणादि अलङ्कार धारण किये हुवे, आयुध से जीने वालों (सवार सिपाही आदि) को देखे और संपूर्ण वाहनों तथा शस्त्रों और आभूषणों को देखे ।। २२२ ।।

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् । रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥२२३॥ गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् । प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥२२४॥

अर्थ—उस के अनन्तर सन्ध्योपासन करके निवास गृह के एकान्त स्थान में शस्त्र धारण किये हुवे, गुप्त समाचार कहने वाले दूतों और प्रतिनिधियों के समाचार और कामों को सुने ।।२२३।। अन्य कमरे में उन का विसर्जन कर अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ फिर से भोजन के लिये अन्तःपुर में जावे।।२२४।।

तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः । संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥२२५॥ एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः । अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां) राजधर्मो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अर्थ—वहां भोजन करके फिर थोड़े गाने बजाने से प्रसन्न किया हुवा, उचित काल में शयन करे, पुनः पहर भर के तड़के विश्रान्त होकर उठे।।२२५।। रोगरहित राजा यह सब इस प्रकार से आप ही करे और यदि अस्वस्थ हो तो योग्य भृत्यों से ये सब कार्य करावे ।।२२६।।

इति तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे सप्तमोऽध्यायः ।।७।।

ओ३म्

अथाष्टमोऽध्यायः

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैःसह पार्थिवः। मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥१॥ तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्। विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥२॥

अर्थ—विशेष करके नीति से सुशिक्षित राजा व्यवहारोंके देखनेको ब्राह्मण और मन्त्र (सलाह) के जानने वाले मन्त्रियों के साथ सभा में प्रवेश करे ॥१॥ विनययुक्त वेष आभूषण धारण करके, उस सभा में बैठा या खड़ा हुआ दहिने हाथ को उठा कर काम वालों के कामों को देखे ॥२॥

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥ ३ ॥

अर्थ—(जो कि) अष्टादश व्यवहार के मार्गों में नियत कार्य हैं उन को देशव्यवहार और शास्त्र से समझे हुवे हेतुओं से पृथक् २ नित्य विचारे ॥ (वे अठारह आगे कहते हैं) ॥३॥ (इस में "निबद्धानि=विविधानि" यह पाठभेद मेधातिथि ने व्याख्यात किया है। तथा एक पुस्तक में इस तीसरे श्लोक से आगे एक श्लोक यह अधिक पाया जाता है:—

[हिंसां यः कुरुते कश्चिद्देयं वा न प्रयच्छति।
स्थाने ते द्वे विवादस्य भिन्नोऽष्टादशधा पुनः]

कोई किसीकी हिंसा करे वा देने योग्य धनादि न देवे, ये दो (फ़ौजदारी व दीवानी) विवादके मुख्य स्थानहैं। फिर अष्टादश१८ प्रकार का विवाद है)॥३॥

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः। संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥ वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः। क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥५॥ सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके। स्तेयं च साहसं चैव

स्त्रीसंग्रहणमेवच॥६॥ स्त्रीपुंधर्मोविभागश्च द्यूतमाह्वयएवच।पदा-
न्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥७॥ एषुस्थानेषु भूयिष्ठं विवादं
चरतां नृणाम्। धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥८॥

अर्थ–उनमें पहला १ ऋणाऽदान है कि ऋणलेकर न देना,वा विनादिये मांगना,२ निक्षेप=धरोहर, ३ विना स्वामी होने के बेचना, ४ साझे का व्यापार ५ दान दिये को फिर ले लेना॥४॥६ नौकरी का न देना,७ इकरारनामें के विरुद्ध चलना, ८ ख़रीदने बेचने का झगड़ा, ९ पशुस्वामी और पशुपाल का झगड़ा, ॥ ५ ॥ १० सरहद्द की लड़ाई, ११ कड़ी बात कहना, १२ मारपीट, १३ चोरी, १४ ज़बरदस्ती धनादि का हरण करना, १५ परस्त्री का ले लेना ॥ ६ ॥ १६ स्त्री और पुरुष के धर्म की व्यवस्था, १७ धनका भाग, १८ जुवा और जानवरों की लड़ाई में हार जीत का दाव लगाना। इस प्रकार अठारह व्यवहारप्रवृत्ति केस्थान हैं॥७॥ इन ऋणादानादि व्यवहारों में वहुत झगड़ने वाले पुरुषों का,अनादिसे चले आते सनातन धर्म के अनुसार निर्णय करे ॥८॥

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिःकार्यदर्शनम्। तदा नियुज्याद्विद्वांसं
ब्राह्मणं कार्यदर्शने॥९॥ सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रि-
भिर्वृतः। सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥१०॥

अर्थ–जब राजा,आप किसी कारण से कार्यदर्शन न करसके (अर्थात् बीमारी आदि में आप मुक़द्दमों को न देखसके) तब विद्वान् (नीतिज्ञ)ब्राह्मण को कार्य देखनेमें नियुक्त करे॥९॥वह ब्राह्मण तीन सभ्य पुरुषोंकेही साथ,सभामें ही प्रवेश करके, एकाग्र खड़े हुवे वा बैठकर राजाके देखने केसब कामों को देखे॥१०॥

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः। राज्ञश्चाधिकृतो वि-
द्वान् ब्रह्मणस्तां सभां विदुः॥११॥ धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां य-
त्रोपतिष्ठते। शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥१२॥

अर्थ–जिस देश में वेदों के जानने वाले ३ ब्राह्मण (राजद्वार में) रहते हैं और राजा के अधिकार को पाया हुवा १ विद्वान्ब्राह्मण रहता है, उस सभा को ब्रह्मा की सभा मानते हैं ॥ ११ ॥ जिस सभा में अधर्म से धर्म को बींधा जाता है (झूंठ मिला सच मुक़द्दमा आता है) उस सत्य कोक्लेश देने वाले

शल्य (कांटे) को जो सभासद् नहीं निकालते हैं, तब उसी अधर्म रूप कांटे से वे सभासद् बिंधते हैं (अर्थात् सभासद् लोग मुक़द्में की पेचीदगी को न निकालें तो पापभागी होते हैं ॥ एक पुस्तक में यह पाठभेद है कि " निकृन्तन्ति विद्वांसोऽत्र सभासदः " इस पक्षमें यह अर्थ है कि उस कांटे को विद्वान् सभासद् निकालते हैं) ॥ १२ ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् । अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥१३॥ यत्र धर्मोह्यधर्मेण सत्यं यत्राऽनृतेन च । हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥१४॥

अर्थ—या तो सभा (कचहरी) न जाना । जावे तो सच कहना । कुछ न बोले या झूंठ बोले तो मनुष्य पापी होता है ॥ (८ पुस्तकों में "सभा वा न प्रवेष्टव्या" पाठभेद है । और एक में "सभायां न प्रवेष्टव्यम् " पाठभेद भी देखा जाता है) ॥ १३ ॥ जिस सभा में धर्म, अधर्म से और सच, झूंठ से नष्ट होता है, वहां के सभासद् (उस पाप से) नष्ट होते हैं ॥ १४ ॥

धर्मएव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः । तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १५ ॥ वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यःकुरुते ह्यलम् । वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥१६॥

अर्थ—नष्ट हुवा धर्म ही नाश करता है और रक्षित हुआ रक्षा करता है। इस लिये धर्म को नष्ट न करना चाहिये, जिस से नष्ट हुआ धर्म हमारा नाश न करे ॥ १५ ॥ भगवान् धर्म को वृष कहते हैं, उस को जो नष्ट करता है, उस को देवता वृषल मानते हैं । इस लिये धर्म का लोप न करे ॥१६॥

एकएव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः । शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥१७॥ पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति । पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥१८॥

अर्थ—(संसार में) एक धर्म ही मित्र है, मरने पर भी जो साथ चलता है। और अन्य सब शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त हो जाता है ॥१७॥ दुर्व्यवहार के करने से (अधर्म के चार भाग हैं, उन में) एक भाग करने वाले को लगता है और दूसरा भाग झूंठा साक्ष्य देने वाले को और तीसरा सभासदों को और चौथा राजा को लगता है ॥ १८ ॥

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः। एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते॥१९॥ जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः। धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथञ्चन॥२०॥

अर्थ–फिर जिस सभा में असत्यवादी वा पापकर्त्ता की ठीक २ बुराई (निन्दा) की जाती है, वहां राजा और सभासद् निष्पाप होजाते हैं और उस अधर्म करने वाले को ही वह पाप पहुंचता है ॥ १९ ॥ जिस की जातिमात्र से जीविका है (किन्तु वेदादि का पूर्ण ज्ञान नहीं) ऐसा अपनेको ब्राह्मण कहने वाला पुरुष, चाहे अभाव में धर्म का प्रवक्ता हो, परन्तु शूद्र कभी नहीं ॥ (इस का यह तात्पर्य नहीं है कि ब्राह्मणकुलोत्पन्न कुपढ़ लोग धर्मप्रवक्ता हों, किन्तु एक तो ऐसा पुरुष हो जो ब्राह्मणकुल में उत्पन्न मात्र हुवा है, वेदाध्ययनादि विशेष विद्या नहीं रखता; दूसरा शूद्रकुलोत्पन्न हो और वह भी विद्याहीन ही हो तो इन दोनों में वह उत्तम है जो कि ब्राह्मणकुल में उत्पन्न है ।) ॥२०॥

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम्। तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः॥२१॥यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम्। विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्॥२२॥

अर्थ–जिस राजाके यहां धर्म का निर्णय शूद्र करता है, उस का वह राष्ट्र देखते हुवे कीचड़ में गौ सा(फंस)पीड़ा को प्राप्त होजाता है॥२१॥जिस राष्ट्र में बहुत शूद्र और नास्तिक अधिक हों और द्विज न हों, वह संपूर्ण राज्य दुर्भिक्ष और व्याधि से पीडित हुआ शीघ्र नाश को प्राप्त होजाता है॥२२॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः। प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥२३॥ अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ। वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम्॥२४॥

अर्थ–(राजा)धर्मासन (गद्दी) पर बैठकर, शरीर ढके, स्वस्थचित्त, लोकपालों (जिन ८ दिव्य गुणोंसे राजाको युक्त होना चाहिये)को नमस्कार (आदर) करके काम देखना आरम्भ करे (अर्थात् अच्छी तरह इजलास पर बैठ कर मुकद्दमों को देखे) ॥२३॥ अर्थ अनर्थ दोनों को तथा धर्म अधर्म को जान कर वर्णक्रम

से (अर्थात् प्रथम ब्राह्मण, इस क्रमसे) कार्य वालों के सम्पूर्ण कार्यों को देखे।।२४।।

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् । स्वरवर्णेङ्गिताकारै-श्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥२५॥ आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ॥ नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥

अर्थ—मनुष्योंके बाहर के लक्षण—स्वर(आवाज़) और(शरीरका)वर्ण और नीचे ऊपर देखना, आकार (पसीना रोमाञ्च आदि) और चक्षु तथा चेष्टासे भीतरी अभिप्राय को समझे।।२५।। आकार, इशारे, गति, चेष्टा, भाषण और नेत्र तथा मुख के विकारों से अन्तर्गत मन जाना जाताहै (दिली हाल मालूम होता है)।।२६।।

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् । यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥२७॥ वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च । पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥

अर्थ—बालक के दायभाग का द्रव्य, राजा तब तक (जैसे कोर्ट आफ़वार्ड्स में) पालन करे, जब तक वह समावर्त्तन वाला (पढ़ लिखकर होशयार) हो और जब तक लड़कपन न जाता रहे (अर्थात् जब तक बालिग़ न हो) ।।२७।। वन्ध्या, अपुत्रा, सपिण्डरहित पतिव्रता और विधवा तथा स्थिर-रोगिणी स्त्री के (द्रव्य की भी राजा रक्षा करे) ।।२८।।

(२८ वें से आगे मेधातिथि के भाष्यानुसार एक यह श्लोक अधिक है:—

[एवमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ।
वस्त्रान्नपानं देयं च वसेयुश्च गृहान्तिके]

यही विधि पतित स्त्रियों को है कि वस्त्र अन्न पान और घर के समीप रहने को जगह दीजावे) ।। २८ ।।

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुःस्वबान्धवाः । ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकःपृथिवीपतिः ॥२९॥ प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् । अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥३०॥

अर्थ—उन जीती हुई स्त्रियों का वह धन, जो बान्धव हरण करें, उन को चोरदण्ड के समान धार्मिक राजा दण्ड देवे ।। २९ ।। जिस का स्वामी न हो उस (लावारिस) धन को राजा तीन वर्ष तक रक्खे, तीन वर्ष के भीतर

उस के स्वामी का पता लगे तो वह लेलेवे, अनन्तर राजा हरण (ज़ब्त) करे (अर्थात् ढंढोरा पिटने से कि "जिस की हो ले जाओ" ३ वर्ष तक कोई लेने वाला न मिले तो वह धन राजा का होजावे) ॥३०॥

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि। संवाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥३१॥ अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः। वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो कहे कि यह धन मेरा है, तब उस से राजा यथाविधि पूंछे कि क्या स्वरूप है और कितना है, वा कैसा है इत्यादि, जब यह सब सही कहे, तब उस धन को उस का स्वामी पावे ॥ ३१ ॥ नष्ट द्रव्य का देश काल वर्ण रूप प्रमाण (अर्थात् कहां, कब, कौनसा रङ्ग, कैसा आकार, कितना) यह सब अच्छे प्रकार न जानता हो तो उसी के बराबर दण्ड पाने के योग्य है (अर्थात् झूंठा दावा करने वाले को उस धनके बराबर दण्ड दिया जावे, जिस धन पर उसने दावा किया हो) ॥३२॥

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः। दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥३३॥ प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम्। यांस्तत्र चौरान् गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ॥३४॥

अर्थ—नष्ट द्रव्य फिर पावे तो उस में से उस द्रव्य का छठा भाग वा दशवां वा बारहवां, सत्पुरुषों के धर्म का अनुस्मरण करता हुआ राजा ग्रहण करे ॥३३॥ जो द्रव्य किसी का गिरा, राजपुरुषों को पाया, पहरे में रक्खा हो, उस को जो चोर चुरावें, उन को हाथी से मरवा डाले ॥३४॥

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः। तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥३५॥ अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम्। तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम् ॥३६॥

अर्थ—जो पुरुष सचाई से कहे कि "यह निधि मेरा है" उस के निधि से राजा छठा भाग या बारहवां भाग ग्रहण करे, शेष उस को देदेवे) ॥ ३५ ॥ यदि वह पराये को " मेरा है " ऐसा असत्य कहे तो अपने धन का आठवां भाग दण्ड के योग्य है वा गिनकर उसी धनके अल्प भाग भर दण्ड के योग्य

है (निधि उस को कहते हैं जो पुराना बहुत काल का धन पृथिवी में दबा हुवा रक्खा हो। दैवयोग से वह कभी किसी को मिलजावे, तौ वह राजा का धन है। और यदि उस पर कोई अपनेपन का दावा करे और सत्य २ सिद्ध हो जावे तौ छठा भाग राजा ले,शेष उसे देदेवे। यदि झूंठा दावा हो तौ दावा करने वाले की जितनी हैसियत हो उसका अष्टमांश वा उस निधि का कुछ अंश, दावा करने वाले पर दण्ड किया जावे)॥३६॥

विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम्।
अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः॥३७॥

अर्थ—यदि विद्वान् ब्राह्मण,पूर्वकालस्थापित निधि को पावे, तौ वह सब लेले, क्योंकि वह सब का स्वामी है (अर्थात् उस में से छठा भाग राजा न लेवे)॥३७॥

(३७ वें से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:—

[ब्राह्मणस्तु निधिं लब्ध्वा क्षिप्रं राज्ञे निवेदयेत्।
तेन दत्तं तु भुञ्जीत स्तेनः स्यादऽनिवेदयन्]

यदि ब्राह्मण भी निधि को पावे तौ शीघ्र राजा को निवेदित करदे। फिर जब राजा उसे देदेवे तौ भोग लगावे। और राजा को निवेदन न करता हुवा [किन्तु चुपचाप भोगता हुवा] चोर समझा जावे)॥ ३७॥

यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ।
तस्माद्द्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत्॥३८॥

अर्थ—राजा पड़ी हुई भूमि में जो पुरानी निधि को स्वयं पावे तो उस में से आधा द्विजों को दान देकर आधा कोश में रक्खे॥३८॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ। अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः॥ ३९॥ दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम्। राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम्॥ ४०॥

अर्थ—पुरानी निधि (ब्राह्मण से भिन्न कोपाई हुई) का और सुवर्णादि के उत्पत्तिस्थानों का, राजा आधे का भागी है। क्योंकि भूमि की रक्षा करने से वह उस का निश्चय स्वामी है॥ ३९॥ जो धन चोरों ने हरण किया है, उस को राजा पाकर धन के स्वामी को चाहे वहकिसी वर्ण में हो,देदेवे। उस धन का यदि राजा स्वयं भोग करे तो चोर के पाप को पाता है॥ ४०॥

जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥४१॥ स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः।प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः॥४२॥

अर्थ—धर्म का जानने वाला (राजा) जातिधर्म देशधर्म और श्रेणीधर्म (अर्थात् वणिग्वृत्त्यादि) और कुलधर्म, इन को अच्छे प्रकार देख कर, (इन के विरुद्ध जो न हो ऐसे) राजधर्म को प्रचरित करे (यहां धर्म शब्द रिवाज का वाचक है,जो रिवाज वैदिक धर्म के विरुद्ध न हों)॥४१॥जाति, देश और कुल के धर्मों को और अपने कर्मों को करते हुवे अपने अपने कर्म में वर्त्तमान दूर रहते हुवे लोग भी, लोक (सोसाइटी) के प्रिय होते हैं (अर्थात् मनुष्य कहीं किसी विलायत में भी रहता हुआ, अपने देशादि धर्म कर्म करता हुआ लोगों का प्रिय होता है। इस लिये इस को न छोड़े, न छुड़ावे)॥४२॥

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः।न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथञ्चन ॥ ४३ ॥ यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् । नयेत्तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—राजा और राजनियुक्त पुरुष (कामदार) भी ऋणादि का झगड़ा न उत्पन्न करावे और यदि कोई पुरुष विवाद को प्रस्तुत (पेश) करे तो राजा और राजपुरुष उस की उपेक्षा (बेपरवाई) न करें। (वा रिश्वत् लेकर ख़ारिज न कर देवें) ॥४३॥ जैसे मृग के रुधिरपात के मार्ग से खोजता हुवा व्याध पद को प्राप्त होता है,वैसे ही राजा अनुमान से धर्म के पद(मुआमले की असलियत) को प्राप्त हो ॥४४॥

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः।देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥४५॥ सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः । तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ।

अर्थ—व्यवहार (मुआमला, मुक़द्दमा) के देखने में प्रवृत्त राजा वा राजपुरुष सत्य को, अर्थ (गोहिरण्यादि) को, तथा अपने को और साक्षियों को तथा देश रूप और काल को देखे (विचारे) ॥ ४५ ॥ जो धार्मिक सत्पुरुष द्विजातियों से आचरण किया हुआ हो,और कुल जाति देश के विरुद्ध न हो, ऐसा व्यवहार का निर्णय करे ॥४६॥

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः। दापयेद्धनिकस्यार्थ-
मधमर्णाद्विभावितम् ॥४७॥ यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तम-
र्णिकः। तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥
धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च। प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन
बलेन च ॥४९॥ यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमार्णिकात्।
न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥ ५० ॥

अर्थ–अधमर्ण (कर्ज़दार) से ऋण=कर्ज़े का धन मिलने के लिये उत्तमर्ण=महाजन के कहने से कर्ज़दार से महाजन का निश्चित धन दिवावे॥ ४७॥ जिन जिन उपायों से महाजन अपना रुपया पा सके, उन उन उपायों से ऋण संग्रह करके दिवावे ॥४८॥ या तौ धर्म से या व्यवहार=राजद्वारा या छल की चाल से या आचरित (लेन देन के दबाव) से या पांचवें बलात्कार से यथार्थ धन को साधन करे (लेवै) ॥ ४९ ॥ जो महाजन आप कर्ज़दार से रुपया निकाल ले तौ उस पर राजा अभियोग (मुकद्दमा कायम) न करे, जब कि वह ठीक २ अपना धन निकाल रहा है ॥५०॥

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम्। दापयेद्धनिकस्यार्थं
दण्डलेशं च शक्तितः ॥५१॥ अपन्हवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य
संसदि। अभियोक्ता दिशेद्देश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥

अर्थ–धन के विषय में नकार करने वाले से लेख साक्ष्यादि द्वारा प्रमाणित कर महाजन का रुपया और यथाशक्ति थोड़ा दण्ड भी राजा दिलावे॥५१॥ प्रथम सभा में अभियोक्ता (धर्मासनस्थ) करज़ लेने वाले से कहे कि महाजन का रुपया दे, उस पर जब वह कहे कि मैं नहीं जानता, तब राजा, साक्षी (गवाह) या अन्य कुछ साधन (तमस्सुक आदि) के प्रस्तुत करने की उत्तमर्ण को आज्ञा देवे॥५२॥

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः। यश्चाधरोत्तरान-
र्थान् विगीतान्नावबुद्ध्यते॥५३॥ अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्व-
पधावति। सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति॥ ५४॥
असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः। निरुच्यमानं प्रश्नं

च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत्॥५५॥ ब्रूहीत्युक्तश्च नब्रूयादुक्तं च न विभावयेत्। न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥५६॥

अर्थ—जो झूठ गवाह या काग़ज़ पत्र को निर्देश (पेश) करता है और जो निर्देश करके नकार करता है और जो कि आगे पीछे कहे का ध्यान नहीं रखता ॥ ५३ ॥ और जो बात को उलटता है, अपने प्रतिज्ञात किये हुवे तात्पर्य को धर्मासनस्थ के पूछने से फिर इन्कार करता है ॥५४॥ और जो एकान्त में गवाहों के साथ बातचीत करता है, जो बात के सही होने की जांच के लिये अभियोक्ता (अदालत) के सवाल को अच्छा न समझे और जो इधर उधर विना प्रयोजन बात को न मानता हुआ घूमे ॥५५॥ और पूछने पर कुछ न कहे, और जो कहे सो दृढ़ता के साथ न कहे, और जो पूर्वापर बात को न जाने; वह अपने अर्थ (धन) को हार जाता है ॥ ५६ ॥

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः। धर्मस्थःकारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत्॥५७॥अभियोक्ता न चेद्ब्रूयाद्बध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः। न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः॥५८॥

अर्थ—मेरे साक्षी (हाज़िर) हैं, ऐसा कहकर जब धर्माधिकारी कहे कि लावो, तब उन को न लावे तो धर्मस्थ (अदालत) इन कारणों से उस को पराजित (हारा) कह दे ॥५७॥ जो अभियोक्ता (मुद्दई) राजद्वार में निवेदन करके नबोले (अर्थात् नालिश करके ज़बानी न बोले) तब छोटे बड़े मुक़द्में के अनुसार बन्ध वा जुर्माने के योग्य हो और यदि उस पर मुद्दाइलह डेढ़ महीनेके भीतर झूठे दावे से हुई हानि की नालिश न करे तौ धर्मतः (क़ानून से) हार जावे ॥५८॥

यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत्। तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम्॥५९॥पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो-धनैषिणा। त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥६०॥

अर्थ—जो (मुद्दाइलह) असली धन में से जितने को नटे और जो (मुद्दई) असली धन से जितना बढ़ाकर दावा करे, वे दोनों उस घटाये बढ़ाये धन का दूना दण्ड (अर्थात् घटाने वाला घटाने का दूना और बढ़ाने वाला बढ़ाने का दूना देवे) राजा उन दोनों अधर्मियों से दिलावे ॥५९॥ राजा और ब्राह्मण

के सामने उस के इंकार करने पर महाजन कमसे कम तीन गवाहों से सिद्ध करे (अर्थात् हाकिमके सामने अच्छे तीन गवाहोंसे उसका लेना सही करे)॥ ६०॥

याद्दशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः। ताद्दशान्संप्रवक्ष्यामि यथा वाच्यमृतं च तैः॥ ६१॥गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः।अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि॥ ६२॥

अर्थ—मुकद्दमों में महाजन को जैसे गवाह करने चाहियें और उन (गवाहों)को जैसा सच बोलना चाहिये सो भी मैं आगे कहता हूं॥६१॥कुटुम्बी,पुत्र वाले, उसी देश के रहने वाले, क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्ण वाले; ये लोग जब कि (मुद्दई) अर्थी कहे कि मेरे साक्षी हैं, तब साक्ष्य के योग्य होते हैं, हर कोई नहीं, जब तक कि कुछ आपत्ति न हो। (यहां ब्राह्मण को गवाही में इस लिये नहीं कहा है कि सांसारिक कार्यों में पड़ने से उस के पारमार्थिक कामों में बाधा न पड़े, और यदि अन्य साक्षी न मिल सकें तो ब्राह्मण साक्षी वैसे तो सर्वोत्तम है, इसी लिये आगे "ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्" कहेंगे)॥६२॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः।सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत्॥ ६३॥नार्थसंबन्धिनोऽनाप्ता न सहाया न वैरिणः। न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः॥ ६४॥

अर्थ—सब वर्णों में जो यथार्थ कहने वाले और संपूर्ण धर्म के जानने वाले हों, उन को कामों में साक्षी करना चाहिये और इन से विपरीतों को नहीं॥ ६३॥ धन के सम्बन्धी, असत्यवादी, मित्र, उस के नौकर आदि सहायक, शत्रु, दूसरी जगह जान कर झूंठी गवाही देने वाले, बीमार और महापातकादि से दूषितों को गवाह न करे॥६४॥

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ। न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न संगेभ्यो विनिर्गतः॥ ६५॥नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत्। न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः॥६६॥

अर्थ—राजा, कारीगर, नट, श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी और संन्यासी को भी साक्षी न बनावे॥ ६५॥ और परतन्त्र, क्रूर कर्म करने वाला, निन्दित,

दस्यु,निषिद्ध कर्म करने वाला, वृद्ध, लड़का, और एक ही और चाण्डाल और जिसकी इन्द्रियें स्वस्थ न हों, वह भी साक्षी योग्य नहींहै ।।६६।।

नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः । न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः।।६७।। स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियःकुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः। शूद्राश्च सन्तःशूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ।।६८।।

अर्थ—दुःखी,मद्यादि से मत्त,पागल, क्षुधा तृषा से पीडित,थका, कामपीडित, क्रोध वाला और चोर; ये भी साक्षी के योग्य नहीं हैं ।। ६७ ।। स्त्रियों का साक्ष्य स्त्री करें । द्विजों का साक्ष्य उन के सदृश द्विज करें । शूद्रों का साक्ष्य सज्जन शूद्र करें । और चाण्डालों का साक्ष्य चाण्डाल करें ।।६८।।

अनुभावी तु यःकश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् । अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ।।६९।।स्त्रियाप्यसंभवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा। शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ।।७०।।

अर्थ—घर के भीतर, वन में, शरीर के अन्त (ख़ून) में; इन विषयों के झगड़ों में जो कोई भी अनुभव करने वाला हो, वही साक्षी किया जा सकता है।।६९।।मकान के भीतर आदि स्थानोंमें ऊपर लिखे साक्ष्य के न होने पर स्त्री,बालक, वृद्ध, शिष्य, बन्धु और नौकर चाकर को भी साक्षी करे।।७०।।

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा । जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ।।७१।। साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च । वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः।।७२।।

अर्थ—बाल, वृद्ध, आतुर और चलचित्त लोग साक्ष्य में झूठ बोलें तो उन की वाणी स्थिर नहीं, ऐसा जाने ।। ७१ ।। संपूर्ण साहसों में (अर्थात् डांका, मकान जलाना इत्यादि) चोरी, परस्त्रीसंग, गाली और मार पीट, में साक्षियों की परीक्षा न करे (अर्थात् ६१ से ६८ श्लोक तक जिस प्रकार के साक्षी कहे हैं, वैसों ही की आवश्यकता नहीं) ।। ७२ ।।

बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः। समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ।।७३।। समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव

सिद्धयति । तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते॥७४॥

अर्थ—परस्पर विरुद्ध साक्षियों के कहने में राजा जिस बात को बहुत कहें, उस को ग्रहण करे। और विरुद्ध कहने वाले साक्षी जहां संख्या में समान हों, वहां अधिक गुणवालों का। और यदि गुण वाले विरुद्ध कहें, तो वहां द्विजोत्तम=ब्राह्मणोंका प्रमाण करे॥७३॥सामने देखनेसे और सुनने से भी साक्ष्य सिद्ध होता है। उस में सच बोलने वाला साक्षी धर्म अर्थ से नहीं हारता (इस लिये असत्य न कहे) ॥ ७४॥

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि । अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥७५॥ यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि किञ्चन । पृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—आर्यों की सभा में देखे सुने से विरुद्ध कहने वाला साक्षी अधोमुख नरक (जेल) में जाता है और मर कर भी स्वर्ग से हीन होता है ॥७५॥ जिस मुकद्दमे में न भी कहा हुवा हो (कि तुम इस में साक्षी हो) उस में भी जो कुछ देखे और सुने,उस को पूंछने पर जैसादेखे सुने, वैसा ही कहे ॥७६॥

एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद्बह्व्यः शुच्योऽपि न स्त्रियः। स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः॥७७॥स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम्। अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम्॥७८॥

अर्थ—एक ही साक्षी लोभादि रहित हो तो ठीक है, परन्तु स्त्रियां बहुत और पवित्र भी होवें तो भी नहीं क्योंकि स्त्री की बुद्धि स्थिर नहीं होती। और दोषों से युक्त अन्य लोगों को भी साक्षी न करे ॥ ७७ ॥ साक्षी स्वभाव से (अर्थात् भयादि से रहित होकर) जो कहे, वह व्यवहार के निर्णय में ग्राह्य है। और इस से विपरीत (अर्थात् भय लोभादि से युक्त हुवे) जो विरुद्ध वाद कहें सो व्यवहार के निर्णयार्थ निरर्थक है ॥ ७८ ॥

सभान्तःसाक्षिणःप्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ। प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनानेन सान्त्वयन् ॥ ७९ ॥ यद्द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिन् चेष्टितं मिथः। तद्ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता॥८०॥

अर्थ–सभा के बीच प्राप्त हुवे साक्षियों से अर्थी और प्रत्यर्थी के सामने प्राड्विवाक(वकील आदि) धैर्य देकर आगे कहे प्रकारसे पूंछे।।७९।। इन दोनों (मुद्दई मुद्दाइलह) ने आपस में इस काम में जो कुछ किया हो,उसको तुम जो कुछ जानते हो,सो सचाई से कहो क्योंकि तुम्हारी इस में गवाही है ।।८०।।

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ॥ इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥८१॥ साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैर्बद्ध्यते वारुणैर्भृशम् । विवशःशतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥ ८२॥

अर्थ–साक्षी,साक्ष्य कर्म में सच बोलता हुवा उत्कृष्ट ब्रह्मादि लोकों और इस लोक में उत्तम कीर्ति को प्राप्त होता है। क्योंकि यह सत्यवाणी ब्रह्म=वेद से पूजी हुई है ।।८१।। क्योंकि साक्ष्य में असत्य कहने वाला वरुण के पाशों से परतन्त्र हुवा शत जन्म पर्यन्त अत्यन्त पीडित होता है । (अर्थात् जलोदरादि से पीडित होता है) इस कारण सच्चा साक्ष्य (गवाही) दे ।। ८२ ।।

(८२ वें से आगे ३ श्लोक अधिक भी पाये जाते हैं । जिन में से पहला और तीसरा एक २ पुस्तक में, और दूसरा तीन पुस्तकों में मिलता है :–

[ब्राह्मणो वै मनुष्याणामादित्यस्तेजसां दिवि । शिरो वा सर्वगात्राणां धर्माणां सत्यमुत्तमम् ॥१॥ नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् । साक्षिधर्मे विशेषेण तस्मात्सत्यं विशिष्यते ॥ २ ॥ एकमेवाऽद्वितीयं तु प्रब्रुवन्नावबुध्यते ।सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ३ ॥]

(जैसे) मनुष्यों में ब्राह्मण, आकाश के तारागणों में सूर्य और अन्य सब अङ्गों में शिर, (ऐसा ही) धर्मों में सत्य उत्तम है ॥ १ ।। सत्य से बढ के धर्म नहीं है,असत्यसे बढ कर पाप नहीं । विशेष कर साक्षी के धर्म में । इस कारण सत्य उत्तम है ॥ २।। जो एक सत्य ही कहता है, दूसरी बात नहीं कहता, वह भूलता नहीं । सत्य स्वर्ग की सीढी है, जैसे समुद्र में नौका ।।३।।) ।।८२।।

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते । तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥८३॥ आत्मैव ह्यात्मनःसाक्षी गतिरात्मा तथात्मनः । मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥८४॥

अर्थ–सत्य से साक्षी पवित्र हो जाता है और सत्यभाषण से धर्म बढ़ता है। इस लिये सब वर्णों के साक्षियों को सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ८३ ॥ (शुभ और अशुभ कर्मों में) आत्मा ही अपना साक्षी है और आप ही अपनी गति (शरण) है। इस लिये मनुष्यों के इस उत्तम साक्षी अपने आत्मा का (झूठ साक्ष्य से) अवमान मत कर ॥ ८४ ॥

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः। तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥ ८५॥ द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः। रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥ ८६ ॥

अर्थ–पाप करने वाले मानते हैं कि हम को कोई देखता ही नहीं, परन्तु उन को देवता (जो अगले श्लोक में गिनाये हैं) देखते हैं और अपने ही शरीर का भीतर वाला पुरुष देखता है ॥८५॥ आकाश, भूमि, जल, हृदय, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, दोनों सन्ध्या और धर्म; ये सब प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों को जानते हैं। (इस लिये साक्षी असत्य न बोले॥ इन जड़ पदार्थों का अधिष्ठातृदेव (परमात्मा) ज्ञाता समझो। प्रपञ्चपूर्वक कथन प्रभावार्थ है)॥८६॥

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्। उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन् ॥८७॥ ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम्। गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः॥८८॥

अर्थ–देवता और ब्राह्मण के समीप में पवित्र द्विजातियों को पूर्वमुख वा उत्तरमुख कराके आप शुद्ध स्वस्थचित्त हुआ अभियोक्ता, सबेरे के समय सच सच वृत्तान्त पूछे ॥८७॥ "कहो" ऐसा ब्राह्मण से पूछे। और "सच बोलो" ऐसे क्षत्रिय से पूछे। और "गाय, बीज, सुवर्ण; के चुराने का पातक तुमको होगा जो झूठ बोलोगे तो" ऐसा कह कर वैश्यों से पूछे। "सब पातक तुम को लगेंगे जो झूठ बोलोगे तो" ऐसा कह कर शूद्र से पूछे ॥८८॥

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः। मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥ ८९ ॥ जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्पुण्यं भद्र त्वया कृतम्। तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥ ९० ॥

अर्थ—ब्राह्मण के मारने वाले और स्त्रीघाती तथा बालघाती और मित्रद्रोही और कृतघ्न को जो जो लोक प्राप्त होने कहे हैं, वे ही झूंठ बोलने वाले को हों ॥८९॥ और हे भद्र! तूने आयु भर जो कुछ पुण्य किया है, वह सब तेरा पुण्य कुत्ते पावें, जो तू इस विषय में अन्यथा कहे ॥९०॥

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे । नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥९१॥ यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः। तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥ ९२॥

अर्थ—हे कल्याण! "मैं एकला ही हूं" ऐसा यदि अपने को मानता है, तौ तेरे हृदय में मुनि (परमात्मा) नित्य पाप पुण्यों का देखने वाला तौ स्थित है? ॥ ९१ ॥ वैवस्वत यम (परमात्मा) जो यह तेरे हृदय में स्थित है, उस के साथ यदि विवाद नहीं है, तौ (पाप के प्रायश्चित्त वा दण्ड भोगार्थ) गङ्गा और कुरुदेशों को मत जा ॥ ऐसा जान पड़ता है कि आर्य राजों ने गङ्गातट और कुरुदेशों में विकर्मफल भोगने के स्थान विशेष नियत कर रक्खे थे ॥ और एक प्रकार से तौ यह श्लोक पीछे का ही जान पड़ता है क्योंकि गङ्गा को भगीरथ ने प्रकट किया, मनु के समय तौ यह गङ्गा का प्रवाह ही न था)॥९२॥

नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः। अन्धःशत्रुकुलं गच्छेद्यःसाक्ष्यमनृतं वदेत् ॥९३॥ अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत्। यःप्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टःसन् धर्मनिश्चये ॥९४॥

अर्थ—जो झूंठी गवाही देवे वह कपड़े से नङ्गा, सिर मुंडा, कपाल हाथ में लिये, भिखमंगा, क्षुधा पिपासा से पीडित, अन्धा होकर शत्रुकुल में गमन करे ॥९३॥ जो धर्मनिर्णय के लिये पूंछा हुआ, असत्य बोले, वह पापी अधोमुख बड़े अन्धकाररूप नरक में जावे ॥९४॥

अन्धो मत्स्यानिवाश्नाति स नरःकण्टकैःसह । योभाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥९५॥ यस्य विद्वान् हि वदतःक्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते। तस्मान्न देवाःश्रेयांसं लोकेऽन्यंपुरुषं विदुः ॥९६॥

अर्थ—जो सभा में जाकर विना देखी बातको झूंठ बनाकर बोलता है, वह अन्धा होकर कांटों सहित मछलीसी खाता है॥९५॥ जिस के बोलते हुवे, चेतन जीवात्मा शङ्का नहीं करता, उस से बढ़कर देवता दूसरे को अच्छा नहीं मानते॥९६॥

यावतो बान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन्। तावतःसंख्यया तस्मिन् शृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥९७॥पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते। शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते॥९८॥

अर्थ–हे सौम्य! (साक्षिन्!) जिस साक्ष्य में झूंठ बोलने वाला जितने बान्धवों को मारने का फल पाता है उस में क्रमशः उतनों को गिनती से सुन॥ (देखिये बड़ों से भी भूल होती हैं। इस श्लोक में "सौम्य!" यह संबोधन स्पष्ट प्रकरणानुसार गवाह (साक्षी) के लिये है, परन्तु प्राचीन भाष्यकार मेधातिथि कहते हैं कि यह संबोधन मनु ने भृगु को दिया है ॥ एक पुस्तक में इस से आगे १ प्रक्षिप्त श्लोक भी मिलता है परन्तु हमने व्यर्थसा समझ कर उद्धृत नहीं किया)॥९७॥पशु के मामले में झूंठ बोलने से पांच बान्धवों के मारने का फल पाता है। गौके विषयमें दश। और घोड़े के विषयमें सौ। और पुरुष के मामलेमें हज़ार बान्धवों के हनन का पातक प्राप्त होता है॥९८॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदीः ॥९९॥

अर्थ–सुवर्ण के लिये असत्य बोलने वाला,उत्पन्न हुवों और न हुवों (होने वाले पुत्रादि) के मारने के फल को पाता है। और भूमि के लिये असत्य बोलने वाला संपूर्ण प्राणियों के हनन का फल पाता है, इस लिये तू भूमि के लिये भी झूंठ मत बोल! ॥९९॥ (९९ वें से आगे नन्दन के टीके वाले पुस्तक में डेढ श्लोक यह अधिक प्रक्षिप्त हुवा है :–

[पशुवत्क्षौद्रघृतयोर्यच्चान्यत्पशुसंभवम्। गोवद्वत्सहिरण्येषु धान्यपुष्पफलेषु च। अश्ववत्सर्वयानेषुखरोष्ट्रवतरादिषु]

शहद और घृत के विषय में झूंठी गवाही देने वाले को पशुविषयक पातक के समान पातक लगता है। और अन्य भी जो कुछ पशु से उत्पन्न (दुग्धादि) पदार्थ हैं, उन में भी॥ बछड़ों वा सुवर्ण के विषय में गौ के तुल्य, धान्य पुष्प और फलों के विषय में भी॥ गधा ऊंट खतरादि सब सवारियों के विषय में झूंठे गवाह को घोड़े के विषय में कहे असत्यजनित पातक के तुल्य पातक लगता है)॥ ९९ ॥

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने ।
अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥ १००॥

अर्थ—तालाब बावड़ी इत्यादि जलाशय के विषय में, और स्त्रियों के मैथुनादि विषयों में और मौक्तिकादि जलोत्पन्न रत्नों के विषय में तथा हीरा आदि पत्थरों के विषय में झूंठ बोलना; इन सब का भूमि के पातक समान पातक है।।१००।।(१०० वें के आगे भी ५ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक मिलता है:—

[पशुवत्क्षौद्रघृतयोर्यानेषु च तथाश्ववत् ।
गोवद्रजतवस्त्रेषु धान्ये ब्राह्मणवद्विधिः]

शहद और घृत में पशु के तुल्य, सवारियों में घोड़े के तुल्य, चान्दी और वस्त्रों में गौ के तुल्य और धान्य के विषय में असत्य गवाही देने वाले को ब्राह्मणविषयक पाप के समान पाप होता है) ॥१००॥

एतान् दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे । यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥१०१॥ गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् । प्रैष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ—तू इन सब झूंठ बोलने में पातकों को समझ कर, जैसा देखा और सुना है वही सब शीघ्र कह।। १०१।।गुवालिये और बनिये और लुहार बढ़ई आदि के काम वा रसोई करने वाले और गाने बजाने वाले और हलकारे की नौकरी करने वाले और ब्याज से जीने वाले ब्राह्मणोंसे भी (राजा)शूद्र के समान प्रश्न करे ॥१०२।। (१०२से आगे भी एक पुस्तकमें यह श्लोक अधिक है:—

[येप्यतीताः स्वधर्मेभ्यः परपिण्डोपजीविनः ।
द्विजत्वमभिकाङ्क्षन्ति तांश्च शूद्रानिवाचरेत्]

"जो लोग अपने वर्णधर्मों को छोड़ कर पराई जीविका करने लगे हों और द्विज होने की इच्छा करें, उन को राजा शूद्र के तुल्य सम्बोधन करे।। इसी तात्पर्य का श्लोक एक और पुस्तक में इसी जगह मिलता है । यथाः—

[येऽप्यपेताः स्वकर्मभ्यः परकर्मोपजीविनः ।
द्विजा धर्मं विजानन्तस्तांश्च शूद्रवदाचरेत्] ॥१०२॥

" तद्वदन् धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः। न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद्देवीं वाचं वदन्ति ताम् ॥ १०३ ॥ शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः। तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते॥१०४॥"

"अर्थ—जो मनुष्य जानता हुआ भी धर्म के व्यवहारों में अन्यथा कहने वाला है, वह स्वर्ग लोक से भ्रष्ट नहीं होता क्योंकि उस (असत्य) को देववाणी कहते हैं ॥१०३॥ जिस मुकद्दमे में शूद्र वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मणोंका सचबोलने से वध हो, वहां झूठ बोलना चाहिये,क्योंकि वह सच से अधिक है ॥१०४॥"

" वाग्दैवत्यैश्चचरुभिर्यजेरंस्तेसरस्वतीम् । अनृतस्यैनसस्तस्यकुर्वाणानिष्कृतिंपराम् ॥ १०५॥ कूष्माण्डैर्वापिजुहुयाद्घृतमग्नौयथाविधि।उदित्यृचावावारुण्यातृचेनाब्दैवतेनवा॥१०६॥"

अर्थ—उस झूठ बोलने के पाप का अत्यन्त प्रायश्चित्त करते हुवे (वे साक्षी) वाग्देवता सम्बन्धी चरु से सरस्वती का यजन करें ॥ १०५ ॥ अथवा कूष्माण्डों (यद्देवादेवहेडनम् इत्यादि यजु० २० । १४ मन्त्रों) से यथाविधि घृत को अग्नि में हवन करे। वा"उदुत्तमं वरुणपाशम्०" यजु० १२।१२ इस वरुण देवता वाले मन्त्र से वा (आपोहिष्ठा० यजुः ११ । ५०) इन जलदेवता की ३ ऋचाओं से पूर्वोक्त आहुति करें ॥१०६॥

(१०३ से १०६ तक ४ श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं । १०३ में असत्य साक्ष्य से भी धर्म निमित्त बोलने में दोष नहीं बताया, फिर १०४ में उस धर्मनिमित्त को स्पष्ट किया है कि ब्राह्मणादि चारों वर्णों को सत्य साक्ष्य देने से वधदण्ड होता देखे तो झूठ बोल दे । वह झूठ, सच से बढ़ कर है। १०५। १०६ में उस झूठ बोलने के पाप का प्रायश्चित्त है। धर्मशास्त्र का सिद्धान्त है कि अन्यायोपार्जित धनादि के व्यय से पुण्य कार्य करने में पुण्य नहीं है,जैसा कि पूर्व मनु ही कहते आये हैं। फिर चारों वर्ण किसी को मार डालें और राजा के सामने कोई सच्ची गवाही ही न दे तो कदाचित् चाण्डालादि ही शेष बचे बधदण्ड पा सकें, अन्य तो ४ वर्ण छूट ही गये । फिर यह भी विचारना चाहिये कि यदि यह झूठ सच से बढ़ कर है तो पाप के न होते हुवे प्रायश्चित्त किस बात का कहा है? इस विषय में मेधातिथि ने १००

श्लोकों के बराबर उन्हीं चार श्लोकों पर भाष्य बढ़ा कर समाधान का उद्योग किया है, परन्तु उस समाधान से सन्तोष नहीं होता) ।।१०६।।

त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः । तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः ॥१०७॥ यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः। रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्योदमं च सः ॥१०८॥

अर्थ--व्याधि आदि विघ्नरहित मनुष्य लेन देन के विषय में डेढ़ महीने तक गवाही न देवे तो महाजन का कुल ऋण (रुपया) देवे और उस रुपये का दशवां भाग राजा को दण्ड देवे ।।१०७।। जिस गवाही देकर गये हुवे साक्षी के सात दिन के भीतर रोग, अग्नि, पुत्रादि का मरना; होजायं तो वह महाजन को रुपया और राजा को दण्ड देने योग्य है ।।१०८।।

(सब भाष्यकारों ने ऐसे साक्षी को इस हेतु से झूंठा माना है कि दैवी आपत्तियां उस की झूंठी गवाही का प्रमाण हैं । सर्वज्ञनारायण भाष्यकार ने इतना अधिक लिखा है कि (तत्प्रागनुपजातनिमित्तकृतं ग्राह्यम्) अर्थात् "जब कि रोगोत्पत्ति, गृहादि में अग्नि लगने और पुत्रादि की मृत्यु का हेतु गवाही देने से पहला न हो, तब उसे झूंठा गवाह समझना चाहिये" परन्तु यह भी युक्ति दुर्बल जान पड़ती है । और प्रायः रोगादि के हेतु बहुत प्राचीन होते हैं और जाने नहीं जा सकते, उस दशा में बड़ा अन्याय होगा । तथा वैद्यादि के भरोसे बड़ा कार्य्य जापड़ेगा, और अग्नि लगने के हेतु जानने में तथा पुत्रादि की मृत्यु का हेतु जानने में भी असंख्य कठिनाई हैं, और फिर भी पूरा निश्चय होना कठिन ही है। इत्यादि कारणों से हमारी संमति में तो राजद्वारादि लौकिक निर्णयों में दैवानुमान उचित नहीं है) ।।१०८।।

असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः। अविन्दन्तत्वतःसत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥ १०९ ॥ "महर्षिभिश्चदेवैश्चकार्यार्थं शपथाःकृताः । वसिष्ठश्चापिशपथंशेपेवैयवनेनृपे ॥ ११० ॥"

अर्थ--बे गवाही के मुकद्दमों में आपस में झगड़ने वाले दोनों के सत्य वृत्तान्त ज्ञात न होने में शपथ (हलफ़) से भी निर्णय कर लेवे ।।१०९।। "महर्षि और देवतों ने कार्य के लिये शपथें कीं, वसिष्ठ जी ने भी यवन राजा के

पास शपथ किया था ॥११०॥" (कहां वसिष्ठ ! कहां यवन ! और कहां मनु ! यह सब पश्चात् की रचना स्पष्ट है) ॥११०॥

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः। वृथा हि शपथं कुर्वन् प्रेत्य चेह च नश्यति॥ १११॥ "कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने। ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ ११२ ॥"

अर्थ—थोड़े अर्थ में भी पण्डित मिथ्या शपथ न करे। क्योंकि वृथा शपथ करने वाला इस लोक तथा परलोक में नाश को प्राप्त होता है ॥१११॥ "सुरत लाभ को कामिनी के विषय में और विवाहों के विषय में और गौवों के चारे और इन्धन और ब्राह्मण की रक्षा के लिये, वृथा शपथ करने में पातक नहीं है ॥११२॥" (यह अपवाद भी अन्यायप्रवर्त्तक, असत्यपोषक तथा धर्मशास्त्र के सत्यसिद्धान्त का बाधक है। और "ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ, ब्राह्मणस्यविपत्तौ, ब्राह्मणात्रपत्तौ। ये ३ पाठ भिन्न २ प्रकार से मिलते हैं) ॥११२॥

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः। गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥११३॥ "अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत्। पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥११४॥"

अर्थ—ब्राह्मण को सत्य की शपथ (क़सम) करावे। और क्षत्रिय को वाहन तथा आयुध (हथियार) की। और वैश्य को गाय, बीज और सोने की। और शूद्र को सम्पूर्ण पातकों से शपथ (क़सम) करावे ॥११३॥ "जलते लोहे के गोले को इस (शूद्र साक्षी) से उठवावे और पानी में इस को डुबावे और पुत्र स्त्री के सिरपर अलग २ इस से हाथ धरवावे ॥११४॥"

"यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च। न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥ ११५॥ वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा। नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पृशः॥ ११६॥"

"अर्थ—जिसको जलती आग नहीं जलाती और पानी जिस को न डुबावें और जिस को पुत्रादि के वियोगजनित बड़ी पीड़ा जल्दी नहीं प्राप्त होती है, वह शपथ में सच्चा जानना चाहिये ॥ ११५ ॥ क्योंकि पूर्वकाल में वत्स ऋषि को छोटे भ्राता ने कहा (कि तू शूद्र का लड़का है, ब्राह्मण का नहीं)

इस कहने से उसने जगत् के शुभाशुभ जानने वाले अग्नि में प्रवेश किया, (सो सत्य के कारण) अग्नि ने उस का एक रोम भी नहीं जलाया ॥११६॥„

(११४। ११५। ११६ भी असंभवादि दोषों से चिन्त्य होने के अतिरिक्त वत्स ऋषि के इतिहास से अत्यन्त स्पष्ट है कि पीछे से मिलाये गये। इस प्रकरण में ८२ से आगे ३, ९९ से आगे ११, १०० वें से आगे १, १०२ से आगे १, और दूसरे पुस्तक में १, सब ७॥ श्लोक तो स्पष्ट ही सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते, इस पर इन इतिहासों से और भी निश्चित होता है कि हमारे प्रक्षिप्त बताये हुवे श्लोक जो सब पुस्तकों में अब मिल रहे हैं, वे भी अवश्य पीछे से ही मिले हैं) ॥ ११६ ॥

यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्। तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥११७॥ लोभान्मोहाद्भयान्मैत्र्यात्कामात्क्रोधात्तथैव च। अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥११८॥

अर्थ—जिस मुक़द्दमे में गवाहों ने झूंठी गवाही दी, ऐसा निश्चय हो, उस मुक़द्दमे को फिर से दोहरावे और जो दण्डादि कर चुका हो, उसे नहीं किया समझे (फिर से विचार हो) ॥११७॥ लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान तथा लड़कपन से गवाही झूंठी कही जाती है ॥११८॥

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत्। तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९॥ लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम्। भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥१२०॥

अर्थ—इन्हीं लोभादिकों में किसी कारण मुक़द्दमे में जो झूंठी गवाही दे, उस के दण्डविशेष क्रम से आगे कहता हूं ॥ ११९ ॥ लोभ से मिथ्या गवाही देने वाले पर "हज़ार" पण (१५॥=) दण्ड हो। और मोह से कहने वाले को "प्रथम साहस" (३॥।=) दण्ड देवे। और भय से कहने वाले को "दो मध्यम साहस" (१५॥=) दण्ड देवे। और मैत्री से झूंठ कहने वाले को "प्रथम साहस का चतुर्गुण" (१५॥=) दण्ड देवे ॥१२०॥ (" " चिन्हित परिमाणसंज्ञा आगे १३१ से १३८ तक संज्ञाप्रकरण में कहे अनुसार जानिये)॥१२०॥

कामादृशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्। अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे

बालिश्याच्छतमेव तु ॥१२१॥एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीषिभिः। धर्मस्याऽव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च॥१२२॥

अर्थ—कामनिमित्त असत्य गवाही दे तौ "प्रथम साहस दशगुण" (४६॥=) दण्ड पावे और क्रोध से झूंठी गवाही दे तौ "तिगुना उत्तम साहस (४६॥=) दण्ड पावे और अज्ञान से झूंठी गवाही दे तौ सौ पण १॥-) दण्ड पावे॥(हमने पण को एक पैसा कल्पित करके ये रक़म लिखी हैं परन्तु इस में कुछ अन्तर है। आज कल का सिक्का उस से ठीक नहीं मिलता) ।।१२१।। सत्यरूप धर्म के लोप न होने और असत्यरूप अधर्म के दूर होने को ये झूंठे साक्षी को दण्ड कहे हैं॥१२२॥

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणाँस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः।प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत्॥१२३॥दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्। त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥१२४॥

अर्थ—धार्मिक राजा, झूंठी गवाही देने वाले तीनों वर्णों को दण्ड दे कर देश के बाहर निकाल देवे और ब्राह्मण को केवल निकाल दे ॥१२३॥ जो दण्ड के १० स्थान स्वायंभुव मनुने कहे हैं,वे क्षत्रियादि तीन वर्णोंको हैं। और ब्राह्मण को विना चोट (मारपीट) के केवल निकाल देवे ॥१२७॥ (मनुरब्रवीत्० से भ्रम तो पड़ जाता है कि यह अन्यकृत है। परन्तु अपने विषय में भी इस प्रकार प्रयोग की शैली देखी जाती है) ॥१२४॥

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्। चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च॥१२५॥ अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः। सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥१२६ ॥

अर्थ—लिङ्ग, उदर, जीभ, हाथ, पांचवें पैर और आंख, नाक, कान, धन और देह,ये (१०)दण्ड के स्थान हैं ॥१२५॥ प्रकरण (सिलसिले) को समझ कर और देशकाल को ठीक २ जान कर और (धन शरीरादि) सामर्थ्य तथा अपराध को देख कर, दण्ड के योग्य को दण्ड देवे ॥१२६॥

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनम्। अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥१२७॥ अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥१२८॥

अर्थ—अधर्म से दण्ड देना लोगों में इस जन्म में यश और आगे को कीर्त्ति का नाश करने वाला है और परलोक में स्वर्ग का अहित करने वाला है। इस कारण उस को न करे (अर्थात् इन्साफ़ से सज़ा देवे) ।। १२७ ॥ अदण्डनीयों को दण्ड देता हुआ और दण्डनीयों को छोड़ देने वाला राजा बड़े अपयश को पाता और नरक में भी जाता है ।। १२८ ।।

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् । तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्॥१२९॥वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् । तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥१३०॥

अर्थ—प्रथम वाग्दण्ड देवे (अर्थात् यह कहे कि तूने यह काम अच्छा नहीं किया, उस कहने पर न माने तो) दूसरी बार धिक् दण्ड देवे (अर्थात् लानत है तेरे जीने पर,ऐसा कहे) (यदि इस पर भी न माने तो) तीसरी बार धनदण्ड (जुर्माना) करे । (उस पर भी न माने तो) वधदण्ड= अपराधानुसार देहदण्ड देवे ॥१२९॥ यदि देहदण्ड से इन को वश में न कर सके तो वाग्दण्डादि चारों दण्ड करे ॥१३०॥

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि । ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥१३१॥ जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः । प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥१३२॥

अर्थ—तांबा, चांदी, सोना, इन की जो (पणादि) संज्ञा लोगों के व्यवहार के लिये पृथिवी में प्रसिद्ध हैं, उन सब को (दण्डप्रकरणोपयोगी होने से) आगे कहता हूं ॥ १३१ ॥ मकान के रोशनदान में सूर्य की धूप में जो बारीक २ छोटे २ रज (ज़र्रे) दीखते हैं, इस नापे को प्रमाणों में पहिला (प्रमाण) " त्रसरेणु " कहते हैं ॥ १३२ ॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः। ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥१३३॥ सर्षपाःषट्यवोमध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम्। पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश॥१३४॥

अर्थ—आठ त्रसरेणुकी एक"लिक्षा"और तीन लिक्षा की एक"राजसर्षप"= राई और तीन राई का एक "श्वेत सरसों" जानिये ॥ १३३ ॥ और छः सरसों

का एक मझला "जव" और तीन जवका एक "कृष्णल" और पांच कृष्णल का एक "माष" और सोलह माषों का एक "सुवर्ण" होता है ॥ १३४ ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश । द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः॥१३५॥ ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः । कार्षापणं तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः॥१३६॥

अर्थ–चार सुवर्ण का "पल"। दश पल का "धरण"। बराबर के दो कृष्णल को "रौप्यमाषक" (चांदी का माषक) जाने॥१३५॥ सोलह माषक का "रौप्य धरण" और चांदी का "पुराण" भी होताहै। तांबे के कर्ष भर के पण (पैसे) "कार्षापण" को "ताम्रिक, कार्षिक, पण" जाने॥१३६॥

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः। चतुःसौवर्णिकोनिष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः॥१३७॥पणानां द्वे शते साध प्रथमः साहसः स्मृतः । मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः॥१३८॥

अर्थ–दश धरणका १ चान्दी का "शतमान" जाने और प्रमाणसे चार सुवर्ण को १ "निष्क" जाने॥१३७॥ दो सौ पच्चास पणोंका "प्रथम साहस" कहा है। और पांच सौ पणोंका "मध्यम, साहस" तथा हज़ार पणों का "उत्तम, साहस जाने॥१३८॥

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति। अपह्नवे तद्द्विगुणं तन्मनोरनुशासनम्॥१३९॥ वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम् । अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥१४०॥

अर्थ–क़रज़दार सभा में कहे कि मुझे महाजन का रुपया देना है तो पांच प्रति सैकड़ा दण्ड योग्य है। और नकार करे (परन्तु सभा में फिर प्रमाणित हो) तो दश प्रति सैंकड़ा दण्ड देने योग्य है। इस प्रकार मुझ मनु की आज्ञा है॥१३९॥ धन को बढ़ाने वाली वसिष्ठोक्त वृद्धि (सूद) अस्सीवां भाग सौ पर व्याज खाने वाला मासिक ग्रहण करे (अर्थात् सवा रुपया सैंकड़ा व्याज ले ॥ १३९ । १४० में भी नवीनता की झलक तो है) ॥१४०॥

द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन् । द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्बिषी॥१४१॥द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च

शतं समम्। मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥१४२॥

अर्थ—सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण कर (बड़ों का नाम ले) दो रुपया सैंकड़ा व्याज ग्रहण करे। दो रुपया सैंकड़ा व्याज ग्रहण करने वाला उस धन से पापी नहीं होता ॥१४१॥ ब्राह्मणादि वर्णों के क्रम से दो,तीन,चार,पांच, रुपये सैंकड़ा माहवारी व्याज ग्रहण करे ॥१४२॥

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात्। न चाधेःकालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः॥१४३॥न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्। मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत्॥१४४॥

अर्थ—भूमि गोधनादिक भोगयुक्त पदार्थ बन्धक (गिरवी रक्खे) तो पूर्वोक्त व्याज न ग्रहण करे और बहुत दिन होने पर भी उस के अन्य को देदेने या बेचने का धनी को अधिकार नहीं है ॥ १४३ ॥ आधि (रहन की चीज़) को ज़बरदस्ती भोग न करे। और यदि भोग करे तो व्याज छोड़ देवे या मूल्यसे उस(वस्तुस्वामी)को प्रसन्न करे(अर्थात् उन वस्त्रालङ्कारादि को भोगने से जो घाटा हो गया है उस का मूल्य देकर प्रसन्न करे)नहीं तो बन्धकचोर कहलावे॥१४४॥

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः। अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ॥१४५॥संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन। धेनुरुष्ट्रोवहन्नश्वोयश्च दम्यःप्रयुज्यते॥१४६॥

अर्थ—आधि=बन्धक (गिरवी) और उपनिधि (अमानत) प्रीतिपूर्वक उपभोग के लिये दी वस्तु,इन दोनों में काल बीतने से स्वत्व नष्ट नहीं होता। बहुत दिन की भी रक्खी को जब स्वामी चाहे तब ले सकता है ॥१४५॥ प्रीतिपूर्वक जो उपभोग किये जाते हैं वे गाय, ऊंट, घोड़ा,बैल आदि अपने कामों में लाये जावें तो इन पर का स्वत्व नहीं जाता रहता ॥ १४६ ॥

यत्किञ्चिद्दशवर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी। भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥१४७॥अजडश्चेदपौगण्डोविषये चास्य भुज्यते। भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद् द्रव्यमर्हति ॥ १४८ ॥

अर्थ—यदि किसी वस्तु को अन्य लोग दश वर्ष तक वर्त्तते रहें और उस

का स्वामी चुप चाप देखता रहे तौ फिर वह उसे नहीं पा सकता ।।१४७।। जो (धनस्वामी) पागल न हो और न पौगण्ड (बालक) हो और उसी के सामने धन को परपुरुष भोगता रहै, तौ अदालत से उस का अधिकार नहीं रहता किन्तु भोक्ता ही उस धन को पाने योग्य है ।।१४८।।

आधिःसीमा बालधनं निक्षेपोपनिधी स्त्रियः । राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥१४९॥ यः स्वामिनानऽनुज्ञातमाधिं भुङ्क्ते विचक्षणः । तेनार्धवृद्धिर्भोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥१५०॥

अर्थ—बन्धक (गिरवी), सीमा, बालधन, धरोहर, प्रीतिपूर्वक भोगार्थ दिया धन, स्त्री और राजा का धन, तथा श्रोत्रिय का धन; इनको (दश वर्ष) भोगने से भी भोग करने वाला नहीं पा सकता (इस से आगे १ पुस्तक में एक श्लोक अधिक है) ।।१४९।। जो चालाक मनुष्य आधि (गिरवी) को विना स्वामी के कहे भोगता है, उसके लिये उसे आधा ही सूद लेना चाहिये ।। १५० ।।

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता । धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥१५१॥ कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिद्ध्यति । कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥ १५२ ॥

अर्थ—रुपयों का सूद एक बार लेने पर मूल धन से दूने से अधिक नहीं हो सकता और धान्य, वृक्ष के मूल, फल, ऊन और वाहन, पांचगुने से अधिक नहीं हो सकता ।। १५१ ।। ठहराये से अधिक व्याज शास्त्र के विपरीत नहीं मिल सकता है । व्याज का मार्ग इसी को कहा है कि (अधिक से अधिक) पांच रुपये सैंकड़ा लिया जा सकता है ।।१५२।।

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत् । चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥१५३॥ ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छे-त्पुनः क्रियाम् । स दत्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥१५४॥

अर्थ—एक वर्ष होजाने पर जो माहवारी सूद ठहरा हो, ग्रहण करले, अधिक समय न बढ़ावे, और सूद पर सूद और माहवारी सूद और सूद के दबाव से ऋण कराके उस पर सूद और शरीर से कोई काम सूद में; न ले ।। १५३ ।। जो ऋण देने को असमर्थ है और फिरसे हिसाब करना चाहे,

वह चढ़ा हुआ सूद देकर दूसरा करण(काग़ज़)तमस्सुक कर देवे ।।१५४।।

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत्। यावती संभवेद्वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥१५५॥ चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः। अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥१५६॥

अर्थ–यदि सूद भी न दे सके तो सूद के धन को मूल में जोड़ देवे। और फिर जितनी संख्या हो उतनी देने योग्य है ।। १५५ ।। चक्रवृद्धि का आश्रय करने वाला महाजन देशकाल से नियमित हुआ ही फल पावे, किन्तु नियत देश वा काल को उल्लङ्घित करने वाला फल को नहीं प्राप्त हो ।।१५६।।

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः। स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥१५७॥ यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः। अदर्शयन् स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥१५८॥

अर्थ–समुद्रपथ के यान में कुशल और देश काल अर्थ के जानने वाले(अर्थात् इतनी दूर, इतनी दिन तक, इस काम के करने में, यह लाभ होता है,इसको जानने वाले महाजन) जिस वृद्धि का स्थापन करते हैं, वही उस में प्रमाण है ।।१५७।। जो मनुष्य जिसका हाज़िर करने के लिये प्रतिभू (ज़ामिन) हो, वह उसको सामने न करे तो अपने पास से उसका ऋण दे ।।१५८।।

प्रातिभाव्य वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत्। दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥१५९॥ दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिःस्यात्पूर्वचोदितः। दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत्॥ १६० ॥

अर्थ–प्रतिभू होने (ज़मानत) का धन और वृथादान तथा जुवे का रुपया, मद्य का रुपया और दण्डशुल्क का शेष; ये सब (पिता के मरने पर उस के बदले) पुत्र देने योग्य नहीं है ।। १५९ ।। सामने कर देने के प्रातिभाव्य (ज़मानत) में ही पूर्वोक्त विधि है (अर्थात् पिता की ज़मानत पिता ही देवे) और धन देने का प्रतिभू (ज़ामिन) मर जावे तो उसके वारिसों से भी दिलावे।। १६०।।

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम्। पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥ निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूःस्या-

दत्तधनः । स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्टइति स्थितिः ॥१६२॥

अर्थ—यदि अदाता प्रतिभू (जिसने देने की ज़मानत न की हो किन्तु अधमर्ण को सामने कर देना मात्र स्वीकार कियाहो) जिस की प्रतिज्ञा दाता ने जान भी रक्खी है (कि वह देने का प्रतिभू नहीं बना था) उस के मर जाने पश्चात् (उसके पुत्रादि दायादों से) दाता अपना ऋण किस हेतु से पानाचाहे? (किसी से भी नहीं) ॥ १६१ ॥ यदि प्रतिभू (ज़ामिन) को अधमर्ण रुपया सौंप गया हो इस लिये प्रतिभू के पास वह रुपया हो, तौ वह निरादिष्ट प्रतिभू (ज़ामिन) अपने पास से अवश्य उत्तमर्ण का ऋण देवे। यह निर्णय है। (यदिऐसी दशा में प्रतिभू मर जावे तौ उस के दायाद भी देनदार समझने चाहियें) ॥१६२॥

मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा । असम्बद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति॥१६३॥सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता। बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥१६४॥

अर्थ—मत्त, उन्मत्त, आर्त, परतन्त्र, बाल और वृद्धों का तथा पूर्वापर विरुद्ध किया हुवा व्यवहार (मुक़द्दमा) सिद्ध नहीं होता।।१६३।। आपस की भाषा (शर्त वा इक़रार) चाहे लिखा पढ़ी से वा ज़बानी ठहरी भी हो तौ भी यदि धर्म (क़ानून) से या परम्परा के रिवाज से विरुद्ध ठहरी हो तौ सच्ची नहीं मानी जाती ॥१६४॥

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् । यत्र वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत्॥१६५॥ग्रहीता यदि नष्टःस्यात्कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः। दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥१६६॥

अर्थ—छल से किये हुवे बन्धक (गिरवी), विक्रय, दान, प्रतिग्रह और निक्षेप=धरोहर भी जहां छल से देखे, वह सब लौटा देवे ॥ १६५ ॥ कुटुम्ब के लिये व्यय करने वाला ऋणी यदि मरजावे तौ उस के बान्धव विभाग किये हुवे वा न विभाग किये हुवे अपने धन में से ऋण देवें ॥१६६॥

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत्। स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत्॥१६७॥ बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम्। सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत्॥१६८॥

अर्थ—जो कोई अधीन (पुत्रादि) भी कुटुम्बके लिये स्वदेश वा विदेश में कुछ व्यवहार=लेन देन करले, तो उस का बड़ा (अधिष्ठाता) उसे न बिचलित करे (क़बूल ही करे) ॥ १६७ ॥ बलात्कार से दिया, बलात्कार से भोग किया और बलात्कार से जोकुछ लिखाया तथा बलात्कारसे कराये सब काम नहीं किये के समान मुझ मनु ने कहे हैं ॥ १६८ ॥

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम् । चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ्नृपः॥१६९॥ अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः। न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत्॥१७०॥

अर्थ—तीन दूसरे के अर्थ क्लेश पाते हैं—साक्षी, प्रतिभू तथा कुल । और चार दूसरे के कारण बढ़ते हैं—ब्राह्मण, धनी, बनिया और राजा ॥ १६९ ॥ क्षीण धन भी राजा लेने के अयोग्य धन को न ग्रहण करे और समृद्ध भी राजा उचित थोड़े धन को भी न छोड़े ॥१७०॥

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् । दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति॥१७१॥ स्वादानाद्वर्णसंसर्गात्त्वबलानां च रक्षणात् । बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते॥१७२॥

अर्थ—अग्राह्य के ग्रहण से तथा ग्राह्य के त्याग से राजा की दुर्बलता (ढील) प्रसिद्ध हो जाती है। इसी कारण वह इस लोक और परलोक में नष्ट होता है॥१७१॥ न्यायोचित धनके ग्रहण करनेसे और वर्णोंके नियम में रखने से और निर्बलों के संरक्षण से राजा को बल होता है । इसी से वह राजा इस लोक तथा परलोक में वृद्धि को पाता है ॥ १७२ ॥

तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये। वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः॥१७३॥ यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः । अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः॥१७४॥

अर्थ—इस लिये यमराज के तुल्य राजा जितक्रोध और जितेन्द्रिय हो कर अपने प्रिय अप्रिय को छोड़ कर, यमराज के से सब में समदृष्टि से वर्त्ते ॥ १७३ ॥ जो राजा अज्ञानवश अधर्म से व्यावहारिक कार्य करता है, उस दुष्टात्मा को थोड़े ही दिनों में शत्रु वश में करलेते हैं ॥१७४॥

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्मेण पश्यति । प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः॥ १७५॥ यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे। स राज्ञा तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्॥ १७६॥

अर्थ—जो राजा काम क्रोधों को छोड़कर धर्म से कार्यों को देखता है, उस राजा के प्रजा अनुकूल रहती हैं, जैसे समुद्र के नदियां ।। १७५।। जो पुरुष स्वतन्त्रतासे अपना रुपया वसूल करते हुवे धनी को राजा को (शिकायत की रीति से) सूचना करे, उस अधमर्ण से राजा वह रुपया और उसका चतुर्थांश दण्ड अधिक दिलवावे ।।१७६ ।।

कर्मणापि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः । समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः ॥ १७७॥ अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम्। साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत्॥ १७८॥

अर्थ—समान जाति वा हीन जाति(क़रज़दार, महाजन का रुपया न दे सके तो) काम करके पूरा कर देवे और उत्कृष्ट जाति धीरे धीरे रुपया दे देवे ।।१७७।। राजा दोनों झगड़ा करने वाले मनुष्यों के मुक़द्दमे काग़ज़ आदि और गवाहों से ऐसे बराबर न्याय को प्राप्त करे ।। १७८ ।।

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि । महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः॥ १७९॥योयथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः । स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥१८०॥

अर्थ—सत्कुल में उत्पन्न हुवे, सदाचारी, धर्मात्मा, सत्य भाषण करने वाले, बड़े पक्ष वाले, धनवान्, आर्य मनुष्य के पास बुद्धिमान् पुरुष धरोहर रक्खे ।।१७९।। जो मनुष्य जिस प्रकार जिस द्रव्य को जिस के हाथ रक्खे, उस को उसी प्रकार ग्रहण कराना योग्य है। जैसा देना, वैसा लेना ।।१८०।।

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति । स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ ॥१८१॥ साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः।अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः॥१८२॥

अर्थ—जो धरोहर रखने वाले की धरोहर मांगने पर नहीं देता, उससे

न्यायकर्त्ता राजपुरुष, धरोहर रखने वाले के पीछे (सामने नहीं) मांगे ॥१८१॥ यदि धरोहर रखने वाले का कोई साक्षी न हो तो राजा अपने नौकरों से जो कि अवस्था और स्वरूप से भलेमानुष प्रतीत हों, उन के हाथ बहाने बनवाकर (कि हमारे धन की धरोहर रख लीजिये, हमारे यहां इस की रक्षा नहीं हो सक्ती इत्यादि) अपना धन उस धरोहर न देने वाले के यहां रखवावे जैसे कि ठीक २ धरोहर रक्खी जाती हैं ॥ १८२ ॥

स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम् । न तत्र विद्यते किञ्चिद्यत्परैरभियुज्यते ॥१८३॥ तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि । उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ १८४ ॥

अर्थ—यदि वह राजा का भेजा हुवा पुरुष, ज्यों का त्यों अपनी धरोहर मांगने से पा जावे तौ राजा जानले कि और लोगों ने जो धरोहर न देने की नालिश (अभियोग) की हैं, उन का उस पर कुछ नहीं चाहिये ॥१८३॥ यदि उन राजपुरुषों का यथाविधि धरोहर न देवे तौ हाकिम पकड़वाकर उससे दोनोंको दिवावे(अर्थात् पहली भी नालिश सच समझे) यह धर्म का निर्णय है॥१८४॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे । नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ॥१८५॥स्वयमेव तु योदद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे । न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥१८६।

अर्थ—धरोहर और मंगनी उस धरने और देने वाले के वारिसों को न दे और यदि धरने वाला और मंगनी देने वाला विना अपने वारिसों को कहे मरजावे तौ वे धरोहर और मंगनी नष्ट हो जाती हैं, और जीवते हुवे अविनाशी । हैं ॥ १८५ ॥ जो स्वयं ही मरे हुवे के वारिसों को रखने वाला उस का धरोहर वा मंगनी का धन दे देवे तौ राजा और धरोहर वाले के वारिसों को कुछ रोक टोक करनी योग्य नहीं है ॥ १८६ ॥

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् । विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥१८७॥निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने। समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत्॥१८८॥

अर्थ—यदि उस के पास द्रव्य हो तौ छलरहित प्रीतिपूर्वक ही लेना चाहे ।

वा उस का वृत्तान्त समझ कर सीधेपन से ही उस से प्राप्त (बरामद) करे ॥ १८७ ॥ इन सब धरोहरों में सही करने की यह विधि है । और (मुहर) चिन्हसहित दिये हुवे में यदि कुछ मुहर (चिन्ह) को हरण न करे तो कुछ शङ्का नहीं पाई जाती ॥१८८॥

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा । न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन॥१८९ ॥ निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च । सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥

अर्थ—जो चोरों ने चुराया और जो पानी में डूब गया तथा आग में जल गया, वह द्रव्य धरने वाला न देवे, यदि उस में से उसने स्वयं कुछ नहीं लिया है तो।।१८९॥धरोहर के हरण करने वाले और धरोहर विना रक्खे मांगने वाले को राजा सम्पूर्ण सामादि उपायों से और वैदिक शपथों (हलफों) से ठिकाने लगाने का उद्योग करे ।। १९० ।।

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते । तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥१९१ ॥ निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं दापयेद्दमम् । तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥१९२॥

अर्थ—जो धरोहर को नहीं देता और जो विना रक्खे जाल करता है, वे दोनों चोर के समान दण्ड पाने योग्य हैं,वा उस धनके समान जुरमाना देने योग्य हैं ।।१९१।। धरोहर (अमानत) हरण करने वाले को उसी के समान दण्ड देवे तथा पूर्वोक्त उपनिधि के हरण करने वालेको भी यही दण्ड देवे॥१९२॥

उपधाभिश्च यःकश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः । ससहायःस हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ १९३॥ निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ । तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥१९४॥

अर्थ—"तुम पर राजा अप्रसन्न है उससे हम तुम को बचाते हैं,हम को धन दो" इत्यादि उपधा (धोखा) देकर दूसरे का धन जो कोई लेता है, वह सहायकों के सहित नानाप्रकार की ताड़ना देकर प्रत्यक्ष मारने योग्य है ।।१९३॥ जो सुवर्णादि जितना जिसने साक्षियों के सामने धरोहर रक्खा हो, उस में

तौल का बखेड़ा होने पर साक्षी जितना कहे, उतना ही जानना चाहिये। उस में तकरार करने वाला दण्ड पाने योग्य है ॥१९४॥

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा। मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः॥१९५॥ निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च। राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम् ॥ १९६॥

अर्थ—जिस ने एकान्त में धरोहर रक्खी और लेने वाले ने भी एकान्त में ली हो, वह एकान्त ही में देने योग्य है। जैसे लेवे वैसे देवे ॥१९५॥ धरोहर का धन और प्रीति से उपभोग के लिये रक्खे धन का राजा धरोहरधारी को पीड़ा न देता हुआ निर्णय करे ॥१९६॥

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः। न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥ १९७ ॥ अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम्। निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम्॥१९८॥

अर्थ—दूसरे की वस्तु जिसने विना स्वामी की आज्ञा बेची हो, अपने को साहू मानने वाले उस चोर को साक्षी न करे ॥ १९७ ॥ दूसरे की वस्तु को बेचने वाला यदि धनस्वामी के वंश में हो तो, उसे छः सौ पण दण्ड दे और यदि सम्बन्धी न हो, तथा बेचने को प्रतिनिधि (मुख़्तार) न हो तो चोर के समान अपराधी है ॥१९८॥

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः॥१९९ ॥

अर्थ—विना स्वामी ने जो दिया तथा बेचा, वह सब व्यवहार की जैसी कि मर्यादा है वैसा ठीक नहीं है ॥१९९॥

(१९९ वें से आगे १३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:—

[अनेन विधिना शास्ता कुर्वन्नस्वामिविक्रयम्।
अज्ञानाज्ज्ञानपूर्वं तु चौरवद्दण्डमर्हति] ॥

उक्त विधि से राजा अस्वामिविक्रय को, न किये के समान शासन करे, यदि विना जाने किसी ने अस्वामिविक्रय किया हो। परन्तु जान बूझ कर करने वाला चोर के तुल्य दण्डयोग्य है ॥ १९९ में " दायो विक्रय एव वा—क्रयो

विक्रय एव वा „ भी पाठभेद चार पुस्तकों में देखा जाता है) ।। १९९ ॥

संभोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।
आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः॥२००॥

अर्थ–जिस वस्तु का संभोग तो देखा जाताहो और क्रयादि आगम नहीं,वहां आगम प्रमाण है,संभोग नहीं,यह शास्त्र की मर्यादा है । (अर्थात् जिसने जिस वस्तु को ख़रीदने आदि के उचित(जाइज़)द्वारसे नहीं पाया,केवल भोग रहा है, उस में ख़रीदने आदि से प्राप्त करने वाला ठीक समझा जायगा।भोक्ता नहीं॥२००॥

विक्रयाद्यो धनं किञ्चिद्गृह्णीयात्कुलसन्निधौ । क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम्॥२०१॥अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः । अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम्॥२०२॥

अर्थ–जो कुल के समक्ष बेचने से ख़रीद कर कुछ धन ग्रहण करे,वह ख़रीद दारी को सिद्ध करके राजा के न्याय से उस धन को पाता है ।।२०१।। बिना स्वामी बेचने वाले से प्रत्यक्ष ख़रीद करने वाला शुद्ध पुरुष यदि बेचने वाले को न भी ला सके तो भी राजा का अदण्ड्य है । परन्तु नष्ट धन का स्वामी उस धन को (ख़रीदने वाले से) पाता है ।। २०२ ।।

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति । न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम्॥२०३"अन्यां चेद्दर्शयित्वान्या वोढुःकन्या प्रदीयते । उभे ते एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥२०४॥"

अर्थ–एक वस्तु दूसरी के रूप में मिलती हो तौ भी उस को उसके धोके से बेचना योग्य नहीं है । और न सड़ी हुई, न तोल में कम,और न बिना दिखाये ढकी को बेचना योग्य है ।।२०३।। " ठहराव में किसी और कन्या को दिखलावे और विवाह करने वाले को अन्य कन्या दे दे तो वे दोनों कन्यायें एक ही ठहराये मूल्य पर विवाह ले,ऐसा मनु ने कहाहै।(मनु ने कन्याविक्रय वर्जित किया है,इस लिये भी यह वचन मनुका नहीं माना जा सक्ता ।। २०४ ।।"

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना । पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति॥२०५॥ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत् । तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशः सह कर्तृभिः ॥२०६॥

अर्थ—पगली कोढ़िन और योनिविद्धा कन्या के दोषों को प्रथम न बता कर, कन्याका दाता दण्ड के योग्य है।।२०५।। यज्ञ में वरण किया हुआ ऋत्विक् (बीमारी आदि से) कुछ कर्म करके छोड़ दे तो उस को काम किये के अनुसार कर्त्ताओं के साथ दक्षिणा का अंश देना योग्य है ।।२०६।।

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन् । कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत्।।२०७।।यस्मिन् कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः । स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा।।२०८।।

अर्थ—दक्षिणा दे देने पर (व्याधि आदि से पीड़ित होने के कारण) अपने कर्म को समाप्त न करे तो संपूर्ण दक्षिणा पावे और शेष कर्म को दूसरे से करादेवे।।२०७।। जिस कर्म में जो प्रत्यङ्ग दक्षिणा कही हैं, उन को वही उस अङ्गकर्म का कर्त्ता लेवे, अथवा सब बांट कर ग्रहण करलें।।२०८।।

रथं हरेत वाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम् । होता वापि हरेदश्वमुद्गाता चाप्यनःक्रये।।२०९।।सर्वेषामर्धिनोमुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे । तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः।।२१०।।

अर्थ—आधान में रथ को अध्वर्यु ग्रहण करे और ब्रह्मा अश्व को और होता भी अश्व को और उद्गाता सोमक्रय धारण करने के लिये शकट(गाड़ी) को ग्रहण करे ।। २०९ ॥ संपूर्णों में दक्षिणा का आधा भाग लेने वाले (चार) मुख्य ऋत्विक् होते हैं । और उन से आधी दक्षिणा ग्रहण करने वाले दूसरे (चार) ऋत्विक् होते हैं। ऐसे ही तीसरे भाग को ग्रहण करने वाले (चार) और चतुर्थ को ग्रहण करने वाले (चार,ऐसे सोलह ऋत्विक् होते हैं)।।२१०॥

संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः । अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना।।२११।।धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम् । पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत्।।२१२।।

अर्थ—मिल कर काम करने वाले मनुष्यों को यहां इस विधि से बांट करना योग्य है ।। २११ ।। जिस ने किसी मांगने वाले को धर्मार्थ जो धन देदिया, फिर वह उस का दुबारा दान नहीं करसकता, क्योंकि वह दिया हुआ धन उस का नहीं रहा ।।२१२॥

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः। राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्या-त्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः॥२१३॥ दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावद-नपक्रिया। अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥२१४॥

अर्थ-यदि दान किये हुए धन को लोभसे वा अहंकार से छीने तो राजा उस चोरी की निष्कृति के लिये उस को "सुवर्ण" का दण्ड दे ॥ २१३ ॥ यह दिये हुवे के उलट फेर करने का ठीक ठीक धर्मानुकूल निर्णय कहा। अब इस के उपरान्त वेतन (तनूख्वाह) न देने का निर्णय कहता हूं ॥२१४॥

भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम्। स दण्ड्यः कृष्णलान्य-ष्टौ न देयं चास्य वेतनम्॥२१५॥आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थःसन् यथाभा-षितमादितः। स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥२१६॥

अर्थ-जो नौकर विना बीमारी के अहंकार से कहे हुवे काम को न करे, वह आठ "कृष्णल" दण्ड के योग्य है। और तनूख्वाह भी उस को न देवे ॥ २१५ ॥ यदि व्याध्यादिपीड़ारहित नौकर जैसा काम कहा वैसा ठीक २ करता रहे तो बीमार होने पर वह बहुत दिनकी भी तनूख्वाह पावे॥२१६॥

यथोक्तमार्तःसुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत्। न तस्य वेतनं दे-यमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥२१७॥ एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेत-नादानकर्मणः। अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम्॥२१८॥

अर्थ-जो काम जैसा ठहरा हो वैसा स्वयंबीमार होऔर दूसरे से न करावे या स्वस्थ (तन्दुरुस्त) हुआ आप न करे तो उसके थोड़े ही काम शेष रहने पर भी सब काम की तनूख्वाह न देनी चाहिये॥२१७॥ वेतन के न देने का यह संपूर्ण धर्म कहा, अब इसके आगे प्रतिज्ञाभेदियोंका धर्म कहता हूं ॥२१८॥

योग्रामदेशसंघानांकृत्वासत्येनसंविदम्। विसंवदेन्नरो लोभा-त्तंराष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥ २१९ ॥ निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभि-चारिणम्। चतुःसुवर्णान् षण्निष्कांश्छतमानं च राजतम् ॥२२०॥

अर्थ-जो मनुष्य ग्राम वा देश के समूहों का सत्य से समय (इक़रार, प्रतिज्ञा, ठेका वा पट्टा) करके, लोभ के कारण उस को छोड़ देवे तो उसको राजा राज्यसे निकाल दे ॥ २१९ ॥ और उक्त समयव्यभिचारी को पकड़वा कर राजा चार सुवर्ण और छः निष्क और १ चांदी का शतमान दण्ड दे ॥२२०॥

एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः। ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम्॥२२१॥ क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत्। सोऽन्तर्दशाहात्तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत च॥२२२॥

अर्थ—धार्मिक राजा ग्राम जाति समूहों में प्रतिज्ञा के व्यभिचार करने वालों को ऐसे दण्ड देवे ॥२२१॥ कोई द्रव्य ख़रीद कर वा बेच कर दश दिन के बीच में पसन्द न हो तो वापिस कर दे वा ले ले ॥२२२॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत्। आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट्॥ २२३ ॥ यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति। तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान्॥२२४॥

अर्थ—दश दिन के ऊपर न देवे न दिलावे, नहीं तो देने और लेनेवाले दोनों राज से ६०० पण के दण्ड योग्य हैं ॥(२२३ से आगे दो पुस्तकों में ३ श्लोक तथा एक पुस्तक में पहला एक ही श्लोक अधिक है। परन्तु कुछ विशेष प्रयोजनीय नहीं होने से हम ने उद्धृत नहीं किये, जिन को देखने हों, मुम्बई के मुद्रित पुस्तक में देख सकते हैं)॥ २२३ ॥ जो दोष वाली कन्या का विना कहे विवाह करता है, उस पर राजा आप ९६ पण दण्ड करे ॥२२४॥

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद् द्वेषेण मानवः। स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन्॥२२५॥पाणिग्रहणिका मन्त्राःकन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः। नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः॥२२६॥

अर्थ—जो मनुष्य द्वेष करके कन्या को अकन्या (दुष्टा) कहे, वह सौ पण दण्ड पावे, यदि उसके कन्यात्वभङ्ग के दोष को न सिद्ध करे ॥ २२५ ॥ क्योंकि मनुष्यों के पाणिग्रहण सम्बन्धी वैदिक मन्त्र कन्या के ही विषय में कहे हैं, अकन्या के विषय कहीं नहीं कहे। क्योंकि विवाह से पूर्व दूषित अकन्याओं की धर्म क्रिया लुप्त होजाती है ॥२२६॥

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्। तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिःसप्तमे पदे॥२२७॥ यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत्। तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत्॥ २२८ ॥

अर्थ—पाणिग्रहण के मन्त्र निश्चय दार (स्त्री) हो जाने के लक्षण हैं। उन मन्त्रों की समाप्ति सप्तपदी के ७ वें पद में विद्वानों को जाननी चाहिये ॥२२७॥ जिस जिस किये काम में पीछे पसंद न हो तो उस को राजा इस विधि से धर्ममार्ग में स्थापन करे ॥२२८॥

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे। विवादं संप्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः ॥२२९॥ दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे। योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥ २३० ॥

अर्थ—पशुओं के विषय में स्वामी तथा पशुपालों के बिगाड़ में यथावत् धर्मतत्व से विवाद को कहता हूं ॥२२९॥ दिन में जवाबदेही चरवाहे की रहे और रात्रि में स्वामी के घर में स्वामी पर जवाबदेही है। और कुछ चारे की कमी आदि हो तो भी जवाबदेह चरवाहा हो ॥२३०॥

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम्। गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः ॥२३१॥ नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम्। हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥ २३२॥

अर्थ—जो गोपाल दूध पर ही भृत्य हो, वह स्वामी की अनुमति से १० गौओं से श्रेष्ठ १ गौ को भृति (तनख़्वाह) के लिये दोहन करे, वही उस की तनख़्वाह है। (उसी एक गौ के दोहन से दश गाय का पालन करे) ॥२३१॥ जो पशु खोया जावे, वा कीड़े पड़के ख़राब हो जावे, या कुत्तों से मारा जावे या पांव ऊपर नीचे पड़ने से मर जावे, या पुरुषार्थहीन हो जावे तो स्वामी को गोपाल ही पशु देवे॥२३२॥

विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति। यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति॥२३३॥ कर्णौ चर्म च बालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम्। पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्गानि दर्शयेत् ॥२३४॥

अर्थ—यदि चोर ज़बरदस्ती छीन लें तो गोपाल देने को योग्य नहीं है। परन्तु यदि अपने स्वामी से उस का वृत्तान्त उचित देश काल में कह दे तो ॥२३३॥ और यदि स्वयं पशु मर जावें तो उन के अङ्ग स्वामी को गोपाल दिखला दे और कान, त्वचा, बाल, बस्ति, स्नायु, रोचना; स्वामी को दे देवे ॥२३४॥

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति। यां प्रसह्य वृको हन्या-

त्पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥ २३५॥तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने। यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी॥ २३६॥

अर्थ–बकरी और भेड़ को भेड़िये रोक लें और चरवाहा छुड़ाने को न आवे, इस पर जिन को भेड़िया मार डाले तौ उस का पातक चरवाहे को हो ॥२३५॥ परन्तु यदि उन चरवाहे से घेरी हुईं बकरी भेड़ों को एकाएक आकर भेड़िया मार डाले तौ उस का पातकी चरवाहा न हो ॥२३६॥

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः। शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु॥२३७॥ तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि। न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥२३८॥

अर्थ–ग्राम के आस पास चार सौ हाथ वा ३ बार लाठी फेंकने की दूरी तक छुटी भूमि (परिहार) और नगर के आस पास उसी को तिगुनी करके रखनी उचित है ॥ २३७ ॥ उस परिहार स्थान में बाड़रहित धान्य को यदि पशु नष्ट करें तौ राजा चरवाहे को दण्ड न करे॥ २३८ ॥

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत्। छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥२३९॥ पथिक्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः। सपालः शतदण्डार्हो विपालांश्वारयेत्पशून् ॥ २४० ॥

अर्थ–उस खेत के बचाने को इतनी ऊंची कांटों की बाड़ करे जिस में ऊंट न देख सके और बीच के छिद्र रोके, जिन में कुत्ते और सुवर का मुख न जा सके ॥ २३९ ॥ बाड़ दिये हुवे मार्ग के पास के क्षेत्र में वा ग्रामसमीपवर्ती क्षेत्र में यदि चरवाहा साथ होने पर पशु खेत चरें तौ चरवाहा १०० पण दण्ड के योग्य है। और बेचरवाहे पशुओं को खेत का रखवाला हांक दे ॥२४०॥

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुःसपादं पणमर्हति।सर्वत्र तु सदो देयःक्षेत्रिकस्येति धारणा ॥२४१॥ अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान्देवपशूंस्तथा। सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरब्रवीत्॥२४२॥

अर्थ–अन्य खेतों को पशु भक्षण करे तौ चरवाहा सपाद (सवा) पण दण्ड के योग्य है और सब जगह जितनी हानि हुई हो उतनी खेत वाले को दे, यह निश्चय है ॥ २४१ ॥ दश दिन के भीतर की बियाई हुई गाय को

और सांड़ को, वैसे ही देवतासंबन्धी पशु जो देवकार्य हवनार्थ घृतादि संपादनार्थ गौ आदि पाले रहते हों उन के रखवाले के साथ वा विना पशुपाल के किसी का खेत खाने पर (मुआफ़) मनु ने दण्ड नहीं कहा ॥२४२॥

क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुणो भवेत्।ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रियस्य तु॥२४३॥एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः।स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे॥२४४॥

अर्थ–यदि खेतवाले के अपने पशु खेत चरें तो उस को राजभाग से दश गुणा दण्ड हो और खेती वाले के अज्ञान से नौकरों की रक्षा में पशु भक्षण करें तो उस से आधा दण्ड हो ॥२४३॥ स्वामी और पशु तथा चरवाहे के व्यतिक्रम में धार्मिक राजा इस प्रकार विधान करे ॥ २४४ ॥

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः। ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥२४५॥ सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान्। शाल्मलीन्शालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान्॥२४६॥

अर्थ–दो ग्रामों की सरहद के झगड़े उत्पन्न होने में, ज्येष्ठ मास में जब तृणादिक शुष्क होने से सरहद्द के चिन्ह सुप्रकाशित हों तब उस को निश्चय करे ॥२४५॥ सीमावृक्षों को सरहद्द का चिन्ह नियत करे,उस में न्यग्रोध और अश्वत्थ,पलाश,सेंमर,साल और ताल तथा अन्य दूध वाले वृक्ष स्थापित करे॥२४६॥

गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च।शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥२४७॥ तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च। सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥२४८॥

अर्थ–गुल्म, नाना प्रकार के वेणु, शमी,वल्लीस्थल, शर और कुब्जकगुल्म स्थापित करे,जिस से सीमा नष्ट न हो॥२४७॥तडाग कूप दीर्घिका झरना और यज्ञमन्दिर सीमा के जोड़ों पर बनावे,(जिस से कि बहुत से मनुष्य जल पानादि करने तथा यज्ञार्थ परंपरा से सुन के आते रहैं,इसी से वे सब साक्षी हों)॥२४८॥

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत्।सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम्॥२४९॥ अश्मनोऽस्थीनि गोबालांस्तु-

षान्भस्मकपालिकाः।करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करावालुकास्तथा॥२५०॥
यानि चैवंप्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत्। तानि सन्धिषु सीमाया-
मप्रकाशानि कारयेत् ॥ २५१ ॥ एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा वि-
वदमानयोः । पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २५२ ॥

अर्थ—सीमानिर्णय में सर्वदा इस लोक में मनुष्यों को भ्रम देख कर अन्य गूढ सीमा चिन्ह भी स्थापित करावे ॥२४९॥ पत्थर, हड्डी, गोवाल, तुष, भस्म, खपड़ा, करीष, ईंट, कोइला, शर्करा और बालु—॥ २५० ॥ और जोकि इस प्रकार की वस्तु हों जो बहुत दिन में भूमि से मिट न जावें, उन को सीमा की संधियोंमें गुप्त करावे॥२५१॥राजा इन चिन्हों और पूर्व भोग तथा नदी आदि से जलके मार्ग इत्यादि चिन्हों से लड़नेवालों की सीमा का निर्णय करे ॥ २५२ ॥

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने। साक्षिप्रत्ययएव स्या-
त्सीमावादविनिर्णयः॥२५३॥ ग्रामीयककुलानां चसमक्षं सीम्नि
साक्षिणः। प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥२५४॥

अर्थ—चिन्हों के देखने पर भी यदि संशय रहै तौ साक्षी के प्रमाण से सीमाविवाद का निश्चय करे ॥२५३॥ ग्राम के कुलों और वादी प्रतिवादियों (मुद्दई मुद्दाइलह) के समक्ष सीमा में साक्षियों से सीमा के चिन्ह पूंछने योग्य हैं ॥२५४॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुःसमस्ताः सीम्नि निश्चयम्। निबध्नीयात्तथा
सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः॥२५५॥शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्त्रग्वि-
णो रक्तवाससः।सुकृतैःशापिताःस्वैःस्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम्॥२५६॥

अर्थ—सीमा के विषय में निश्चय के लिये वे पूछे हुवे लोग जैसा कहैं वैसे ही सब सीमा को बांधे और उन सब साक्षियों के नाम लिख ले॥ २५५ ॥ वे साक्षी फूलों की माला और लाल कपड़ा पहिर के सिरपर मट्टी के ढेले उठा कर यह कहें कि जो हमारा सुकृत है, सो निष्फल हो जो हम असत्य कहें (ऐसे ह फ़ उठाने पर) उस सीमा का निर्णय करे ॥२५६॥

यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः। विपरीतं नयन्तस्तु दा-
प्याःस्युर्द्विशतं दमम् ॥२५७॥ साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः साम-

न्तवासिनः। सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥ २५८ ॥

अर्थ—वे सत्यप्रधान साक्षी शास्त्रोक्त विधि से निर्णय में सहायक रह कर निष्पाप होते हैं। और असत्य से निश्चय कराने वालों को दो सौ पण दण्ड दिलावे ॥ २५७ ॥ साक्षी के अभाव में आस पास के जिमींदार ४ ग्राम के निवासी धर्म से राजा के सामने सीमा का निर्णय करें ॥२५८॥

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम्। इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान् ॥२५९॥ व्याधांश्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान्। व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः ॥२६०॥

अर्थ—सामन्त=आस पास के जड़ साक्षियों के अभाव में इन वनचर पुरुषों को भी साक्षी करलेः—॥२५९॥ व्याध, शाकुनिक, गोप, कैवर्तक, मूल खोदने वाले और सपेरे तथा उञ्छवृत्ति और दूसरे वनचारियों को ॥ २६० ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमां सन्धिषु लक्षणम्। तत्तथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥ क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च। सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥२६२॥

अर्थ—वे पूछे हुवे लोग जैसे सीमासन्धिका लक्षण बतावें, राजा धर्म से दोनों ग्रामोंके बीचमें सीमाका वैसेही स्थापन करे ॥२६१॥ क्षेत्र कूप तड़ाग आराम और गृहों के सीमासेतु के निर्णय में सामन्त=समीपवासियों की प्रतीति करे ॥२६२॥

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम्। सर्वे पृथक्पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥२६३॥ गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्। शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद्द्विशतो दमः ॥२६४॥

अर्थ—विवाद करने वाले मनुष्यों के सेतुनिर्णय में, यदि सामन्त झूंठ बोलें तो राजा सब को "मध्यम साहस" ७॥।-) अलग अलग दण्ड दे ॥२६३॥ घर तड़ाग उद्यान वा क्षेत्र को भय देके जो हरण करे उसको पांच सौ पण दण्ड दे। और अज्ञान से हरण करने में दो सौ पण दण्ड दे ॥२६४॥

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित्।
प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥२६५॥

अर्थ—सीमा का कोई पर्याप्त प्रमाण न मिलने पर धर्म का जाननेवाला राजा स्वयं ही उपकार से इनकी भूमि बांट दे। यह मर्यादा है ॥ २६५ ॥

(२६५ से आगे यह श्लोक दो पुस्तकों में अधिक है:—

[ध्वजिनी मात्सिनी चैव निधानी भयवर्जिता।
राजशासननीता च सीमाः पञ्चविधाः स्मृताः] ॥२६५॥

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥२६६॥

अर्थ—यह संपूर्ण सीमानिश्चय का धर्म कहा, अब वाणी की क्रूरता (गाली) का निर्णय कहता हूं ॥ २६६ ॥

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति। वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति॥२६७॥ पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने। वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥२६८॥

अर्थ—ब्राह्मण के साथ गाली गलौज करने से क्षत्रिय सौ पण दण्ड योग्य है। और वैश्य भी डेढ़ सौ या दो सौ पण दण्ड, और शूद्र तो (बेत आदि से) पीटने योग्य है॥२६७॥ और ब्राह्मण, क्षत्री के साथ गाली गलौज करे तो पच्चास पण, वैश्य से करे तो पच्चीस पण, और शूद्र से करे तो बारह पण दण्ड योग्य है ॥२६८॥

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥२६९॥

अर्थ—द्विजातियों को अपने समान वर्ण में गाली आदि देने पर बारह पण दण्ड दे (मा बहिन की गाली आदि) न कहने योग्य गाली प्रदानादि में उस का दूना, (२४ पण) दण्ड दे ॥२६९॥

(२६९ से आगे तीन पुस्तकों में ये दो श्लोक अधिक पाये जाते हैं:—

[विप्रक्षत्रियवत्कार्यो दण्डो राजन्यवैश्ययोः। वैश्यक्षत्रिययोः शूद्रे विप्रे यः क्षत्रशूद्रयोः। समुत्कर्षापकर्षास्तु विप्रदण्डस्य कल्पना। राजन्यवैश्यशूद्राणां धनवर्जमिति स्थितिः]॥२६९॥

"एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन्।

जिह्वायाःप्राप्नुयाच्छेदंजघन्यप्रभवोहिसः ॥ २७० ॥"

"यदि शूद्र द्विजातियों के साथ गाली गलौज करे तौ जीभ के छेदन का दण्ड प्राप्त हो क्योंकि वह निकृष्टसे उत्पन्न है"(यह २६८ के विरुद्ध है)॥२७०॥

"नामजातिग्रहंत्वेषामभिद्रोहेणकुर्वतः। निक्षेप्योऽयोमयःशङ्कु-र्ज्वलन्नास्येदशाङ्गुलः ॥ २७१ ॥ धर्मोपदेशंदर्पेणविप्राणामस्य कुर्वतः। तप्तमासेचयेत्तैलंवक्त्रेश्रोत्रेचपार्थिवः ॥ २७२ ॥,,

"अर्थ—द्विजातियोंके नाम और जाति का उच्चारण करके जो शूद्र गाली दे, उस के मुह में जलती हुई दस अङ्गुल की लोहे की कील ठोकनी चाहिये ॥ २७१ ॥ जो शूद्र अहङ्कार से ब्राह्मणों को धर्म का उपदेश करे, उस के मुख और कान में राजा गरम तैल डलवावे ॥ (ये दोनों श्लोक भी २७० के तुल्य उसी शैली के हैं) ॥ २७२ ॥"

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च। वितथेन ब्रुवन्दर्पाद्दाप्यः स्याद्द्विशतं दमम्॥२७३॥काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम्।तथ्येनापि ब्रुवन् दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम्॥२७४॥

अर्थ—श्रुत=पढ़ाई और देश तथा जाति और शारीर कर्म झूंठ बताने वाले को राजा दो सौ पण दण्ड दे ॥ २७३ ॥ काणा तथा लंगड़ा और अन्य कोई इसी प्रकार का अङ्गहीन हो, उसको सच भी उसी दोष से पुकारने वाला एक "कार्षापण" तक दण्ड के योग्य है ॥ २७४ ॥

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम्। आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद्गुरोः॥२७५॥ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डःकार्यो विजानता। ब्राह्मणे साहसःपूर्वःक्षत्रिये त्वेव मध्यमः॥२७६॥

अर्थ—माता, पिता, स्त्री, भाई, पुत्र और गुरु को अभिशाप=गाली देने तथा गुरु को मार्ग न छोड़ने वाला, सौ पण दण्ड के योग्य है॥ २७५ ॥ ब्राह्मण क्षत्रियों के आपस में गाली गलौज करने में धर्म का जानने वाला राजा दण्ड करे तौ उस में (ब्राह्मण का अपराध हो तौ) ब्राह्मण को "प्रथम साहस" तथा क्षत्रिय को "मध्यम साहस" दण्ड दे ॥२७६॥

"विट्शूद्रयोरेवमेवस्वजातिंप्रतितत्वतः ।
छेदवर्जंप्रणयनंदण्डस्येतिविनिश्चयः ॥२७७॥"

"अर्थ—वैश्य शूद्रों को आपस में इसी प्रकार गाली गलौज करने में अपनी२ जातिके प्रति ठीक२ छेदरहित दण्डका प्रयोग करे। इस प्रकार निर्णयहै ॥२७७॥

(२७७ का कथन बड़ा अस्तव्यस्त है । प्रथम तो वैश्य शूद्रों के गाली देने का कथन है, फिर स्वजाति का वर्णन है । परन्तु स्वजाति में शूद्र को जिह्वाछेद दण्ड का विधान प्रक्षिप्त २७० में भी नहीं है । इस लिये स्वजाति में छेदवर्ज कहना व्यर्थ है । तथा दण्ड का व्यौरा भी इस श्लोक में नहीं है । इन कारणों से यह श्लोक २७० के तुल्य प्रक्षिप्त जान पड़ता है । इस के आगे भी एक श्लोक है जो कि केवल दो पुस्तकों में पाया जाता है । यथा—

[पतितंपतितेत्युक्त्वाचौरंचौरेतिवापुनः ।
वचनात्तुल्यदोषःस्यान्मिथ्याद्विर्दोषतांव्रजेत्]

व्यवहारमयूख में इस को नारद का वचन बताया है) ॥२७७॥

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्वतः ।
अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥२७८॥

अर्थ—यह वाक्पारुष्य की ठीक २ दण्डविधि कही । अब दण्डपारुष्य विधि (मार पीट का निर्णय) कहता हूं ॥२७८॥

येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः। छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम्॥२७९॥पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति । पादेन प्रहरन् कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥२८०॥

अर्थ—अन्त्यज लोग जिस किसी अङ्ग से द्विजातियों को मारें, उन का वही अङ्ग कटवाना चाहिये । यह (मुझ) मनु का अनुशासन है ॥२७९॥ हाथ उठा कर वा लाठी उठाकर मारे तो हाथ काटना योग्य है (न कि लाठी, काटी जावे) और क्रोध से लात मारे तो पैर काटना योग्य है ॥२८०॥

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः । कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ॥ २८१ ॥ अवनिष्ठीवतोदर्पाद्द्वावोष्ठौ

छेदयेन्नृपः । अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥२८२॥

अर्थ—उच्च के साथ बैठने की इच्छा करने वाले नीच की कटी में (दाग़) चिन्ह करके निकाल दे वा उसके चूनड़ को थोड़ा कटवा देवे (जिस में न मरे) ॥२८१॥ अहङ्कार से नीच, उच्च के ऊपर थूके तौ राजा उस के दोनों होंठ और जो उस पर मूत्र डाले तौ लिङ्ग और जो पादे तौ उसकी गुदा का छेदन करे॥२८२॥

केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदऽविचारयन् । पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥२८३ ॥ त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः । मांसभेत्ता तु षण्निष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥२८४॥

अर्थ—अहङ्कार से (मारने को) बाल पकड़ने वाले के दोनों हाथों को विना विचार (शीघ्र) कटवादे और पैर, डाढी, ग्रीवा तथा अण्डकोश को (मारने के विचार से) पकड़नेवाले के भी (हाथ कटवादे) ।। २८३ ।। त्वचा का भेदन करने वाले पर सौ पण दण्ड करना चाहिये और रक्त के निकालने वाले को भी सौ पण दण्ड दे तथा मांस के भेदन करने वाले को छः "निष्क" दण्ड दे और अस्थिभेदक को देश से निकाल दे ।। २८४ ॥

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा । तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥२८५॥ मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति । यथा यथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा॥२८६ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण वनस्पतियोंका जैसा जैसा उपभोग करे वैसा वैसा हिंसा(हानि) में दण्ड दिया जावे। यह मर्यादा है॥२८५॥ मनुष्यों और पशुवों को पीड़ाके लिये प्रहार करने पर जैसे जैसे पीड़ाऽऽधिक्य हो, वैसे वैसे दण्ड भी अधिक करे ॥२८६॥

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा । समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥२८७॥ द्रव्याणि हिंस्याद्योयस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञो दद्याच्च तत्समम् ॥२८८॥

अर्थ—अङ्गों (कर चरणादि) और व्रण तथा रक्त की पीड़ा होने पर, चोट करने वाला, स्वस्थ होने का सम्पूर्ण ख़र्च दे अथवा पूर्ण दण्ड दे ॥२८७॥ जो जिस की वस्तु का जान कर वा बेजाने नुक़सान करे, वह उस को प्रसन्न करे और राजा को उसी के बराबर दण्ड दे ।।२८८॥

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्टमयेषु च। मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च॥२८९॥यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च। दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥

अर्थ—चाम और चमड़े के बने मशकादि वर्त्तन तथा मट्टी और लकड़ी की बनी वस्तुवों के मोल से पांचगुणा दण्ड ले। और पुष्प मूल फलों में भी ऐसा ही करे॥ २८९॥ सवारी के चलाने वाले तथा स्वामी को दस अवस्थायें (देखो अगला श्लोक) छोड़ कर शेष अवस्थाओं में दण्ड कहा है॥२९०॥

छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते। अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च॥२९१॥ छेदने चैव यन्त्राणां योक्ररश्म्योस्तथैव च। आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत्॥२९२॥

अर्थ—नाथ के टूटने और जुवे के टूटने और नीचे ऊंचे के कारण टेढ़े वा अड़कर चलने, तथा रथ के धुरे टूटने,और पहिये के टूटने—॥२९१॥ और बन्धनादि यन्त्र टूटने और गले की रस्सी टूटने और लगाम टूटने पर और हटो बचो,ऐसा कहते हुवे सारथि से कोई किसी का नुक़सान होने पर (मुझ) मनु ने दण्ड नहीं कहा ॥२९२॥

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु। तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥२९३॥प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति। युग्यस्थाःप्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याःशतं शतम् ॥ २९४ ॥

अर्थ—जहां पर सारथि के कुशल (होशयार) न होने से रथ इधर उधर चलता है, उस में हिंसा (नुक़सान) होने पर, स्वामी दो सौ पण दण्ड के योग्य है ॥ २९३ ॥ और यदि सारथि कुशल न हो तौ वही सारथि दो सौ पण दण्ड योग्य है। और सारथि कुशल न होते हुवे, यान पर सवार होनें वाले सब सौ सौ पण दण्ड योग्य हैं॥ २९४ ॥

स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा। प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥२९५॥ मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषं भवेत्। प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २९६ ॥

अर्थ—वह सारथि यदि पशुओं से वा अन्य रथ से रुके हुवे भी रथ को चलावे उस से जीव मरजावें तौ उस को विना विचारे दण्ड दे॥२९५॥(सारथि के रथ चलाने से) मनुष्य के मरजाने में चोर का (उत्तम साहस) दण्ड दे और बड़े पशुओं (बैल हाथी ऊंट घोड़ों) के मरने पर अर्ध(पांच सौ पण) दण्ड दे॥२९६॥

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः। पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु॥२९७॥गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषिकः। माषकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातने॥ २९८ ॥

अर्थ—क्षुद्र पशुओं की हिंसा में दोसौ(पण)दण्ड हो और अच्छे मृग पक्षियों की हिंसा में पचास (पण) दण्ड हो॥२९७॥ गधा,बकरी, भेड़ के मरने में पांच "माष" दण्ड और कुत्ते वा सूवर के मरने में एक "माष" दण्ड देवे॥२९८॥

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः। प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा॥२९९॥पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथञ्चन। अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम्॥

अर्थ—भार्या,पुत्र,दास,हलकारा और छोटा सहोदर भाई,ये अपराध करने पर रस्सी वा बांस की छड़ी से ताडनीय हैं॥२९९॥शरीर के पीठ की ओर मारे, सिर में कभी न मारे। इस के विपरीत मारने वाला चोर का दण्ड पावे॥३००॥

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः। स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये॥३०१॥ परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः। स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥३०२॥

अर्थ—यह सम्पूर्ण मार पीट का निर्णय कहा। अब चोर के दण्ड का निर्णय कहता हूं॥ ३०१॥ राजा चोरों के निग्रह के लिये बड़ा यत्न करे। चोरों के निग्रह से इस का यश और राष्ट्र बढ़ता है॥३०२॥

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः। सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम्॥३०३॥सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः। अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः॥ ३०४ ॥

अर्थ—जो अभय का देने वाला राजा है, वह सदा पूज्य है। उस का यह सत्र (यज्ञ) अभयरूपी दक्षिणा से वृद्धि को प्राप्त होता है ॥३०३॥ रक्षा करने वाले राजा को सब से धर्म का छठा भाग मिलता है और रक्षा न करने वाले राजा को भी सब से अधर्म का छठा भाग मिलता है ॥ ३०४ ॥

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति। तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥३०५॥ रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन्। यजतेऽहरहर्यज्ञैःसहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥

अर्थ—जो कोई वेदपाठ,यज्ञ,दान,देवतार्चनादि करता है, उस का छठा भाग अच्छे प्रकार रक्षा करने से राजा पाता है ॥ ३०५ ॥ प्राणियों की धर्म से रक्षा करता हुवा राजा और बध्यों को दण्ड देता हुवा, मानो प्रतिदिन लक्षदक्षिणायुक्त यज्ञसंबन्धी पुण्य को पाता है ॥ ३०६ ॥

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः। प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत्॥३०७॥ अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्। तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥

अर्थ—जो राजा रक्षा न करता हुवा धान्य का छठा भाग और चुंगी, कर तथा दण्ड का भाग लेता है, वह शीघ्र नरक में जावे (४ पुस्तकों में—"प्रतिभोगम्" पाठ है) ॥३०७॥ जो राजा रक्षा नहीं करता और धान्य का छठा भाग लेता है, उस को सब लोगों का सम्पूर्ण पाप ढोने वाला कहते हैं॥३०८॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ॥ अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥३०९ ॥ अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः। निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥३१०॥

अर्थ—शास्त्र की मर्यादा को उल्लङ्घन करने वाले, नास्तिक,अनुचित दण्डादि को ग्रहण करने वाले और प्रजा की रक्षा न करने वाले(कर आदि) भक्षण करने वाले राजा को अधोगामी जाने ॥३०९॥ अधार्मिक पुरुष का तीन उपायों से यत्नपूर्वक निग्रह करे। एक कारागार (हवालात), दूसरा बन्धन, तीसरा विविधप्रकार बध=मार पीट ॥३१०॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च। द्विजातयइवेज्याभिः

पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ३११ ॥ क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम्। बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः॥ ३१२॥

अर्थ—पापियों के निग्रह और साधुवों के संग्रह से राजा सदा पवित्र होते हैं। जैसे यज्ञ करनेसे द्विज ।।३११।।(दुःख से) आक्षेप के करने वाले कार्यार्थी तथा बाल वृद्ध आतुरों को अपने हितकी इच्छा करने वाला राजा क्षमा करे।।३१२।।

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते। यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥ राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता। आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ॥ ३१४ ॥

अर्थ—जो राजा दुःखितों से आक्षेप किया हुवा सहता है वह स्वर्ग में पूजा पाता है और जो ऐश्वर्य के मद से क्षमा नहीं करता, उस से वह नरक को जाता है ।। ३१३।। चोरी करने वाला, सिर के बाल खोले हुवे और दौड़ता हुवा,राजा के पास जाके उस काम को कहता हुवा, यह कहे कि मुझे दण्ड दो, मैं इस काम का करने वाला हूं ।।३१४।।

स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वापि खादिरम्।
शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥३१५॥

अर्थ—खैर की लकड़ी के मूसल वा लट्ठ, वा जिस में दोनों ओर धार हो ऐसी बरछी वा लोहे का डंडा कन्धे पर उठाकर (कहे कि इससे मुझे मारो)।।३१५।।

(३१५ से आगे एक पुस्तक में एक श्लोक अधिक मिलता है। यथा—

[गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्।
वधेन शुध्यते स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा] ॥३१५॥

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनःस्तेयाद्विमुच्यते।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम्॥३१६॥

अर्थ—तब चोर शासन से वा छोड़ देने से चोरी के अपराध से छूट जाता है और यदि राजा उस को दण्ड न दे तो उस के पाप को पाताहै ।।३१६॥

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी। गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम्॥३१७॥राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वापापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तःसुकृतिनो यथा ॥३१८॥

अर्थ—भ्रूणहत्या वाले का पाप उस के अन्न खाने वाले को और व्यभिचारणी स्त्री का पाप पति को और शिष्य का पाप गुरु को तथा यज्ञ करने वाले का, कराने वाले को (क्षमा करने से) लगता है। वैसे ही चोर का पाप (छोड़नेसे) राजा को होताहै॥३१७॥पाप करके भी राजा से उचित दण्ड पाये हुयेमनुष्य,निष्पाप हो कर स्वर्ग को जाते हैं। जैसे पुण्य करने से सन्त॥३१८॥

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिन्द्याच्च यः प्रपाम्। स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥ ३१९ ॥ धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः।शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥३२०॥

अर्थ—जो कुवे पर से रस्सी और घड़े को चुरावे और जो प्याऊ को तोड़े उस को सोने का एक "माष" दण्ड हो और उस रज्जु और घड़े को उसी से रखवावे और प्याऊ को भी वही बनवावे॥३१९॥बीस द्रोणका एक कुम्भ, ऐसे दश कुम्भों से अधिक धान्य का चुराने वाला अधिक वध (पीटने) के योग्य है और शेष में ११ गुणा उस का धन दिलवावे ॥ ३२०॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः। सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥३२१॥ पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते। शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२॥

अर्थ—जैसे धान्य में वध कहा है,वैसे ही (तराज़ वा कांटा) तुलादि से तोलने योग्य सुवर्ण चान्दी आदि और उत्तम वस्त्र चुराने पर भी १००से अधिक पर दण्ड जानो॥३२१॥ और पचास पल से ऊपर चुराने से हाथ काटना चाहिये। शेष एक से उनंचास तक चुराने में उस के मूल्य से ११ गुणा दण्ड देवे ॥ ३२२॥

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः। मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति॥३२३॥महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च। कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत्॥३२४॥

अर्थ—बड़े कुल के पुरुषों और विशेष कर स्त्रियों और अधिक मूल्य के रत्नों के चुराने में वध (देहदण्ड) योग्य है॥३२३॥बड़े पशुओं और शस्त्र तथा औषध के चुराने में काल और कार्य को देख कर राजा दण्ड देवे ॥३२४॥

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायाश्च भेदने। पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः॥३२५॥सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च। दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च॥३२६॥

अर्थ–ब्राह्मण की गौओं के हरण और नाक के काटने और पशुओं के हरण में शीघ्र अर्धपाद के छेदन का दण्ड करे॥३२५॥ सूत, कपास, मदिरा की गाद, गोबर, गुड़, दही, दूध, मठा, जल, तृण:–॥३२६॥

वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च। मृण्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च॥३२७॥मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च। मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसम्भवम्॥३२८॥

अर्थ–बांस की नली और बरतनों, नमक, मट्टी के बरतन की चोरी और मट्टी, राख–॥३२७॥ मछली, पक्षी, तेल, घृत, मांस, मधु और जो कुछ पशु से उत्पन्न होता है–(चाम सींग आदि)॥३२८॥

अन्येषां चैवमादीनामद्यानामोदनस्य च। पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद्द्विगुणो दमः॥ ३२९॥ पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च। अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः॥३३०॥

अर्थ–और भी इसी प्रकार की खाने की चीज़ों, चावलों के भात, और संपूर्ण पक्वान्नों की भी चोरी में इन के मूल्य से दूना दण्ड होना चाहिये॥ ३२९॥ पुष्पों और हरे धान्य तथा गुल्म वल्ली वृक्षों और अन्य जिन के तुषादि दूर करके अमनियां नहीं किये गये, उन की चोरी करने वाले को पूर्वोक्त पांच " कृष्णल " दण्ड हों॥ ३३०॥

परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च। निरन्वये शतं दण्डः साऽन्वयेऽर्धशतं दमः॥३३१॥स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम्। निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत्॥३३२॥

अर्थ–पवित्र, शोधित धान्य और शाक मूल फल के चुराने में, वंशसम्बन्धरहितों को शत १०० दण्ड और वंश में हों तो पचास दण्ड हो॥३३१॥ जो धान्यादिकों को सामने बल से कुटुम्बियों के समान लेवे वह " साहस " है

और (स्वामी के पीछे) ऊपरियों के समान लेवे, वह चोरी है, तथा लेकर जो इन्कार करे, वह भी चोरी ही है ॥३३२॥

यस्त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः। तमाद्यं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद्गृहात्॥३३३॥ येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते। तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः॥३३४॥

अर्थ-जो मनुष्य इन बनाई हुई चीज़ों और अग्नि को चुरावे, उस को राजा " प्रथम,साहस " दण्ड दे।।३३३।।जिस अङ्ग से जिस प्रकार चोर चोरी करता है,राजा उस का आगेको प्रसङ्गनिवारणके लिये वही अङ्ग छिन्न करे।।३३४।।

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः। नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्म न तिष्ठति ॥३३५॥ कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यःप्राकृतोजनः। तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा३३६

अर्थ-पिता आचार्य मित्र माता भार्या पुत्र और पुरोहित ; इन में जो स्वधर्म में न रहे, वह राजा को अदण्डय नहीं है (दण्डयोग्य है) ।।३३५।। जिस अपराध में अन्य लोग " कार्षापण " दण्ड योग्य हैं, उसी अपराध में राजा को " सहस्र पण" दण्ड हो । यह मर्यादा है ।।३३६।।

अष्टापाद्यं तुशूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्। षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥३३७॥ ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत्। द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥३३८॥

अर्थ-शूद्रको चोरी में अठगुणा पाप होता है,वैश्य को सोलह गुणा, क्षत्रिय को बत्तीस गुणा ।।३३७।। ब्राह्मण को चौंसठ गुणा,वा पूरा सौ गुणा, वा एक सौ अट्ठाईस गुणा पाप होता है,क्योंकि वह चोरीके दोष गुण जानने वाला है।।३३८।।

"वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च। तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत्॥३३९॥"योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम्। याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥ ३४० ॥

अर्थ-" वनस्पति सम्बन्धी मूल फल और जलाने को काष्ठ और गायों के लिये घास, यह चोरी नहीं है, ऐसा मनु ने कहा है ।।३३९॥ " जो ब्राह्मण

चोर के हाथ से यज्ञ कराने और पढ़ाने से भी धन लेने की इच्छा करे, सो जैसा चोर है वैसा ही वह है ॥ ३४० ॥

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके । आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥३४१॥ असन्धितानां सन्धाता सन्धितानां च मोक्षकः । दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥३४२॥

अर्थ—ख़र्च से तंग मार्ग का चलने वाला द्विज, दूसरे के खेत से दो गन्ने और दो मूली ग्रहण करने वाला, दण्ड देने योग्य नहीं है ॥ ३४१ ॥ खुले हुवे दूसरे के पश्वादिकों का बांधने वाला औ बन्धों को खोलदेने वाला, दास अश्व और रथ का हरण करने वाला, चोर के दण्ड को प्राप्त हो ॥३४२॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम् । यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥३४३॥ ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् । नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥३४४॥

अर्थ—इस प्रकार चोर का निग्रह करने वाला राजा इस लोक में यश और परलोक में अनुत्तम सुख को पावे ॥ ३४३ ॥ इन्द्रसम्बन्धी स्थान की इच्छा करने वाला और अक्षय यश का चाहने वाला राजा, साहस करने वाले मनुष्य की क्षण भर भी उपेक्षा न करे (अर्थात् तुरन्त दण्ड दे) ॥३४४॥

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः । साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥३४५॥ साहसे वर्त्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः । स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥३४६॥

अर्थ—वाक्पारुष्य (गाली गलौज) करने वाले, चोर, तथा दण्ड द्वारा मारने वाले से "साहस" (ज़बरदस्ती) करने वाले मनुष्य को अधिक पापकारी जाने ॥ ३४५ ॥ साहस करने वाले को जो राजा क्षमा करता है, वह शीघ्र विनाश को प्राप्त होता है और लोगों में द्वेष को प्राप्त होता है ॥ ३४६ ॥

न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् । समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥३४७॥ शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते । द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥३४८॥

आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे । स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ॥३४९॥ गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥३५०॥

अर्थ–मित्र के कारण वा बहुत धन की प्राप्ति से राजा, सब लोगों को भय देने वाले साहसी मनुष्यों को न छोड़े ॥ ३४७॥ब्राह्मणादि तीन वर्णों को शस्त्र ग्रहण करना चाहिये, जिस समय में कि वर्णाश्रमियों का धर्म रोका जाता है और त्रैवर्णिकों के मध्य विप्लव(बलवे) के होने में॥३४८॥और अपनी रक्षा के लिये,दक्षिणा के छीनने पर,स्त्रियों और ब्राह्मणों की विपत्ति में,धर्मयुद्ध में शत्रुवों की हिंसा करने वाला दोषभागी नहीं होता ॥३४९॥ गुरु वा बालक वा वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण; इन में कोई हो जो आततायी होकर आवे, उस को राजा विना विचार (शीघ्र) ही मारे ॥३५०॥

(३५० से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:–

[अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः]

अग्नि से स्थानादि जलाने वाला, विष देने वाला, (मारने को) शस्त्र हाथ में लिये हुवे, धन छीनने वाला, खेत और स्त्री का हरने वाला; ये छः "आततायी" हैं ॥ इस में छः को आततायी कहने से जान पड़ता है कि बस ये ही आततायी हैं, विशेष नहीं । परन्तु किसी ने दो नीचे लिखे श्लोक आततायी के लक्षण के और भी बढ़ा दिये हैं,जिन में से पहला ३ और दूसरा २ पुस्तकों में पाया जाता है:–

[उद्यतासिर्विषाग्निभ्यांशापोद्यतकरस्तथा । आथर्वणेनहन्ता च पिशुनश्चापिराजनि॥भार्यारिक्थापहारीचरन्ध्रान्वेषणतत्परः। एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः]

अर्थ–प्रहारार्थ खड्ग उठाने वाला, विष और अग्नि से मारने वाला, शाप के लिये हाथ उठाता हुआ, अथर्ववेद के मन्त्र से मारने वाला, राजा से झूंठी चुगली करने वाला,॥ स्त्रीधन का छीनने वाला, छिद्र ढूंढने में तत्पर,इत्यादि सभी आततायी समझने चाहियें) ॥ ३५० ॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥३५१॥ परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः। उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥

अर्थ—लोगों के सामने वा एकान्त में मारने को तैयार हुवे के मारनेमें मारने वाले को कुछ भी दोष नहीं होता, क्योंकि वह क्रोध उस क्रोध को प्राप्त होता है ॥ ३५१ ॥ परस्त्रीसंभोग में प्रवृत्त पुरुषों को डराने वाले दण्ड देकर और अङ्ग भङ्ग करके राजा देश से निकाल दे ॥३५२॥

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः। येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥३५३॥ परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः। पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥३५४॥

अर्थ—उसी से लोगों में वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं। क्योंकि मूल का नाश करने वाला अधर्म,सब के नाश करने में समर्थ है।।३५३।।पहले बदनाम हुवा पुरुष,एकान्त में दूसरे की स्त्री के साथ बात चीत करे,तौ "प्रथम,साहस" दण्ड पावे।।३५४॥

यस्त्वनाक्षारितःपूर्वमभिभाषेत कारणात्। न दोषं प्राप्नुयात्किञ्चिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः॥३५५॥परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा। नदीनां वापि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥३५६॥

अर्थ—जो पहले से बदनाम नहीं है और किसी कार्य से लोगों के सामने बोले, वह दोष को प्राप्त नहीं हो, क्योंकि उस का कोई अपराध नहीं है।।३५५॥ जो पराई स्त्री से तीर्थ वा अरण्य (जङ्गल) वा वन वा नदी के सङ्गम में संभाषण करे उस को परस्त्रीहरण का अपराध हो ।।३५६।।

उपचारक्रिया केलिःस्पर्शो भूषणवाससाम्। सहखट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥३५७॥स्त्रियं स्पृशेददेशे यःस्पृष्टो वा मर्षयेत्तया। परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

अर्थ—माला चन्दनादि का भेजना, परिहास, आलिङ्गनादि करना, वस्त्र आभूषण का स्पर्श करना,आसन तथा शय्या पर साथ रहना, इन सब कामों को भी परस्त्रीसंग्रहण के समान कहा है ।।३५७।। जो परस्त्री को गुह्यस्थान में स्पर्श करे, और जो स्त्री से छुवा हुवा क्षमा करे,आपस की प्रसन्नता में भी यह सब परस्त्रीसंग्रहण कहा है ।।३५८।।

(३५८ से आगे १ श्लोक दो पुस्तकों में अधिक पाया जाता है:-

[कामाभिपातिनी या तु नरं स्वयमुपव्रजेत् ।
राज्ञा दास्ये नियोज्या सा कृत्वा तद्दोषघोषणम्]

जो कन्या काम के वश स्वयं परपुरुष के समीप जावे तो राजा उस के दोष की मनादी (डिंडिमा) पिटवा कर दासियों में नौकर रक्खे) ॥३५८॥

"अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति । चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥३५९॥" भिक्षुका वन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा । संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥३६०॥

"अर्थ-ब्राह्मण को छोड़ कर अन्य जो कोई परस्त्रीसंग्रहण करे वह प्राणान्त दण्ड योग्य है और चारों वर्णों की दारा सर्वदा बहुत करके रक्षा के योग्य हैं (यह ३५७ के विरुद्ध है) ॥३५९॥" भिक्षुक, बन्दी, दीक्षित और रसोई करने वाले परस्त्री के साथ निवारण न करने पर संभाषण कर सकते हैं ॥३६०॥

न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् । निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥३६१॥ नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु । सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥३६२॥

अर्थ-पराई स्त्री के साथ निषेध करने पर बात न करे और करे तो एक "सुवर्ण" दण्ड योग्य है ॥३६१॥ यह विधि चारण=नट गायकादि की स्त्रियों में नहीं है (अर्थात् इन से बोलने का निषेध नहीं है) तथा पुत्रादि जो अपने आधीन जीविका वाले हैं, उन में भी नहीं है । क्योंकि ये (चारणादि) छिपे हुवे आप ही स्त्रियों को सज्जित करके परपुरुषों के साथ मिलाते हैं ॥३६२॥

किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषां ताभिराचरन् । प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥३६३॥ योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति । सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥३६४॥

अर्थ-परन्तु उन के साथ भी निर्जन देश में संभाषण करता हुवा, कुछ थोड़ा दण्ड देने योग्य है । और एकभक्ता तथा विरक्ता के साथ भी संभाषण करने से थोड़ा दण्ड दे ॥३६३॥ जो हीनजाति, इच्छा न करने वाली कन्या

से गमन करे,वह उसी समय बध के योग्य है और कन्या की इच्छा से गमन करने वाला,वध के योग्य नहीं है(किन्तु अन्य दण्ड के योग्य है)।।३६४।।

"कन्यांभजन्तीमुत्कृष्टंनकिञ्चिदपिदापयेत् । जघन्यंसेवमानांतु संयतांवासयेद्गृहे ॥३६५॥ उत्तमांसेवमानस्तुजघन्योवधमर्हति । शुल्कंदद्यात्सेवमानःसमामिच्छेत्पिता यदि ॥३६६ ॥„

अर्थ-"ब्राह्मणादि उत्तम के साथ सङ्ग करने वाली कन्या को थोड़ा भी दण्ड न देवे और हीनजाति से संबन्ध करने वाली को रक्षा से घर में रक्खे।।३६५।। उत्कृष्ट जाति वाली कन्या के साथ सङ्गम करने वाला हीनजातिपुरुष,वध के योग्य है। और समान जाति में हो तौ सेवन करने वाला, यदि उस कन्या का पिता स्वीकार करे तौ शुल्क(मूल्य) दे,(यह व्यभिचारप्रवर्तक है । यदि विवाहविषयक माना जावे, तौ दण्ड की आशङ्का भी व्यर्थ है)।।३६६।।

अभिषह्य तु यःकन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः। तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम्॥३६७॥ सकामां दूषयंस्तुल्यो नाङ्गुलिच्छेदमाप्नुयात् । द्विशतं तु दमं दाप्यःप्रसङ्गविनिवृत्तये ॥३६८॥

अर्थ-जो मनुष्य बलात्कार से कन्या को बिगाड़े, उस की दो अङ्गुली जल्दी काट ली जावें और छः सौ पण दण्ड योग्य है ।।३६७।। परन्तु कन्या की इच्छा के साथ बिगाड़ने वाले की अङ्गुलियों का छेदन न हो,किन्तु प्रसङ्ग की निवृत्ति के लिये दो सौ पण दण्ड दिलाना चाहिये ।।३६८।।

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याःस्याद्द्विशतो दमः। शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश॥३६९॥ या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्योमौण्ड्यमर्हति। अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा॥३७०॥

अर्थ-और कोई कन्या ही कन्या को(अङ्गुलियों से) बिगाड़े,तौ उसको दो सौ पण दण्ड होना चाहिये और कन्या के पिता को(जितना दहेज़ देना पड़ता, अब क्षतयोनित्व की शङ्का से कदाचित् कोई न विवाहे, इस की कमी में देने के लिये) द्विगुण धन दण्डरूप शुल्क देवे और दश बेत खावे ।।३६९।। और जो स्त्री कन्या को (उङ्गली) से बिगाड़े,वह उसी समय सिर मुंडाने योग्य है वा उङ्गलियों के कटवाने का दण्ड पावे और गधे पर चढ़ा कर घुमाने योग्य है ।।३७०।।

भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता। तां श्वभिःखादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते॥ ३७१ ॥ पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त-आयसे। अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥

अर्थ—जो स्त्री प्रबल पिता बान्धव धनादि के अभिमान से पति को छोड़ के दूसरे से सम्बन्ध करे तो उस को राजा बहुत आदमियों के बीच में कुत्तों से नुचवावे।।३७१॥ व्यभिचारी पापी मनुष्य को जलते लोहे की चारपाई पर जलावे, सब लोग उस पर लकड़ियां डालें, उन में पाप करने वाला जले ।।३७२।।

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः। व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु॥३७३॥ शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्ण-मावसन्। अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥३७४॥

अर्थ—परस्त्रीगमन करते २ दुष्ट पुरुष को एक वर्ष हो जावे तो उस पुरुष को पूर्वोक्त दण्ड से दूना दण्ड होना चाहिये और व्रात्या तथा चाण्डाली के साथ रहने में भी दूना दण्ड होना चाहिये ॥३७३।। रक्षिता वा अरक्षिता द्विजाति वर्ण की स्त्री के साथ यदि शूद्र गमन करे, तो उसको अरक्षिता में गुप्त अङ्ग छेदन तथा सर्वस्व हरण करे और रक्षितामें शरीर तथा धनादि सबसे हीनकरदे॥३७४॥

वैश्यःसर्वस्वदण्डःस्यात्संवत्सरनिरोधतः। सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥३७५॥ ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ। वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥३७६॥

अर्थ—वैश्य यदि एक वर्ष तक परस्त्री को घर में डाले रहे तो सर्वस्वग्रहणरूप दण्ड करना चाहिये। और क्षत्रिय सहस्र दण्ड और मूत्र से सिर मुंडाने योग्य है ।। ३७५ ।। और यदि अरक्षिता ब्राह्मणी से वैश्य क्षत्रिय गमन करें, तो सहस्र दण्ड क्षत्रियको और वैश्यको पांचसौ दण्ड चाहिये।।३७६।।

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह। विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥३७७॥ सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन्। शतानि पञ्च दण्ड्यःस्यादिच्छन्त्या सह संगतः॥३७८॥

अर्थ—वे दोनों क्षत्रिय वैश्य, रक्षिता ब्राह्मणी के साथ डूबें तो शूद्रवत् दण्ड

योग्य हैं। अथवा उन्हें चटाई में लपेट कर जला देवे॥३७७॥रक्षिता ब्राह्मणी से यदि ब्राह्मण बलात्कार से मैथुन करे तौ सहस्र पण दण्ड होना चाहिये और चाहती हुई से करे तौ पांच सौ पण दण्ड देना योग्य है॥३७८॥

"मौण्ड्यंप्राणान्तिकोदण्डोब्राह्मणस्यविधीयते। इतरेषांतुवर्णानां दण्डःप्राणान्तिकोभवेत्॥ ३७९॥ नजातुब्राह्मणंहन्यात्सर्वपापेष्वपिस्थितम्। राष्ट्रादेनंबहिःकुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥३८०॥"

"अर्थ—ब्राह्मण का सिर मुंडाना ही प्राणान्तिक दण्ड कहा है। अन्य वर्णों का प्राणदण्ड प्राणान्तिक ही है।॥३७९॥सम्पूर्ण पापों में भी स्थित ब्राह्मण को कभी न मारे। किन्तु संपूर्ण धन के साथ विना मारे पीटे राज्य से निकाल दे॥३८०॥" (ये दोनों ३५० से विरुद्ध हैं। तथा ३८१ में भी यही दशा है)

"नब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मोविद्यतेभुवि। तस्मादस्यवधंराजामनसापिनचिन्तयेत्॥३८१॥" वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत्। यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः॥३८२॥

अर्थ—" ब्राह्मण के वध से बड़ा कोई पाप पृथिवी में नहीं है, इस से राजा इस के वध का मन से भी चिन्तन न करे॥३८१॥" रक्षिता क्षत्रिया से यदि वैश्य गमन करे वा वैश्या से क्षत्रिय गमन करे,तौ जो अरक्षिता ब्राह्मणी से गमन में जो दण्ड कहा है,वही (३७६ के अनुसार) दोनों को हो॥ ३८२॥

(३८२ से आगे ११ ग्यारह पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:—

[क्षत्रिया चैव वैश्यां च गुप्तां तु ब्राह्मणो व्रजन्।
न मूत्रमुण्डः कर्त्तव्यो दाप्यस्तूत्तमसाहसम्]

यदि ब्राह्मण,रक्षिता क्षत्रिया वा वैश्या से गमन करे तौ मूत्र से मुण्डित न कराया जावे,किन्तु "उत्तम साहस" (१०००पण) दण्ड दिलाया जावे॥३८२॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन्। शूद्रायां क्षत्रियविशोःसाहस्रो वै भवेद्दमः॥३८३॥क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः। मूत्रेण मौण्ड्यमिच्छेत्तु क्षत्रियो दण्डमेव वा॥३८४॥

अर्थ—रक्षिता क्षत्रिया और वैश्या से ब्राह्मण गमन करे तौ सहस्र पण दण्ड

होना चाहिये और रक्षिता शूद्रा से क्षत्रिय वैश्य गमन करें तौ भी सहस्र दण्ड देना चाहिये ।। ३८३ ।। अरक्षिता क्षत्रिया से गमन में वैश्य को पांच सौ पण दण्ड होना चाहिये और क्षत्रिय को अरक्षिता के गमन में पांच सौ पण दण्ड अथवा चाहे तो मूत्र से मुण्डन करावे ।।३८४।।

(३८४ से आगे भी २।। श्लोक दो पुस्तकों में अधिक हैं :-

[शूद्रोत्पन्नांशपापीयान्न वै मुच्येत किल्बिषात् । तेभ्यो दण्डाहृतं द्रव्यं न कोशे संप्रवेशयेत् ॥ अयाजिकं तु तद्राजा दद्याद्भृतकवेतनम्। यथा दण्डगतं वित्तं ब्राह्मणेभ्यस्तु लम्भयेत् ॥ भार्यापुरोहितस्तेना ये चान्ये तद्विधा जनाः] ॥ ३८४ ॥

अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् । शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ।।३८५।। यस्य स्तेनःपुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् । न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्।।

अर्थ- अरक्षिता क्षत्रिया, वैश्या वा शूद्रा से ब्राह्मण गमन करे तौ पांच सौ पण दण्ड और अन्त्यजा के साथ गमन में सहस्र दण्ड होना चाहिये ।।३८५।। जिस राजा के राज्य में चोरी, परदारगमन, गाली देने, साहस करने और मार पीट करने वाले पुरुष नहीं हैं, वह राजा स्वर्ग वा सत्यलोक का भागी होता है (एक पुस्तक में " सत्यलोकभाक् " पाठभेद है)।।३८६।।

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके । साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥ ३८७॥ ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक्त्यजेद्यदि । शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ३८८

अर्थ-इन पांचों का अपने राज्य में निग्रह करना, राजा को अपने साथी राजाओं में साम्राज्य कराने वाला और लोगों में यश करने वाला है ।।३८७।। जो यजमान ऋत्विज् को छोड़े, जो कि कर्म करनेमें समर्थ और दुष्ट न हो, और जो ऋत्विक् यजमान को छोड़े, उन दोनों को सौ सौ दण्ड होना चाहिये ।।३८८।।

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति । त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यःशतानि षट् ॥ ३८९ ॥ आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये

विवदतां मिथः। न विब्रूयान्नृपोधर्मं चिकीर्षन् हितमात्मनः॥३९०॥

अर्थ–माता पिता पुत्र और स्त्री त्याग करने के योग्य नहीं हैं। जो बिना पतित हुए इन का त्याग करे उस को राजा छः सौ पण दण्ड दे॥३८९॥ वानप्रस्थाश्रमी कार्य में परस्पर झगड़ा करने वाले द्विजों के बीच में, अपना हित करना चाहने वाला राजा धर्म (न्याय) न करे (अर्थात् ऐसे कामों में बलपूर्वक राजा का हस्तक्षेप न हो)॥३९०॥

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैःसह पार्थिवः। सान्त्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥३९१॥ प्रतिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे। अर्हावभोजयन्विप्रो दण्डमर्हति माषकम्॥३९२॥

अर्थ–जो जैसे पूजा के योग्य है उस की वैसीही पूजा करके और ब्राह्मणों के साथ प्रथम उन को समझावे, उस के अनन्तर स्वधर्म बता देवे॥३९१॥ निरन्तर अपने मकान में रहने वाले और कभी २ आने जाने वाले, इन दोनों योग्यों को, उत्सव में बीस ब्राह्मणों के भोजन कराने में, जो ब्राह्मण, भोजन न करावे तो उसे एक रौप्य माषक दण्ड देना योग्य है॥३९२॥

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन्। तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम्॥३९३॥ अन्धो जडःपीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः। श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याःकेनचित्करम्॥३९४॥

अर्थ–यदि श्रोत्रिय, विभवकार्य में एक साधु श्रोत्रिय को भोजन न करावे तो उस अन्न से दूना अन्न और "हिरण्य माषक" दण्ड दिलाना योग्य है॥३९३॥ अन्ध, बधिर, पङ्गु और सत्तर वर्ष का वृद्ध, तथा श्रोत्रियों के उपकार करने वाला, ये किसी को कर दिलाने योग्य नहीं हैं॥३९४॥

श्रोत्रियंव्याधितार्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम्। महाकुलीनमार्यं च राजा संपूजयेत्सदा॥३९५॥ शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः। न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत्॥३९६॥

अर्थ–श्रोत्रिय, रोगी, आर्त, बाल, वृद्ध, दरिद्री और बड़े कुलवाले आर्य का राजा सदा सम्मान करे॥३९५॥ सेमरकी चिकनी पटिया पर धोबी धीरे धीरे कपड़ों को धोवे और दूसरों के कपड़ों से औरों के कपड़े न बदले जावें और न बहुत दिन पड़े रक्खे॥३९६॥

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् । अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम्॥३९७॥शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्य-विचक्षणाः । कुर्युरर्घं यथा पण्यं ततो विंशं नृपो हरेत्॥३९८॥

अर्थ—जुलाहा दश पल सूत लेके एकादश पल(मांड़ी से बढ़ने के कारण) वस्त्र तौल देवे,इससे विपरीत करे तो (राजा)बारह पण दण्ड दिलावे।।३९७।। जो चुङ्गी आदि के विषयमें कुशल और हरएक प्रकार के लेनदेनमें चतुर हों, उन सौदागरों को जो लाभ हो उस का बीसवां भाग राजा ले ।।३९८।।

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च । तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः॥३९९॥शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रय-विक्रयी । मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम्॥४००॥

अर्थ—राजा के जो प्रसिद्ध निजविक्रेय द्रव्य और जो राजा ने बेचने से निषेध किये हुवे द्रव्य हैं, उन को लोभ के कारण और जगह लेजाकर बेचने वाले का सर्वस्व, राजा हरण करले ।। ३९९ ।। चुङ्गी की जगह से हट कर (चोरी से) और जगह माल लेजाने वाला और बे समय बेचने ख़रीदनेवाला और गिनती वा तौल में झूंठ बोलने वाला उचित राजकर का ८ गुणा वा जितने का झूंठ बोला हो, उस का अठगुणा दण्ड दे ।। ४०० ।।

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ । विचार्य सर्वप-ण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ।।४०१॥ पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते । कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः॥४०२॥

अर्थ—आने और जाने का ख़र्च,स्थान तथा वृद्धि और क्षय दोनों इनको विचार कर सब वस्तुओं को ख़रीदने बेचने का भाव करावे।।४०१।। पांचपांच दिन वा पक्ष (१५वें) दिन इनके लाभको आप्त पुरुषों द्वारा प्रत्यक्ष करे(जंचावे)।।४०२।।

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् । षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत्॥४०३॥पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषो-ऽर्धपणं तरे। पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान्॥४०४॥

अर्थ—तुला की तौल और नापों को अच्छे प्रकार देखे। और छः छः महीने में फिर से देखावे ॥ ४०३ ॥ पुल पर गाड़ी का महसूल १ पण दे और एक आदमी के बोझ का आधा पण और गाय बैल आदि पशु तथा स्त्री चौथाई पण और खाली आदमी १ पण का आठवां भाग दे ॥ ४०४ ॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः। रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित्पुमांसश्चापरिच्छदाः॥४०५॥दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्। नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम्॥४०६॥

अर्थ—पुल पर माल भरी गाड़ी का महसूल बोझ के अनुसार दे और खाली यान और दरिद्र पुरुषों से महसूल कुछएक ले लेवे ॥ ४०५ ॥ लम्बी उतराई का महसूल देशकालानुसार हो। उस को नदी तीर में ही जाने। समुद्र में यह लक्षण नहीं है ॥ ४०६ ॥

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः। ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे॥४०७॥यन्नावि किञ्चिद्दासानां विशीर्येतापराधतः। तद्दासैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः॥४०८॥

अर्थ—दो महीने के ऊपर की गर्भिणी, संन्यासी, वानप्रस्थ और ब्रह्मचारी ब्राह्मण, ये खेवट की खेवाई न दें ॥ ४०७ ॥ नाव पर बैठने वालों को खेवने वालों के अपराध से जो कुछ हानि हो, वह अपने पास से सब खेवने वालों को मिल कर देनी चाहिये ॥४०८॥

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः। दासापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः॥४०९॥ वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च। पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम्॥४१०॥

अर्थ—मल्लाहों के अपराध से पानी में हानि हो तो वे देवें। यह नाव से उतरने वालों के व्यवहार का निर्णय कहा। परन्तु दैवी तूफ़ान में मल्लाहों को दण्ड नहीं है।॥४०९॥वाणिज्य, गिरवीं बट्टा, खेती और पशुओं की रक्षा वैश्यों से और शूद्र से द्विजों की सेवा राजा करावे ॥ ४१० ॥

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्शितौ। बिभृयादानृशंस्येन

स्वानि कर्माणि कारयन्॥४११॥ दास्यं तु कारयँल्लोभाद्ब्राह्मणः सं-
स्कृतान्द्विजान्। अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट्॥४१२॥

अर्थ—क्षत्रिय और वैश्य, वृत्ति के अभाव से पीडित हों तो दया से अपने अपने कर्मों को कराता हुवा ब्राह्मण उन का पोषण करे ॥४११॥ ब्राह्मण, प्रभुता से वा लोभ से, संस्कार किये हुवे द्विजों से विना इच्छा के दासकर्म करावे तौ राजा को छः सौ पण दण्ड दिलाना चाहिये ॥ ४१२ ॥

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा । दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ
ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा॥४१३॥न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्या-
द्विमुच्यते । निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥ ४१४ ॥

अर्थ—शूद्र से तौ सेवा करावे, वह शूद्र खरीदा हो वा न ख़रीदा हुवा हो। क्योंकि ब्राह्मणादि की सेवा के लिये ही ब्रह्मा ने इसे उत्पन्न किया है॥४१३॥ स्वामी से छुटाया हुवा भी शूद्र दास्य से नहीं छूट सकता । क्योंकि वह उस का स्वाभाविक धर्म है । उस से उस को कौन हटा सकता है ॥४१४॥

ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ । पैत्रिको दण्डदासश्च
सप्तैते दासयोनयः॥४१५॥ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाऽ-
धनाःस्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्॥४१६॥

अर्थ—युद्ध में जीत कर लाया हुवा और भक्तदास तथा दासीपुत्र और ख़रीदा हुवा और दान में दिया हुवा और जो बड़ों से चला आता हो और दण्ड की शुद्धि के लिये जिस ने दास्यभाव स्वीकृत किया हो, ये सात प्रकार के दास होते हैं ॥४१५॥ भार्या पुत्र दास ये तीन निर्धन कहे हैं । क्योंकि जो कुछ ये कमाते हैं, वह उस का है, जिस के कि ये हैं ॥ ४१६ ॥

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद्द्रव्योपादानमाचरेत्। न हि तस्यास्ति किञ्चि-
त्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥४१७॥ वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि
कारयेत्। तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥४१८॥

अर्थ—भरोसे से शूद्र=दास से ब्राह्मण धन ग्रहण करे । क्योंकि उस का कुछ भी अपना नहीं है । किन्तु उस का धन भर्तृग्राह्य है ॥४१७॥ वैश्य शूद्रों से

प्रयत्न से राजा अपने २ कर्म करावे, नहीं तौ वे अपने २ कामों से अलग हो कर संपूर्ण जगत् को क्षोभ करा दें ॥ ४१८ ॥

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च। आयव्ययौ च नियता-वाकरान्कोशमेव च॥ ४१९॥ एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्स-मापयन्। व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमाङ्गतिम्॥ ४२०॥

अर्थ–राजा कर्मों की निष्पत्ति (फल) और वाहनों तथा आय व्यय और खानि तथा कोष को प्रतिदिन देखे ॥ ४१९ ॥ इस उक्त प्रकार से इन ऋणादा-नादि व्यवहारों को ठीक २ निर्णय को पहुंचाता हुवा राजा, संपूर्ण पाप को दूर करके परम गति पाता है ॥ ४२० ॥

इतिमानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायाम्)

अष्टमोऽध्यायः॥८॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादेऽष्टमोऽध्यायः ॥८॥

ओ३म्

अथ नवमोऽध्यायः

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्म्ये वर्त्मनि तिष्ठतोः। संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान्॥१॥अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे॥२॥

अर्थ—धर्म मार्ग पर चलने वाले स्त्री पुरुषों के साथ रहने और अलग रहने के सनातन धर्मों को मैं आगे कहता हूं (सुनो) ॥१॥ पतियों को अपनी स्त्रियें सदा स्वाधीन रखनी चाहियें। और विषयों में आसक्त होती हुइयों को अपने वश में रखना चाहिये ॥ २ ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥३॥कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः। मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥४॥

अर्थ—बाल्याऽवस्था में पिता रक्षा करता है और यौवन में पति रक्षा करता है तथा बुढापे में पुत्र रक्षा करते हैं। स्त्री स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है ॥३॥ विवाहकाल(१६वें वर्ष)में कन्यादान न करने वाला पिता और ऋतुकाल में स्त्री के पास गमन न करने वाला पति और पति के मरने पर माता की रक्षा न करने वाला पुत्र निन्दनीय है ॥४॥

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः। द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥५॥ इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम्। यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥

अर्थ—थोड़े से भी कुसंग से स्त्रियों की विशेषतः रक्षा करनी चाहिये। अरक्षित स्त्रियें दोनों कुलों को शोक देने वाली होंगी।॥५॥इस सब वर्णों के उत्तम धर्म को जानने वाले दुर्बल भी पति अपनी स्त्री की रक्षा का यत्न करते हैं ॥६॥

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च। स्वं च धर्मं प्रयत्नेन

जायां रक्षन् हि रक्षति ॥ ७ ॥ पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते । जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ८ ॥

अर्थ–अपनी सन्तान और चरित्र तथा कुल और धर्म ; इन सब को यत्न से स्त्री की रक्षा करने वाला ही रक्षित करता है ॥ ७ ॥ एक प्रकार से पति ही स्त्री में प्रवेश करके गर्भरूप होकर संसार में उत्पन्न होता है। जाया का जायात्व यही है जोकि इस में फिर से जन्मता है ॥८॥

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् । तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ९ ॥ न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् । एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥

अर्थ–जिस प्रकार के पुरुष को स्त्री सेवन करे, उसी प्रकार का पुत्र जनती है। इस कारण प्रजा की शुद्धि के लिये भी प्रयत्न से स्त्री की रक्षा करे ॥९॥ कोई बलात्कार से स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकता, किन्तु इन उपायों से उन की रक्षा कर सकता है (कि–) ॥१०॥

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् । शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य चेक्षणे ॥११॥ अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः । आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥१२॥

अर्थ–इसको धनके संग्रह, व्यय, शौच, धर्म, रसोई पकाने और घरकी वस्तुवों के देखने में योजना करे ॥११॥ आप्तकारी पुरुषों से घरके परदे में रोकी भी स्त्रियें अरक्षिता हैं, किन्तु जो अपने आप ही रक्षा करती हैं वे सुरक्षिता हैं ॥१२॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् । स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥१३॥ " नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः । सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥१४॥"

अर्थ–मद्यपान और दुर्जनसंसर्ग तथा पति से अलग रहना और इधर उधर घूमना तथा बेसमय सोना और दूसरे के घर में रहना, ये स्त्रियों के छः दूषण हैं ॥ १३ ॥ " ये न तो रूप का विचार करती हैं, न इनके आयु का ठिकाना है, सुरूप अथवा कुरूप पुरुष मात्र हो, उसे ही भोगती हैं ॥१४॥"

"पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः । रक्षितायत्नतोऽपीह

भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥१५॥ एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनि-
सर्गजम्। परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥ १६ ॥"

"अर्थ-पुरुष पर चलने वाली होने से और चित्त की चंचलता से तथा स्वभावसे ही स्नेहरहिता होने से यत्नपूर्वक रक्षित स्त्रियें भी,पतिमें विकार करती हैं ॥१५॥ ब्रह्मा के सृष्टिकाल से साथ रहने वाला इस प्रकार इनका स्वभाव जानकर, पुरुष इनकी रक्षा का परम यत्न करे ॥१६॥"

" शय्यासनमलङ्कारं कामंक्रोधमनार्जवम् । द्रोहभावंकुचर्यां च
स्त्रीभ्योमनुरकल्पयन्॥१७॥ नास्तिस्त्रीणांक्रियामन्त्रैरितिधर्मेव्य-
वस्थितिः। निरिन्द्रियाह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः॥१८॥"

"अर्थ-शय्या आसन अलंकार काम क्रोध अनार्जव और द्रोहभाव तथा कुचर्या; ये मनु ने स्त्रियें के लिये उत्पन्न किये हैं॥१७॥ जातकर्मादि क्रिया स्त्रियों की मन्त्रों से नहीं हैं । इस प्रकार धर्मशास्त्र की मर्यादा है । स्त्रियां निरिन्द्रिया और अमन्त्रा हैं और इन की स्थिति असत्य है॥१८॥"

"तथा च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि । स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं
तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥ यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्य-
पतिव्रता । तन्मे रेतः पिता वृङ्क्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम् ॥२०॥"

"अर्थ-व्यभिचारशील स्त्रियों के स्वभाव की परीक्षार्थ वेदों में बहुत श्रुतियें पठित हैं, उन श्रुतियों में जो व्यभिचार के प्रायश्चित्तभूत हैं उन को सुनो ॥ १९ ॥ (कोई पुत्र माता का मानस व्यभिचार जान कर कहता है कि-) 'जो कि मेरी माता अपतिव्रता हुई परपुरुष को चाहने वाली थी, उस दुष्टता को मेरा पिता शुद्ध वीर्य से शोधन करे' यह उन श्रुतियों में से नमूना दिखाया गया ॥ २० ॥"

"ध्यायत्यनिष्टंयत्किञ्चित्पाणिग्राहस्यचेतसा । तस्यैषव्यभिचा-
रस्यनिह्नवःसम्यगुच्यते ॥२१॥ यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत
यथाविधि । तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा॥२२॥"

"अर्थ-भर्त्ता के विपरीत जो कुछ स्त्री दूसरे पुरुष के साथ गमन चाहती है उसके इस मानस व्यभिचार को यह अच्छे प्रकार शोधनमन्त्र कहा है॥२१॥

जिस गुण वाले पति के साथ स्त्री रीति से विवाह करके रहे, वैसे ही गुण वाली स्त्री होजाती है। जैसे समुद्र के साथ नदी ॥२२॥"

"अक्षमालावसिष्ठेनसंयुक्ताऽधमयोनिजा । शारङ्गीमन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥२३॥एताश्चान्याश्चलोकेऽस्मिन्नपकृष्ट प्रसूतयः।उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥२४॥"

अर्थ—अक्षमाला नामकी निकृष्टयोनि स्त्री वसिष्ठ से युक्त हो पूज्यता को प्राप्त हुई, ऐसे ही चटका मन्दपाल से युक्त होकर पूज्यता को प्राप्त हुई ॥२३॥ इस लोक में ये और अन्य अधम योनियों में हुई स्त्रियें अपने अपने शुभ पतिगुणों से उच्चता को प्राप्त हुईं ॥२४॥"

(१४वें से२४वें तक ११ श्लोकों में ऐसी झलकहै, जैसी कि चाणक्य आदिके समय में स्त्रियों की अत्यन्त अविश्वस्तता की दशा थी ।१४वें में स्त्रियों को युवा आदि अवस्था और सुरूप पुरुषकी आवश्यकता का अभाव लिखा है,जो ३ काल में कभी नहीं हो सकता कि स्त्रियें युवा और सुरूप पुरुष की इच्छा न करें केवल पुरुष मात्र जिसे देखें उसे ही भोगने लगें। यदि कहीं अत्यन्त कामासक्ता स्त्री की यह दशा देखी भी जावे, तौ पुरुषों की इस से भी बुरी अवस्थायें प्रायः होती हैं । इस लिये स्त्रियों ही की यह निन्दा अनुचित है। १५ वें में स्त्रियों में यह दोष बतलाया है कि उन का चित्त चञ्चल है और पुरुष पर को चलता है, उन में स्नेह वा प्रीति नहीं होती । चलचित्तता तो पुरुषों में भी कम नहीं होती। हां, स्नेह तौ पुरुषों से स्त्रियों में अधिक होता है। १६वें में इन के इस दोषको ब्रह्मा का बनाया हुवा स्वाभाविक बताया है । जिस से मानो यह कहा है कि उन का स्वभाव कभी धर्मानुकूल सुधर ही नहीं सकता। इस कथन ने ऐसा कलङ्क स्त्रियों पर लगाया है कि जो प्राचीन काल की सच्चरित्रा देवियोंकी निन्दा का तौ कहना ही क्या है, वर्त्तमान घोर समय में भी पुरुष चाहे कैसे ही घृणिताचार हों, किन्तु स्त्रियों में अब भी अधिकांश सती वर्त्तमान हैं,उनकी भी नितान्त असत्य निन्दा इस से होती है ॥१७ वें में जो शय्यासनादि दोष बताये हैं, वे पुरुषों में भी कम नहीं होते । और इस श्लोक में यह जो कहा है कि (स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत) ये दोष स्त्रियों के लिये मनु ने रचे । इस से इस प्रकरणगत स्त्रीनिन्दा का अन्यकृत होना तौ संशयित हुवा ही, किन्तु यह असत्य भी है कि ये दोष

जिन में काम क्रोध अनार्जव और द्रोह भी गिनाये हैं, स्त्रियों के लिये ही मनु ने रचे। क्या ये दोष पुरुषों में नहीं होते? क्या मनु धर्मव्यवस्थापक होने के अतिरिक्त दोषयुक्त स्त्री जाति के स्रष्टा भी थे? १८ वें का यह कहना कि उनके इन्द्रियां नहीं होतीं, कैसा श्वेत झूठ है, जब कि उन के प्रत्यक्ष हस्त पादादि इन्द्रियों की सत्ता सर्वजगद्गोचरीभूत है। बस इसी से उन की असमञ्जस क्रिया के पक्षपात और अज्ञान को भी समझ सकते हैं। १९ वें में कहा है कि इस विषय में वेद की श्रुतियें भी प्रमाण हैं। २० वें में भी "किसी पुत्र का अपनी माता के मानस व्यभिचार को वर्णन करना" वेद की श्रुति का नमूना बताया है। परन्तु यह श्रुति वेद में कहीं नहीं, सर्वथा असत्य है। २१ वें में इस असत्य कल्पित श्रुति को मानसी व्यभिचाररूप पाप का प्रायश्चित्त बताया है॥ २२-२४ तक में इतिहास से वसिष्ठ और मन्दपाल की स्त्री अक्षमाला और शारङ्गी नीचयोनि के उदाहरणों से इस बात को पुष्ट किया है कि पुरुष चाहे जैसी नीच स्त्री को विवाह सकते हैं, वह उन पुरुषों के सङ्ग से पवित्र होजाती हैं। धन्य! पुरुष बड़े स्वतन्त्र रहे। और पारस की पथरी हो गये !!! और पूर्व जो द्विजों को सवर्णा स्त्री से ही विवाह करना कहा था, उस के विरोध का भी इस रचना वाले ने कुछ भय न किया, तथा मन्दपाल के वर्णन को जो मनु जी से बहुत पीछे हुवा है, मनुवाक्य (वा भृगुवाक्य ही सही, यदि मनु और भृगु एक काल में वर्त्तमान थे तो) में "जगाम" इस परोक्षभूतार्थ लिट् लकार से अत्यन्त प्राचीन वर्णन करना असम्भव है॥ इत्यादि कारणों से हमारी सम्मति में यह रचना पश्चात् की है और १३ वें का २५ वें से सम्बन्ध भी ठीक मिलता है) ॥२४॥

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा। प्रेत्येह च सुखोदर्कान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥२५॥ प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः। स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥२६॥

अर्थ-यह सदा शुभ लोकाचार स्त्रीपुरुषसम्बन्धी कहा। अब इस लोक तथा परलोक में शुभ सुखके हेतु सन्तानधर्मों को सुनो॥२५॥ये स्त्रियां बड़ी भाग्यवती और सन्तान के हेतु और सत्कार (पूजन) योग्य तथा घरकी शोभा हैं। और घरों में स्त्री तथा लक्ष्मी=श्री में कुछ भेद नहीं है (अर्थात् दोनों समान हैं) ॥२६॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् । प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७ ॥ अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा । दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥२८॥

अर्थ–पुत्र का उत्पन्न करना और हुवे का पालन करना तथा प्रतिदिन अतिथि तथा मित्रों के भोजनादि लोकाचार का प्रत्यक्ष आधार स्त्री ही है ॥२७॥ पुत्रोत्पादन, धर्मकार्य (अग्निहोत्रादि), शुश्रूषा, उत्तम रति तथा पितरों का और अपना स्वर्ग (सुख); ये सब भार्या के आधीन हैं ॥२८॥

"पतिंयानाभिचरतिमनोवाग्देहसंयता । साभर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीतिचोच्यते॥२९॥व्यभिचारात्तुभर्तुःस्त्रीलोकेप्राप्नोतिनिन्द्यताम्। शृगालयोनिंचाप्नोतिपापरोगैश्चपीड्यते ॥३०॥"

"अर्थ–जो स्त्री मन वाणी देह से संयमयुक्त, पति से भिन्न व्यभिचार नहीं करती, वह पतिलोकों को प्राप्त होती है। और शिष्ट लोगों से साध्वी कही जाती है ॥२९॥ पुरुषान्तरसंपर्क से स्त्री लोगों में निन्दा और जन्मान्तर में शृगाल योनि को पाती है तथा पाप के रोगों से पीडित होती है ॥" (५ अध्याय के१६४।१६५ से पुनरुक्त हैं। ठीक यही पाठ और अर्थ वहां है)॥३०॥

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः । विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥ भर्तुःपुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि । आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥

अर्थ–पुत्र के विषय में पहले शिष्ट महर्षियों का कहा हुआ यह वक्ष्यमाण पवित्र सर्वजनहितकारी विचार सुनो ॥ ३१ ॥ भर्ता का पुत्र होता है। ऐसा लोग जानते हैं। परन्तु भर्ता के विषय में दो प्रकार की बात सुनते हैं। कोई उत्पन्न करने वाले को लड़के वाला कहते हैं। और दूसरे क्षेत्र के स्वामी=पति को लड़के वाला कहते हैं ॥ ३२ ॥ (आगे इस विवादका निर्णय है)

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् । क्षेत्रबीजसमायोगात्संभवः सर्वदेहिनाम् ॥३३॥विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् । उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥३४॥

अर्थ—खेत रूप स्त्री और बीज रूप पुरुष होता है। इस कारण खेत और बीज के मिलने से संपूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥३३॥ कहीं बीज प्रधान है और कहीं क्षेत्र। परन्तु जहां दोनों समान हैं,वह उत्पत्ति प्रशस्त है ॥ ३४ ॥

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते। सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥३५॥ यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते। तादृग्रोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥३६॥

अर्थ—बीज और खेत इन दोनों में बीज प्रधान है, क्योंकि संपूर्ण जीवों की उत्पत्ति बीजों ही के लक्षण से जानी जाती है ॥३५॥ जिस जाति का बीज उचित समय (वर्षादि ऋतु) में संस्कृत खेत में बोया जाता है,उस प्रकार का ही बीज अपने रङ्गरूपादि गुणों से युक्त उस खेत में उत्पन्न होता है॥ ३६ ॥

इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते। न च योनिगुणान् कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु॥३७॥भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीबलैः। नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः॥३८॥

अर्थ—यह भूमि प्राणियों की सनातन योनि कही जाती है। और बीज,भूमि के किन्हीं गुणों को पुष्ट नहीं करता(किन्तु अपने ही गुणों को बढ़ाता है)।॥३७॥ एक प्रकार की भूमि के खेत में भी किसान लोग समय पर अनेक बीज(यवधान्यादि) बोते हैं,परन्तु अपने २ स्वभाव से नाना रूप उत्पन्न होते हैं (अर्थात् एक भूमि होने से एक रूप नहीं होता,किन्तु बीजों ही के अनुरूप भिन्न२होते हैं)॥३८॥

व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः। यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥३९॥ अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते। उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥ ४० ॥

अर्थ—साठी धान मूंग तिल उड़द यव लहसन और गन्ने;ये सब जैसे २ बीज हों, वैसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥ बोया कुछ हो और उत्पन्न कुछ हो,ऐसा नहीं होता, जो २ बीज बोया जाता है, वही उत्पन्न होता है ॥४०॥

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना। आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति॥४१॥ "अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति

पुराविदः। यथाबीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥४२॥ ”

अर्थ—वह बीज बुद्धिमान् और शिष्ट तथा ज्ञान विज्ञान के जाननेवाले और आयु की इच्छा करने वाले को दूसरे की स्त्री में कभी न बोना चाहिये ।। ४१ ॥ “ भूत काल के जानने वाले इस विषय में वायु की कही गाथा अर्थात् छन्दोविशेषयुक्त वाक्यों को कहते हैं । यथा–पुरुष को पराई स्त्री में बीज न बोना चाहिये ।।४२।। ”

“ नश्यतीषुर्यथाविद्धःखेविद्धमनुविद्ध्यतः । तथानश्यतिवै क्षिप्रंबीजंपरपरिग्रहे ॥ ४३ ॥ पृथोरपीमांपृथिवींभार्यांपूर्वविदो विदुः । स्थाणुच्छेदस्यकेदारमाहुःशल्यवतोमृगम् ॥४४॥”

“अर्थ—जैसे दूसरे के बींधे मृग को फिर से मारने से बाण निष्फल होता है । ऐसे ही दूसरे की स्त्री में बीज का बोना शीघ्र निष्फल होता है ।।४३।। इस पृथिवी को जो पहले राजा पृथु की भार्या थी,(अनेक राजाओं के संबन्ध होते भी) पुराने लोग पृथु की भार्या ही जानते हैं। ऐसे ही लकड़ी आदि काटके प्रथम खेत बनाने वाले का खेत और जिसने पहले शिकार किया उसी का मृग है (ऐसे ही पहिले विवाह करने वाले का पुत्र होता है। पश्चात् केवल उत्पन्न करने वाले का नहीं ॥ स्पष्ट है कि यह वायुगीता पृथु राजा से पीछे मनु में मिलाई गई) ।। ४४ ।।”

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह। विप्राःप्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥४५॥ न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते । एवं धर्मं विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम् ॥४६॥

अर्थ—स्त्री और आपा तथा प्रजा ये तीनों मिलकर एक पुरुष कहाता है। तथा वेद के जानने वाले विप्र कहते हैं कि जो पति है, वही भार्या है(जैसा कि कुल्लूक ने शतपथ का प्रमाण दिया है कि–अर्धो ह वा एष आत्मनस्तस्माद्यज्जायां न विन्दते० इत्यादि) ॥४५॥ विक्रय वा त्याग से स्त्री, पति से नहीं छूट सकती, ऐसा पूर्व से प्रजापति का रचा हुवा नित्य धर्म हम मानते हैं ।।४६।

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते। सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥४७॥ यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजा-

विकासु च । नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥ ४८॥

अर्थ—भाग एक वार ही किया जाता है और एक ही वार कन्यादान होता है और एक ही वार वचन दिया जाता है । सज्जनों की ये तीन बातें एक ही वार होती हैं (अर्थात् लौट फेर नहीं होता) ॥ ४७ ॥ जैसे गाय, घोड़ा, ऊंट, दासी, भैंस, भेड़; इन में सन्तान उत्पन्न करने वाला, उस का भागी नहीं होता, वैसे ही दूसरे की स्त्री में भी (जानो) ॥४८॥

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः । ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥४९॥ यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् । गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥५०॥

अर्थ—जो विना खेत के बीज वाले(अपने बीज को)दूसरे के खेत में बोते हैं, वे उत्पन्न हुवे अनाज के भागी कभी नहीं होते ॥ ४९ ॥ जो दूसरे की गायों में सांड सौ १०० भी बछड़े पैदा करे,तो भी वे बछड़े गाय वालों के ही होते हैं, सांड का शुक्रसेचन निष्फल होता है ॥५०॥

तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः । कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम् ॥५१॥ फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा । प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

अर्थ—उसी प्रकार विना खेत वाले, बीज को दूसरे के खेत में बोवें तो खेत वाले ही का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। बीज वाला फल नहीं पाता ॥५१॥ जहां पर खेत वाले और बीज वाले इन दोनों के फल के बांट का नियम कुछ नहीं हुवा हो, वहां प्रत्यक्ष में खेत वाले का प्रयोजन सिद्ध होता है । इस लिये बीज से योनि बहुत बलवती है ॥५२॥

क्रियाभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते । तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥५३॥ ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति । क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—परन्तु "जो इस खेत में उत्पन्न होगा वह हमारा तुम्हारा दोनोंका रहेगा" इस नियम पर खेत वाला बोने के लिये बीज वाले को देता है तो उस के दोनों लोग भागी होते देखे गये हैं ॥ ५३ ॥ जो बीज जल के वेग

वा वायु से दूसरे के खेत में गिरके उत्पन्न हो उस के फल का भागी खेत वाला ही होता है, न कि बोने वाला ।।५४।।

एष धर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च। विहङ्गमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥५५॥ एतद्वःसारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम्। अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥५६॥

अर्थ—यह (४९ से ५४ तक) व्यवस्था गाय, घोड़ा, दासी, ऊंट, बकरी, भेड़, पक्षी और भैंस की संतति में जाननी चाहिये॥५५॥ यह बीज और योनि के प्राधान्य और अप्राधान्य तुम लोगों से कहे। अब स्त्रियों के आपत्काल का धर्म अर्थात् संतान न होने में क्या करना चाहिये सो कहता हूं ।।५६।।

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा। यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥५७॥ ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम्। पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥५८॥

अर्थ—बड़े भाई की स्त्री छोटे भाई को गुरुपत्नी के समान है। और छोटे की स्त्री, बड़े को पुत्रवधू के समान कही है ।।५७।। बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री के साथ वा छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री के साथ सन्तान रहते हुवे नियोगविधि से भी गमन करने से (दोनों) पतित होते हैं (किन्तु–)॥५८॥

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया। प्रजेप्सिताधिगन्तव्या संतानस्य परिक्षये ॥५९॥ विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तोवाग्यतो निशि। एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥६०॥

अर्थ—सन्तान न हो तौ, पुत्र की इच्छा से भले प्रकार नियोग की हुई स्त्री को देवर से या अन्य सपिण्ड से यथेष्ट सन्तान उत्पन्न करनी चाहिये ।।५९।। विधवा के साथ नियोग करने वाला शरीर में घृत लगा कर मौन हो कर रात्रि में (भोग करे, इस प्रकार) एक पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा कभी न करे ।।६०।।

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः। अनिर्वृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥६१॥ विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि। गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥६२॥

अर्थ—दूसरे आचार्य जो नियोग से पुत्रोत्पादन की विधिको जाननेवाले हैं, वे उन दोनों स्त्रीपुरुषों के नियोग के तात्पर्य को (१ पुत्रसे) सिद्ध न होता देखते हुवे स्त्रियों में दूसरा पुत्र उत्पन्न करना धर्म से मानते हैं।।६१॥ विधवा में नियोग के प्रयोजन (गर्भधारण) को विधि से प्राप्त होने पर बड़े और छोटे भाई की स्त्रियों से दोनों आपस में गुरुपत्नी और पुत्रवधू के सा व्यवहार करें ।।६२।।

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः। तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥ ६३ ॥ नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः। अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्॥६४॥

अर्थ—छोटा और बड़ा भाई आपसमें अपनी भौजाइयों के साथ नियोग की विधि को छोड़ कर अपनी इच्छासे भोग करें तो वे दोनों पतित गुरुकी स्त्री और पुत्रवधू से गमन करने वाले हों ।। ६३ ।। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को विधवा स्त्री का दूसरे वर्ण के साथ नियोग न करना चाहिये, दूसरे के साथ नियोग की हुई (स्त्रियें) सनातन धर्म का नाश करती हैं ।।६४।।

"नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् । न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥ अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः । मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥६६॥"

"अर्थ—विवाहसम्बन्धी मन्त्रों में कहीं नियोग नहीं कहा है । और न विवाह की विधि में पुनर्विवाह कहा है ।। ६५ ।। यह प्रोक्त=विधान किया हुवा भी मनुष्यों का नियोग, राजा वेनके शासनकाल में विद्वान् द्विजोंद्वारा पशुधर्म और निन्दायुक्त कहा गया (क्योंकिः—)।।६६।।"

"समहीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा । वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ६७ ॥ ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् । नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥६८॥"

"अर्थ—वह वेन राजा जो राजर्षियों में बड़ा और पूर्वकालमें संपूर्ण पृथिवी को भोगता हुवा था, काम से नष्ट बुद्धि होके वर्णसङ्कर करने लगा था ॥ ६७ ॥ (वेन राजा के समय) से जो कोई मोह के कारण सन्तान के लिये विधवा स्त्री का नियोग करता है उस की साधु लोग निन्दा करते हैं (किन्तु वेन से पूर्व इस की निन्दा न थी) ।। ६८ ॥ "

(यद्यपि ६५ से ६८ तक ४ श्लोक मनु वा भृगु के बनाये भी नहीं हैं। क्योंकि स्वायंभुव मनु सृष्टि के आरम्भ में हुवे और वेन राजा वह था जिससे पृगु हुवा, तौ वेन के वैवस्वत मन्वतर में होने वाले जन्म को स्वायंभुव मनु अपने से पूर्व की भांति कैसे कह सक्ते हैं कि भूतकाल में राजा वेन के राज्य-समय से नियोग की परिपाटी चल गई। इस लिये निश्चय ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। परन्तु तथापि इन से नियोग की बुराई वा पूर्व मनुप्रोक्त नियोग से परस्पर विरोध नहीं आता। किन्तु यह आशय निकलता है कि वेन राजा ने कामवश नियोग की स्ववर्णानुसारिणी परिपाटी को तोड़कर एक वर्ण का दूसरे वर्ण में नियोग प्रचरित कर वर्णसंकर कर दिया। तब से सज्जनों में नियोग निन्दित समझा जाने लगा। ६५ का आशय नियोग के निषेध में नहीं है, किन्तु यह है कि विवाह और नियोग भिन्न २ हैं। एक बात नहीं हैं। क्योंकि विवाह के मन्त्रों में नियोग नहीं कहा है। किन्तु विवाह से भिन्न प्रकरण के मन्त्रों (अथर्व ९। ५। २७ ।। ९। ५। २८ ।। ५। १७। ८।। १८। ३। १ ऋ० १०। १८। ८ इत्यादि) में तौ नियोगविधान है। विधवा का पुनर्विवाह विहित नहीं है। इस से नियोग का निषेध नहीं आता, किन्तु पुनर्विवाह का निषेध है। ६६ का तात्पर्य भी यही है कि पहिले द्विजों का द्विजों में ५९ के अनुसार नियोग चला आता था, परन्तु जब राजा वेन ने एक वर्ण का दूसरे वर्ण से भी प्रचरित कर दिया, तब से यह निन्दित और पशुधर्म कहाने लगा। इस में भी सब से पुराने भाष्यकार मेधातिथि ने (द्विजैर्हि-विद्वद्भिः) के स्थान में (द्विजैरऽविद्वद्भिः) पाठ माना है और यह भाष्य किया है कि (येऽविद्वांसः सम्यक् शास्त्रं न जानन्ति) शास्त्र के न जानने वालों ने पशुधर्म और निन्दित कहना आरम्भ कर दिया ॥ ६७ वें में इस का कारण भी स्पष्ट बताया है कि क्यों यह कर्म निन्दित माना जाने लगा कि उस ने वर्णों का संकर (घोल मेल) कर दिया। ६८ वें में स्पष्ट कथन है ही कि तब से नियोग करने वालों की निन्दा होने लगी है। अर्थात् वेन से पूर्व द्विजों का द्विजों में सवर्ण स्त्री पुरुषों का नियोग निन्दित न था)॥ ६८ ॥

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥६९॥यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्। मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥ ७०॥

अर्थ—जिस कन्या (पतिसंभोगरहिता) का सत्य वाग्दान (कन्यादान संकल्प) करने के पश्चात् पति मर जावे उस को इस विधान से निज देवर प्राप्त हो (कि—) ॥ ६९ ॥ (वह देवर) नियोग विधि से इस के पास जा कर श्वेत वस्त्र धारण की हुई और काय मन वाणी से पवित्र हुई के साथ सन्तानोत्पत्ति पर्यन्त गर्भाधानकाल में एक एक वार परस्पर गमन करे (गर्भाधान हो जावे तब मैथुन त्याग दे) ॥ ७० ॥

न दत्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः । दत्वा पुनःप्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥७१॥ विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम् । व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥७२॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष किसी को कन्यादान देकर फिर दूसरे को न देवे । क्योंकि एक को देकर दूसरे को देने वाला, मनुष्य की चोरी के दोष को प्राप्त होता है ॥७१॥ विधिपूर्वक ग्रहण की हुई भी निन्दित कन्या का त्याग करदे जो कि दुष्टा तथा रोगिणी और छल से दी गई हो ॥ ७२ ॥

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत् । तस्य तद्वितथं कुर्यात्कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥ विधाय वृत्तिं भार्यायाःप्रवसेत्कार्यवान्नरः । अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥७४॥

अर्थ—जो दोषवाली कन्या का विना प्रकट किये विवाह करदे, उस कन्या देने वाले दुष्ट के कन्यादान को निष्फल करदे (अर्थात् उस का त्याग कर दे) ॥७३॥ कार्यवाला पुरुष स्त्री के अनाज कपड़े आदि का विधान करके परदेश जावे । क्योंकि अनाज आदि से पीड़ित, शीलवती भी स्त्री बिगड़ सक्ती है ॥७४॥

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता । प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥७५॥ प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः । विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥७६॥

अर्थ—भोजन आच्छादनादि देकर पति के देशान्तर जाने पर स्त्री शरीर के शृङ्गारत्यागादि नियम से निर्वाह करे और जो विना प्रबन्ध किये जावे, तो अनिन्दित शिल्पों से निर्वाह करे ॥७५॥ धर्मकार्य के लिये परदेश गये नर की स्त्री आठ वर्ष पर्यन्त प्रतीक्षा करे, यश और विद्या के लिये गया हो तो छः वर्ष, और काम को गया हो तो तीन वर्ष प्रतीक्षा करे ॥ ७६॥

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः। ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत्॥७७॥ अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्त-मेव वा। सा त्रीन् मासान् परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा॥७८॥

अर्थ—पति, द्वेष करने वाली स्त्री की एक वर्ष पर्यन्त प्रतीक्षा करे। फिर उसके अलङ्कारादि सब छीन ले और उसके साथ न रहे (केवल अन्न वस्त्र मात्र दे) ॥७७॥ जो स्त्री, प्रमादी वा मदमत्त वा उन्मादी वा रोगी पति की आज्ञा भङ्ग करे तो वह वस्त्र भूषण उतार कर तीन महीने तक त्यागने योग्य है॥७८॥

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम्। न त्यागोऽस्ति द्विष-न्त्याश्च न च दायापवर्तनम्॥७९॥ मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रति-कूला च या भवेत्। व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिंस्राऽर्थघ्नी च सर्वदा॥

अर्थ—पागल और पतित तथा नपुंसक और बीजरहित और पापरोगी; इन से द्वेष करने वाली का त्याग नहीं है और न उस का धन छीनना उचित है ॥७९॥ मद्य पीने वाली और बुरे चलन वाली तथा पति के विरुद्ध चलने वाली और सदा बीमार और नौकर आदि को मारने वाली और सदा धन का नाश करने वाली स्त्री हो तो उस के रहते हुवे दूसरी स्त्री करनी उचित है॥८०॥

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा। एकादशे स्त्रीजननी स-द्यस्त्वप्रियवादिनी॥८१॥ या रोगिणी स्यात्तु हिता संपन्ना चैव शी-लतः। सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित्॥ ८२॥

अर्थ—आठ वर्ष तक कोई सन्तान न हो तो दूसरी स्त्री करे। और सन्तान हो के मरते ही रहें तो दशवर्ष में। और लड़की ही होती हों तो ग्यारह वर्ष के पश्चात्, तथा अप्रिय बोलने वाली हो तो उसी समय दूसरी करे ॥८१॥ जो सदा बीमार रहे, परन्तु पति के अनुकूल और शीलवती हो तो उससे आज्ञा लेकर दूसरी स्त्री करे और उस का अपमान करना कभी उचित नहीं है ॥८२॥

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात्। सा सद्यःसन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ॥८३॥ प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदये-ष्वपि। प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट्॥ ८४॥

अर्थ–दूसरी स्त्री आने से रूंठी हुई पूर्व स्त्री घर से निकल जावे तौ वह उसी समय रोक के रखनी चाहिये या मा बाप के घर पहुंचा देवे ।।८३।। जो स्त्री विवाहादि उत्सवों में निषेध करने पर भी मद्य पीवे या नाच तमाशे में जावे तौ वह पूर्वोक्त छः "कृष्णल" राजदण्ड योग्य है ।।८४।।

"यदिस्वाश्चापराश्चैवविन्देरन्योषितोद्विजाः। तासांवर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यंपूजाचवेश्मच ॥८५॥ भर्तुःशरीरशुश्रूषांधर्मकार्यंच नैत्यिकम् । स्वाचैवकुर्यात्सर्वेषांनास्वजातिःकथंचन ॥८६॥"

"अर्थ–यदि द्विजाति (अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) अपनी जाति वाली वा दूसरी जातिवालियों से विवाह करें तौ उन की बड़ाई और मान तथा घर वर्णक्रम से हो (२ पुस्तकों में "वेश्मनः" पाठ है) ।।८५ ।। पति के शरीर की सेवा और नैत्यिक धर्मकार्य को सब की स्वजातीय स्त्रियां ही करें, अन्य जाति की कभी न करें ।।८६"

"यस्तुतत्कारयेन्मोहात्सजात्यास्थितयान्यथा।
यथाब्राह्मणचाण्डालःपूर्वदृष्टस्तथैवसः॥८७॥,,

अर्थ–"जो स्वजातीय के रहते हुवे दूसरी से पूर्वोक्त तीन कर्म मोहवश करावे तौ जैसे ब्राह्मण चाण्डाल पुरातन मुनियों ने कहा है,वैसा ही यह है ।।८७।।" (८५।८६।८७ वें श्लोक इस लिये माननीय नहीं कि ये द्विजों के लिये अध्याय ३ के श्लोक १५।१६ के अनुसार पतित कराने वाले और सवर्णा के साथ विवाह की विवाहप्रकरणोक्त (सवर्णां लक्षणा७)इत्यादि मनु की पूर्वाज्ञा के विरुद्ध हैं)।।८७॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥८८॥

अर्थ–कुल आचारादि से उच्च और सुन्दर तथा गुणों में बराबर वर के लिये कुछ कम आयु वाली भी कन्या यथाविधि दे देवे ।। ८८ ।। (८८ वें से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रक्षिप्त है–

[प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयान्वितः ।
ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यामेनो दातारमृच्छति]

ऋतुकाल के भय से नंगी कन्या का ही दान करदे। क्योंकि ऋतुमती के बैठे रहने से दाता को पाप चढ़ता है)।। ८८।।

काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥८९॥ त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती। ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥

अर्थ—चाहे कन्या ऋतुवाली होकर मरने तक घरमें बैठी रहै, परन्तु गुणहीन के लिये इस का कभी विवाह न करे।।८९।। अपने से श्रेष्ठ के साथ विवाह के लिये रजस्वला कन्या तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे, फिर अपने बराबर गुण वाले ही पति को विवाह ले ॥ ९० ॥

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम्। नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥ ९१ ॥ अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा। मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ॥ ९२ ॥

अर्थ—यदि पिता आदि की न दी हुई कन्या आप ही पति को वर ले तौ कन्या को कुछ पाप नहीं और न उसके पति को कुछ पाप होता है ॥ ९१ ॥ परन्तु स्वयं विवाह करने वाली कन्या, पिता और माता या भाई का दिया हुवा आभूषण न ले, यदि ले तौ चोर हो ।।९२।।

"पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन्। स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥९३॥ त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्। त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ९४ ॥"

"अर्थ—ऋतु वाली कन्या को हरण करता हुवा उस के पिता को शुल्क न दे। क्योंकि रजस्वला के रोकने से वह स्वामित्व से हीन होजाता है। (धन्य! क्या विना ऋतुमती का पिता "स्वामी" था ! ! !) ।।९३।। तीस वर्ष का पुरुष बारह वर्ष की मनोहारिणी कन्या से विवाह करे वा चौबीस वर्ष वाला आठ वर्ष वाली से करे। इस से शीघ्र करने से धर्म में पीडित होता है ।।९४।।

(९३। ९४ के श्लोक इस लिये माननीय नहीं जान पडते हैं कि इन में कन्या का मूल्य ऋतुमती होने पर न देना कहा है। तौ क्या विना ऋतुमती का विवाह होसक्ता है? और क्या विना ऋतुमती का मूल्य देना ही चाहिये? विना ऋतु के विवाह करना ९० के विरुद्ध है। और मूल्य लेना ९८ के विरुद्ध है) ।।९४।।

देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः। तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥ ९५ ॥ प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवाः। तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ ९६ ॥

अर्थ–(भगोअर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः) इस मन्त्रानुसार देवतों की दी हुई भार्या को पति पाता है, कुछ अपनी इच्छासे ही नहीं, इस लिये देवतों का प्रिय आचरण करता हुआ उस सती का नित्य पालन करे।।९५।। गर्भधारण करनेके लिये स्त्रियोंको उत्पन्न किया और वीर्यसंतानके लिये पुरुष उत्पन्न किये हैं। इससे स्त्री के साथ पुरुष का वेद में समान धर्म कहा है।।९६।।

"कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः। देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥९७॥" आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन्। शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥९८॥"

अर्थ–"कन्या का शुल्क देने पर यदि शुल्क देने वाला मर जावे तो देवर को कन्या देदेनी चाहिये। यदि कन्या स्वीकार करे तो (यह अगले ही ९८ के विरुद्ध है)।।९७।।"शूद्र भी (द्विजों की तो कथा ही क्या) लड़की देता हुवा शुल्क ग्रहण न करे। शुल्क ग्रहण करने वाला छिपा हुवा कन्या का विक्रय करता है।।९८।।

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः। यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥ नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु। शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ १०० ॥

अर्थ–यह पहिले शिष्ट पुरुष कभी नहीं करते थे और न कोई शिष्ट इस समय करते हैं, जो कि एक के लिये कन्यादान को अङ्गीकार करके दूसरे को दीजावे।।९९।। पूर्व जन्मों में भी हमने कभी शुल्कसंज्ञक मूल्य से ढका छिपा लड़की का बेचना नहीं सुना ।। १०० ।।

अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः। एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥ तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ। यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥

अर्थ–भार्या पति का मरण पर्यन्त आपसमें व्यभिचार न होना ही स्त्री पुरुषों

का संक्षेप से श्रेष्ठ धर्म जानना चाहिये ।।१०१।। विवाह वाले स्त्री पुरुषों को सदा ऐसा यत्न करना चाहिये जिस में कभी आपस में जुदाई न हो ।।१०२।।

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः । आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥१०३॥ ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् । भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥

अर्थ–यह भार्या और पति का आपस में प्रीतियुक्त धर्म तुम्हारे प्रति कहा और सन्तान के न होने में अपत्य की प्राप्ति भी कही। अब दायभाग को सुनो ।।१०३।। माता पिता के मरने पर भाई लोग मिल के बाप के रिक्थ(जायदाद आदि)के बराबर भाग करें। उन के जीवते हुवे,पुत्रों को अधिकार नहीं ।।१०४।।

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः । शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥१०५॥ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः । पितॄणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥ १०६ ॥

अर्थ–अथवा पिता के सम्पूर्ण धन को ज्येष्ठ पुत्र ही ग्रहण करे और शेष छोटे भाई खाना कपड़ा लेवें,जैसे पिता के सामने रहते थे ।। १०५ ।। ज्येष्ठ के उत्पन्न होने मात्रसे मनुष्य पुत्रवाला कहलाता है और पितृऋण से छूट जाता है। इस कारण ज्येष्ठ पुत्र सम्पूर्ण धन लेने योग्य है ।।१०६।।

यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते । स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥१०७॥पितेव पालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रातॄन् यवीयसः। पुत्रवच्चापि वर्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः॥१०८॥

अर्थ–जिस के उत्पन्न होने से ऋण दूर होता है और मोक्ष प्राप्त होता है उसी को धर्मज पुत्र जानते हैं, औरों को कामज कहते हैं ।। १०७ ।। ज्येष्ठ भ्राता छोटे भाइयों को पुत्र के समान पालन करे और छोटे भाई भी बड़े भाई को धर्म से पिता के समान मानें ।।१०८।।

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः । ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥१०९॥ यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः । अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स संपूज्यस्तु बन्धुवत्॥११०॥

अर्थ–ज्येष्ठ कुल को बढ़ाता है और ज्येष्ठ ही कुल का नाश करता है और ज्येष्ठ ही लोगों में अति पूज्य है। और ज्येष्ठ सत्पुरुषों से निन्दा को नहीं पाता ॥१०९॥ जो ज्येष्ठ भाई ज्येष्ठवृत्ति हो (अर्थात् पितृवत् पोषणादि करे) वह माता पिता के समान पूज्य है। और यदि माता पिता के तुल्य पोषणादि न करे तो बन्धुवत् पूजन योग्य है ॥११०॥

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया। पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया ॥१११॥ ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्। ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः॥११२॥

अर्थ–इस प्रकार बिना बांटे सब भाई साथ रहैं अथवा धर्म की इच्छा से सब भाई विभाग करके अलग रहैं। अलग२ में धर्म बढ़ता है,इस लिये विभाग धर्मानुकूल है ॥१११॥ उद्धार (जो निकाल कर–भाग के अतिरिक्त भेंट दिया जाय) बड़े को सब द्रव्यों से उत्तम बीसवां भाग होना चाहिये और मझले का चालीसवां तथा छोटे का ८० वां भाग होना चाहिये (जो बचे उस को ११६ के अनुसार सब बराबर बांट लेवें) ॥११२॥

ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम्। येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥ ११३ ॥ सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः। यच्च सातिशयं किञ्चिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम्॥११४॥

अर्थ–ज्येष्ठ और कनिष्ठ,पूर्व श्लोक में जैसा कहा है वैसा उद्धार ग्रहण करें और ज्येष्ठ तथा कनिष्ठों से अतिरिक्तों (मध्यमों) का मध्यम भाग होना चाहिये ॥ ११३ ॥ सब प्रकार के धनों में जो श्रेष्ठ धन हो उस को ज्येष्ठ ग्रहण करे और जो सब से अधिक हो उसको तथा जो एक वस्तु १० वस्तुवों में अधिक उत्तम हो उस को भी ज्येष्ठ ग्रहण करे ॥ ११४ ॥

उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु। यत्किञ्चिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम्॥११५॥एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान्प्रकल्पयेत्। उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥ ११६ ॥

अर्थ–पूर्व श्लोकमें दश में श्रेष्ठ वस्तु बड़ा पावे,इत्यादि उद्धार कहा,परन्तु यह स्वकर्मों में समृद्ध भ्राताओं का नहीं है। किन्तु वे जो कुछ ज्येष्ठ को देवें वही

समानार्थ है ॥११५॥ पूर्वोक्त प्रकार से उद्धार निकालने पर बराबर भाग करें। यदि कोई उद्धार न निकाले तो आगे कहे अनुसार भाग बांटें ॥११६॥

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः। अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः॥११७॥स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्। स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः॥११८॥

अर्थ—ज्येष्ठ पुत्र एक भाग अधिक (अर्थात् दो भाग) ग्रहण करे और उस से छोटा डेढ भाग ग्रहण करे और शेष छोटे सब एक एक भाग ग्रहण करें। इस प्रकार धर्म की व्यवस्था है ॥ ११७ ॥ भाई लोग अपने अपने भागों में से चौथा भाग बहनों को देवें। यदि देना न चाहें तो पतित हों ॥ ११८ ॥

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत्। अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥११९॥ यवीयान् ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि। समस्तत्र विभागःस्यादिति धर्मो व्यवस्थितः१२०

अर्थ—बकरी भेड़, घोड़ा आदि एक खुर वाले सहित पशु का विषम संख्या होने पर कभी भाग न करे। किन्तु वह ज्येष्ठ पुत्र का ही है ॥११९॥ यदि कनिष्ठ भाई, ज्येष्ठ की भार्या में नियोगविधि से पुत्र उत्पन्न करे तो वहां सम विभाग होना चाहिये। ऐसी धर्म की व्यवस्था है ॥ १२० ॥

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते। पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत्॥१२१॥"पुत्रःकनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः। कथं तत्र विभागःस्यादितिचेत्संशयो भवेत्॥१२२॥

अर्थ—प्रधान की अप्रधानता धर्मानुकूल सिद्ध नहीं है। और उत्पादन में जनक प्रधान है। इस कारण धर्म से उस (जनक) की सेवा करे॥१२१॥ "प्रथम विवाहितामें कनिष्ठ पुत्र और द्वितीय विवाहितामें ज्येष्ठ पुत्र होवे तो वहां किस प्रकार विभाग होना चाहिये, यदि इसप्रकार का संशय हो तोः—॥१२२॥

"एकंवृषभमुद्धारंसंहरेतसपूर्वजः। ततोऽपरेज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥१२३॥ ज्येष्ठस्तुजातोज्येष्ठायां हरेद्वृषभषोडशाः। ततःस्वमातृतःशेषा भजेरन्निति धारणा ॥ १२४ ॥"

"अर्थ—पहिली में उत्पन्न हुवा वह कनिष्ठ भी एक श्रेष्ठ बैल भेट में ग्रहण करे। उस के अनन्तर कनिष्ठाओं से उत्पन्न हुवे पुत्र क्रम से अपनी २ माताओं के विवाहक्रमानुसार ज्येष्ठ हों, वे एक एक वृषभ ग्रहण करें ।।१२३।।(इस श्लोक का पाठ भी अस्तव्यस्त है) यदि ज्येष्ठ पुत्र ज्येष्ठा में उत्पन्न हो तो १ बैल के साथ पन्द्रह गाय ग्रहण करे । उसके अनन्तर अपनी माता की छोटाई के हिसाब से शेष सब भाग बांट लेवें, यह निर्णय है ।। १२४ ।। "

"सदृशस्त्रीषुजातानांपुत्राणामविशेषतः । नमातृतोज्यैष्ठ्यमस्तिजन्मतोज्यैष्ठ्यमुच्यते।।१२५।।,, जन्मज्यैष्ठ्येन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम् । यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥१२६॥

अर्थ—" समस्त समान जाति की स्त्रियों में उत्पन्न हुवे पुत्रों को माता की ज्येष्ठता से ज्येष्ठता नहीं है किन्तु जन्म से ज्येष्ठता कहाती है।।१२५"।।

(१२२से १२५तक ४ श्लोक अविहित शास्त्रविरुद्ध अनेक तथा असवर्णा से विवाहों के समर्थक और ३।१५-१६ के विरुद्ध होने से त्याज्य हैं) ।। १२५ ।।

सुब्रह्मण्याख्य मन्त्र "सुब्रह्मण्यो ३ इन्द्र आगच्छ०" इत्यादि ज्योतिष्टोम में इन्द्र को बुलाने में पढ़ते हैं । उस में ज्येष्ठ पुत्र के नाम से कहते हैं कि अमुक का पिता यज्ञ करता है । सो वहां भी और जौड़िया दो पुत्रों में से गर्भों में, प्रथम जन्मने वाले को ज्येष्ठता कही है ।।१२६।।

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ।।१२७।।

अर्थ—विना पुत्र वाला इस विधिसे कन्या को "पुत्रिका" करे कि विवाह के समय में (जामाता से) कहे कि जो पुत्र इसके होगा वह मेरा जलादि दान करने वाला हो (ऐसी प्रतिज्ञा कराके विवाह करे) ॥१२७।।

(१२७ वें के आगे एक श्लोक ३ पुस्तकों में अधिक पाया जाता है :—

[अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् ।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति] ॥

भ्राता से रहिता अलंकृता कन्या आप को दूंगा, परन्तु इस में जो पुत्र उत्पन्न हो, वह मेरा पुत्र हो जावे, यह) ।। १२७ ।।

"अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः ।
विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥१२८॥"

"पहिले अपने वंश की वृद्धि के लिये आप दक्ष प्रजापतिने भी इस विधान से पुत्रिकाओं को किया था॥ १२८।।" (यह दक्ष के पश्चात् की रचना १२८।१२९ में है)

"ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश । सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥१२९॥" यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा । तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥१३०॥

अर्थ "उस प्रीतात्मा दक्षप्रजापति ने सत्कार करके दश धर्म को और तेरह कश्यप को तथा सत्ताईस कन्या चन्द्र को (पुत्रिका धर्म से) दीं थीं।।१२९।।" जैसा आपा वैसा पुत्र और पुत्र के समान कन्या है । फिर भला उसके होते हुवे अपने यहां का धन दूसरा कैसे हरे ? ।।१३०॥

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः । दौहित्र एव च हरेदऽपुत्रस्याखिलं धनम् ॥१३१॥ दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् । स एव दद्याद् द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥१३२॥

अर्थ—माता का जो धन हो वह कुमारी का ही भाग है । और अपुत्र का संपूर्ण धन दौहित्रही लेवे ॥ १३१ ॥ दौहित्र ही अपुत्र पिता का संपूर्ण धन ले और वही पिता और नाना इन दोनों को पिण्ड देवे । (पिण्डदान का तात्पर्य वृद्धावस्था में सेवार्थ भोजनग्रासादि जानो) ॥ १३२ ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः । तयोर्हि मातापितरौ संभूतौ तस्य देहतः॥१३३॥ पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते । समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥१३४॥

अर्थ—लोके में पौत्र और दौहित्रों की धर्मसे विशेषता नहीं है क्योंकि उनके माता पिता उसी के देह से उत्पन्न हैं ॥ १३३ ॥ पुत्रिका करने पर यदि पीछे से पुत्र होजावे तो वहां (पुत्र, दौहित्र के) सम विभाग करे । क्योंकि स्त्रियों को ज्येष्ठता नहीं है ॥ १३४ ॥

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथञ्चन । धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाऽविचारयन् ॥१३५॥ अकृता वा कृता वापि यं विन्देत्सदृशात्सुतम् । पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम्॥१३६॥

अर्थ—"पुत्रिका" कदाचित् पुत्ररहिता ही मरजावे, तौ उस धनको पुत्रिका का पति ही विना विचार किये लेले ।।१३५।।पुत्रिका का विधान कियाहो वा न भी किया हो, अपने समान जाति वाले जामाता से जिस पुत्र को पावे, उसी से मातामह पौत्र वाला कहावे और वही पिण्ड दे और धन ले ।। १३६ ।।

पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते । अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥१३७॥ पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः । तस्मात्पुत्रइति प्रोक्तःस्वयमेव स्वयम्भुवा ॥१३८॥

अर्थ—पुत्र के होने से लोकों को जीतता है और पौत्र के होने से चिरकाल पर्यन्त सुख में निवास करता है । और पुत्र के पौत्र (प्रपौत्र) से तौ मानो आदित्य लोक को पाता है।।१३७।।जिस कारण पुन्नाम नरक से पुत्र(सेवा करके) पिता को बचाता है, इस कारण आप ही ब्रह्मा ने "पुत्र" कहा है ।।१३८।।

पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते । दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रनं संतारयति पौत्रवत् ॥१३९॥ मातुःप्रथमतःपिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः। द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुःपितुः॥१४०॥

अर्थ—लोक में पौत्र और दौहित्र में कुछ विशेषता नहीं समझी जाती। क्योंकि दौहित्र भी इस (मातामह) को पौत्रवत् ही परलोक पहुंचाता है । ।।१३९।। पुत्रिका का पुत्र,प्रथम माता का पिण्ड करे और दूसरा मातामह का, तीसरा मातामह के पिता का (इस प्रकार तीनों की अन्नादि से सेवा करे) ।।१४०।।

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः । स हरेतैव तद्रिक्थं संप्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥१४१॥ गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्त्रिमः क्वचित् । गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥१४२॥

अर्थ—जिस का दत्तक पुत्र अध्ययनादि सम्पूर्ण गुणों से युक्त है, वह दूसरे गोत्र से प्राप्त हुवा भी उस के भाग को ग्रहण करे ।।१४१।।(जो उत्पादक पिताने

अन्य को देदिया उस) उत्पन्न करने वाले पिता के गोत्र और धन को दत्तक कभी न पावे, क्योंकि पिण्ड=ग्रास आदि देना ही गोत्र और धन का अनुगामी है, और दिये हुवे पुत्र का पिण्डादि उस जनक पिता से छूट जाता है ॥ १४२॥

अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात् । उभौ तौ नार्हतोभागं जारजातककामजौ ॥१४३॥ नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः । नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः ॥ १४४॥

अर्थ–विना नियोगविधि से उत्पन्न हुवा पुत्र और लड़के वाली का नियोग विधिसे भी देवर से उत्पन्न हुवा पुत्र, ये दोनों भाग को नहीं पाते । क्योंकि ये दोनों जार से उत्पन्न और कामज हैं ॥ १४३ ॥ नियुक्ता स्त्री में भी विना विधान उत्पन्न हुवा पुत्र (अर्थात् घृतादि लगा कर जिस नियम से रहना चाहिये, उस के विपरीत करने वालों से उत्पन्न पुत्र) क्षेत्रवाले पिता के धन को पाने योग्य नहीं है । क्योंकि वह पतित से उपन्न हुवा है ।।१४४।।

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः । क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतःप्रसवश्च सः॥१४५॥धनं यो बिभृयाद्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च । सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥ १४६ ॥

अर्थ–नियुक्ता में उत्पन्न हुवा पुत्र, क्षेत्रवाले पिता का धन लेवे, जैसे औरस लेता है। क्योंकि वह धर्म से उत्पन्न हुवा है, इस कारण क्षेत्रवाले का बीज समझा जाता है ॥ १४५ ।। जो मरे भाई तथा स्त्री का धन धारण करे, वह नियोगविधि से भाई का पुत्र उत्पन्न करके उस धन को उसी को देदेवे ।।१४६।।

या नियुक्तान्यतःपुत्रं देवराद्वाप्यवाप्नुयात् । तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७ ॥ "एतद्विधानंविज्ञेयंविभागस्यैकयोनिषु । बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषुनिबोधत ॥ १४८ ॥"

अर्थ–जो स्त्री विना नियोग देवर से वा दूसरे किसी सपिण्ड से पुत्र को प्राप्त हो, उस कामज को द्रव्य का भागी नहीं कहते ।।१४७।। " समान जाति वाली भार्या में एक पति से उत्पन्न पुत्रों के विभाग का यह विधान जानना चाहिये। अब नाना जाति की बहुत स्त्रियों में एक पति से उत्पन्न पुत्रों का (विभाग) सुनो ।। १४८ ।।"

"ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येणचतस्रस्तुयदिस्त्रियः । तासांपुत्रेषुजातेषु विभागेऽयंविधिःस्मृतः ॥१४९॥ कीनाशोगोवृषोयानमलङ्कारश्चवेश्मच । विप्रस्यौद्धारिकंदेयमेकांशश्चप्रधानतः ॥१५०॥

"अर्थ—ब्राह्मण की क्रम से (ब्राह्मणी से आदि लेके) यदि चार भार्या होवें तो उन के पुत्रों में यह विभागविधि कही है कि:—॥१४९॥ कृषि वाला बैल, अश्वादि सवारी, आभूषण, घर और प्रधान अंश, प्रधानभूत ब्राह्मणी के पुत्र को देवे (औरों को आगे कहे अनुसार दे) ॥१५०॥"

"त्र्यंशंदायाद्धरेद्विप्रोद्वावंशौक्षत्रियासुतः । वैश्याजःसार्धमेवांशमंशंशूद्रासुतोहरेत् ॥ १५१ ॥ सर्वंवारिक्थजातंतद्दशधापरिकल्प्यच । धर्म्यंविभागंकुर्वीतविधिनानेनधर्मवित् ॥१५२॥"

"अर्थ—पिता के धन से ब्राह्मणी का पुत्र तीन अंश लेवे और क्षत्रिया का सुत दो अंश तथा वैश्या का पुत्र डेढ़ अंश और शूद्रा का एक अंश लेवे ॥ १५१ ॥ अथवा (विना उद्धार के निकाले) संपूर्ण धन के दश भाग करके धर्म का जानने वाला इस विधि से धर्म्य विभाग करे कि:—॥१५२॥"

"चतुरोंशान्हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः। वैश्यापुत्रोहरेद्द्व्यंशमंशंशूद्रासुतोहरेत्॥१५३॥ यद्यपिस्यात्तुसत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपिवाभवेत् । नाधिकंदशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्रायधर्मतः॥१५४॥"

"अर्थ—(१० भागों में से) चार अंश ब्राह्मणी का पुत्र और क्षत्रिया का तीन अंश तथा वैश्या का पुत्र दो अंश और शूद्रा का एक अंश ले।।१५३।। यद्यपि सत्पुत्र हो वा असत्पुत्र हो परन्तु धर्म से शूद्रा के पुत्र को दशमांश से अधिक न दे।।१५४।।"

"ब्राह्मणक्षत्रियविशांशूद्रापुत्रोनरिक्थभाक् । यदेवास्यपितादद्यात्तदेवास्यधनंभवेत् ॥१५५॥ समवर्णासुयेजाताःसर्वेपुत्राद्विजन्मनाम् । उद्धारंज्यायसेदत्वाभजेरन्नितरेसमम् ॥१५६॥"

"अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों का शूद्रा से उत्पन्न हुआ पुत्र धन का भागी नहीं, किन्तु जो कुछ उस का पिता दे, वही उस का धन हो ॥ १५५ ॥

समान जाति की भार्या में द्विजातियों से उत्पन्न हुवे सब पुत्र ज्येष्ठ को उद्धार देकर शेष को सम भाग करके बांट लें ।। १५६ ।।"

"शूद्रस्यतु सवर्णैवनान्याभार्याविधीयते । तस्यांजाताःसमांशाः स्युर्यदिपुत्रशतंभवेत्।।१५७।। पुत्रान्द्वादशयानाहनृणांस्वायम्भुवोमनुः । तेषांषड्बन्धुदायादाःषडदायादबान्धवाः।।१५८।।"

"अर्थ—शूद्र को समान जाति ही की भार्या कही है, दूसरे वर्ण की नहीं कही । उस शूद्रा में यदि १०० पुत्र भी उत्पन्न हों तौ भी समान अंश वाले ही हों ।।१५७।। जो मनुष्यों के द्वादश पुत्र स्वायम्भुव मनु ने कहे हैं उन में छः बन्धुदायाद हैं और छः अदायादबान्धव हैं ।।१५८।।"

(१४८ से १५८ तक ११ श्लोक भी हमारी संमति में अमान्य हैं । क्योंकि यथार्थ मनु की आज्ञा से द्विजों को सवर्णा से ही विवाह कहा है । असवर्णा से विवाह करने पर पतित हो जाते हैं । तब ब्राह्मणत्वादि द्विजत्व ही नहीं रहता । १४८ में इन असवर्णाओं के दायभाग की प्रस्तावना है । १४९ से १५४ तक ब्राह्मण की ४ स्त्रियों के, जो चारों वर्णों में से एक २ हों, पुत्रों का दायभागहै। फिर१५५में शूद्रापुत्रको दायभागित्वका निषेध करकेये अमान्य श्लोक आपस में भी लड़तेहैं। तथा ब्राह्मण की चारों वर्ण की ४ स्त्रियों के पुत्रों का तौ वर्णन किया, परन्तु क्षत्रिय की ३ वर्ण की ३ स्त्रियोंऔर वैश्य की २ वर्ण की २ स्त्रियों के पुत्रकोरंकोर ही रक्खे हैं । १५८ वां स्पष्ट ही अन्यकृतहै जो इन अपने से पूर्व के १० के भी अन्यकृत होने की पुष्टि करता है)।। १५८ ।।

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एवच। गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्।।१५९।।कानीनश्च सहोढश्च क्रीतःपौनर्भवस्तथा। स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः।।१६०।।

अर्थ—औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न, अपविद्ध; ये छः धन के भागी बान्धव हैं।।१५९।।कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त, शौद्र; ये छः धन के भागी नहीं है किन्तु केवल बान्धवहैं (इनके लक्षण १६६सेकहेंगे)।।१६०।।

यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैःसंतरन् जलम् । तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैःसंतरंस्तमः।।१६१।। यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ । यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद्गृह्णीत नेतरः।।१६२।।

अर्थ—बुरी (टूटी फूटी) नावों से जल में तैरता हुवा जिस प्रकार के फल को पाता है, उसी प्रकार का फल कुपुत्रों से दुःख को तिरने वाला पाता है ॥१६१॥ यदि अपुत्र के क्षेत्र में नियोगविधि से एक पुत्र हो, और किसी प्रकार दूसरा औरस पुत्र भी हो जावे तो दोनों अपने २ पिता के धन को ग्रहण करें, अन्य को अन्य का पुत्र नहीं लेसकता ॥१६२॥

एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः । शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम्॥१६३॥षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् । औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥१६४॥

अर्थ—एक औरस पुत्र ही पिता के धन का भागी होता है, शेष सब को दया से वस्त्राच्छादनादि दे देवे ॥१६३॥ औरस पुत्र दाय का विभाग करता हुवा, क्षेत्रज को छठा वा पांचवां भाग पितृधन से देदवे ॥ १६४ ॥

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ । दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥१६५॥ स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम् । तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम्॥१६६॥

अर्थ—औरस और क्षेत्रज ये दोनों पुत्र (उक्त प्रकार से) पितृधन के लेने वाले हों और क्रम से शेष दश पुत्र गोत्रधन के भागी हों ॥१६५॥ विवाहादि संस्कार किये हुवे अपने क्षेत्र में आप जिस को उत्पन्न करे, उसको पहिले कहा हुवा "औरस" पुत्र जानिये ॥१६६॥

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा । स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः॥१६७॥माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि । सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः ॥१६८॥

अर्थ—जो मृतक वा नपुंसक वा प्रसवविरोधी व्याधि से युक्त की स्त्री में नियोगविधि से उत्पन्न होवे वह "क्षेत्रज" पुत्र कहा है ॥१६७॥ माता वा पिता आपत्काल में जिस समान जाति वाले प्रीतियुक्त पुत्र को संकल्प करके देदे वह "दत्रिम" पुत्र (दत्तक) जानने योग्य है ॥१६८॥

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् । पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥१६९॥ उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य

सः । स गृहे गूढउत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ १७० ॥

अर्थ–जो समान जाति वाला और गुण दोष का जानने वाला तथा पुत्र के गुणों से युक्त, पुत्र कर लिया जावे उस को "कृत्रिम" पुत्र जानना चाहिये ।।१६९।। जिस के घर में उत्पन्न होवे और न जाना जाय कि वह किस का है,वह घरमें "गूढोत्पन्न" उस का पुत्र है जिस की कि स्त्री ने जना है ।। १७० ॥

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा । यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥१७१॥ पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः । तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥१७२॥

अर्थ–जो माता पिता का छोड़ा हुवा,अथवा उन दोनों में से किसी एक का छोड़ा हुवा है,उस पुत्र को जो ग्रहण करे उस को उसका "अपविद्ध" पुत्र कहते हैं ।।१७१।। पिता के घर में जो कन्या विना प्रकट किये पुत्रको जने, उस को उस स्त्री का पति "कानीन" नाम से कहै ।।१७२।।

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञातापि वा सती । वोढुःस गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥१७३॥क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् । स क्रीतकःसुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा१७४

अर्थ–जो ज्ञात वा अज्ञात गर्भिणी के साथ विवाह किया जावे,वह उसी पति का गर्भ है और उस को "सहोढ" कहते हैं ।।१७३।। जो सन्तान चलाने के लिये माता पिता के पास से जिसे मोल लेवे, वह उसके सदृश हो वा असदृश हो, उस को उस का "क्रीतक" पुत्र कहते हैं ।।१७४।।

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया । उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥१७५॥सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा । पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥१७६॥

अर्थ–जो पति की छोड़ी हुई वा विधवा स्त्री अपनी इच्छा से दूसरे की भार्या होके पुत्र को जने, उस को "पौनर्भव" पुत्र कहते हैं ।।१७५।। वह स्त्री यदि पूर्वपुरुष से संयुक्त न हुई हो,तौ दूसरे पौनर्भव पति से फिर विवाह संस्कार करने के योग्य है । अथवा फिर से उसी के पास आवे, तौ भी पुनः विवाह संस्कार करना योग्य है ।।१७६।।

मातापितृविहीनोयस्त्यक्तोवा स्यादकारणात्। आत्मानं स्पर्शये-
द्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः॥१७७॥यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामा-
दुत्पादयेत्सुतम्। स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवःस्मृतः॥१७८॥

अर्थ—जो माता पिता से हीन वा विना अपराध निकाला हुवा अपने कोंगिसे देदे वह "स्वयंदत्त„ कहा है॥ १७७॥ जिस को ब्राह्मण शूद्रा में काम से उत्पन्न करे वह जीता हुआ भी शव (मृतक) के तुल्य है, इस से उस को "पारशव" वा "शौद्र" कहा है ॥ १७८ ॥

दास्यां वा दासदास्यां वा यःशूद्रस्य सुतो भवेत् ।सोऽनुज्ञातो हरेदं-
शमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥१७९॥ क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश
यथोदितान्।पुत्रप्रतिनिधीनाहुःक्रियालोपान्मनीनिषिणः॥१८०॥

अर्थ—दासी में वा दास की स्त्री में जो शूद्र का पुत्र हो वह (पिता की आज्ञा से) भाग लेवे। यह शास्त्र की मर्यादा है॥ १७९॥ इन उक्त क्षेत्रजादि एकादश पुत्रों को सेवादि क्रिया का लोप न हो, इस कारण पुत्र का प्रतिनिधि ऋषियों ने कहा है ॥ १८० ॥

य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः। यस्य ते बीजतो जा-
तास्तस्य ते नेतरस्य तु॥१८१॥भ्रातॄणामेकजातानामेकश्चेत्पु-
त्रवान् भवेत्। सर्वांस्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत्॥१८२॥

अर्थ—जो ये (औरस के) प्रसंग से दूसरे के बीज से उत्पन्न हुवे पुत्र कहे हैं, वे जिसके बीज से उत्पन्न हुवे हों उसी के हैं, दूसरे के नहीं ॥ १८१ ॥ सहोदर भाइयों में एक भाई भी पुत्रवान् हो तौ उन सब को पुत्र वाला मुझ मनुने कहा है (अर्थात् अन्य भाइयों को नियोग वा पुनर्विवाहादि नहीं करना चाहिये) ॥ १८२ ॥

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिणी भवेत्। सर्वास्तास्तेनपुत्रेण
प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥१८३॥ श्रेयसःश्रेयसोऽलाभे पापीयान्
रिक्थमर्हति। बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः॥१८४॥

अर्थ—एक पुरुष की कई स्त्रियों में यदि एक पुत्रवाली हो तो उस पुत्र से उन सब को (मुफ़)मनु ने पुत्र वाली कहा है ।।१८३।। औरसादि पुत्रों में पूर्व पूर्व के न होने में दूसरे दूसरे नीच पुत्र धन को पाने योग्य हैं और यदि बहुत से समान हों तो सब धन के भागी होवें ॥ १८४ ॥

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः। पिता हरेदऽपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥१८५॥ त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते। चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥

अर्थ— न सहोदर भाई न पिता धन को लेने वाले हैं किंतु पुत्र ही धन के लेने वाले हैं, परन्तु अपुत्र का धन पिता और भाई लेवें ॥ १८५ ॥ पित्रादि तीनों को जल और पिण्ड (भोजन) देवे, चौथा पिण्ड वा उदक का देने वाला है । पांचवें का यहां (सेवादि कार्य में) संबन्ध ही नहीं हो सकता । १८६ ॥

(१८६ से आगे यह श्लोक केवल एक पुस्तक में ही मिलता है, अनुमान है कि अन्यों में से जाता रहा ।

[असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्त्तिताः ।
पितामह्यश्च ताः सर्वा मातृकल्पाः प्रकीर्त्तिताः] ॥

अपने पिता की जो अन्य अपुत्र भार्या (अपनी मासी) हों वे सब समान अंश की भागिनी हैं । और पितामही भी वे सब माता के समान सी ही कही हैं)।। १८६ ॥

अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्। अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा॥१८७॥ सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः। त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते॥१८८॥

अर्थ—सपिण्डों में जो २ बहुत समीपी हो, उस २ का धन हो और इसके उपरान्त (सपिण्ड न हो तो) आचार्य, इसके अनन्तर शिष्य धन भागी हो।। १८७॥ और यदि ये भी न हों तो उस धन के भागी ब्राह्मण हैं । वे ब्राह्मण वेदत्रय के जानने वाले और पवित्र तथा जितेन्द्रिय हों तो धर्म नष्ट नहीं होता।।१८८।।

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः । इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः॥१८९॥ संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत् । तत्र यद्रिक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत्॥१९०॥

अर्थ—ब्राह्मण का धन राजा कभी भी न ले। यह शास्त्र की नित्य मर्यादा है। (अर्थात् बेवारिस ब्राह्मण का धन ब्राह्मणों ही को देवे) अन्य सब वर्णों का धन दायभागी न हो तो राजा ले लेवे ।। १८९ ।। राजा, अपुत्र मरे ब्राह्मण की सन्तति के लिये समान गोत्र वाले से पुत्र दिला कर उस ब्राह्मण का जो कुछ धन हो वह उस पुत्र को देदेवे ।।१९०।।

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने। तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्स गृह्णीत नेतरः ॥१९१॥ जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः। भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥१९२॥

अर्थ—दो पिताओं से एक माता में उत्पन्न हुवे दो पुत्र यदि स्त्रीधन के लिये लड़ें, तो उन में जो जिसके पिता का धन हो, वह उस को ग्रहण करे, अन्य न लेवे ॥ १९१ ॥ माता के मरने पर सब सहोदर भाई और सहोदर भगिनी मिल कर मातृधन को बराबर बांट लेवें ॥ १९२ ॥

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः। मातामह्या धनात्किञ्चित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम्॥१९३॥अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि। भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥१९४॥

अर्थ—उन लड़कियों की जो अविवाहिता कन्या हों उन को भी यथायोग्य मातामही के धन से प्रीतिपूर्वक थोड़ा सा धन देना चाहिये ।।१९३॥ विवाह कालमें अग्निके सन्निधि में पित्रादि का दिया हुवा धन,और बुलाकर दिया हुवा, और प्रीतिकर्म में पति का दिया हुवा, तथा समयान्तर में पिता भ्राता माता से पाया हुवा, यह छः प्रकार का स्त्रीधन कहा है ॥ १९४ ॥

अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत्। पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत्॥१९५॥ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु। अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥१९६॥

अर्थ—(कात्यायन स्मृति के अनुसार विवाहके ऊपर पति के कुल में स्त्री जो धन पावे वह) अन्वाधेय धन और जो पति ने प्रीतिकर्म में दिया हो, पति के जीते हुवे मरी स्त्री का वह संपूर्ण धन, सन्तान का हो ।। १९५ ।।

ब्राह्म दैव आर्ष गान्धर्व प्राजापत्य इन पांच प्रकार के विवाहोंमें जो (स्त्रियों का छः प्रकारका) धन है वह अपुत्रा स्त्रीके मरने पर पति का ही कहा है॥१९६॥

यत्त्वस्याःस्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु। अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते॥१९७॥ स्त्रियां तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथञ्चन। ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत्॥१९८॥

अर्थ—परन्तु आसुरादि (३) विवाहों में जो स्त्री को दिया छः प्रकार का धन है, उस स्त्री के अपुत्रा मरने पर वह (धन) माता पिता का है॥१९७॥ स्त्री के पास जो कुछ धन किसी प्रकार पिता का दिया हो, वह उस की ब्राह्मणी कन्या ग्रहण करे, अथवा उस की सन्तान का हो जावे॥१९८॥

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात्। स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया॥१९९॥ पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत्। न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते॥२००॥

अर्थ—बहुत कुटुम्ब के धन से स्त्रियें धनसंचय (कोरचा) न करें और न अपने धन से विना पति की आज्ञा अलङ्कारादि (कोरचा) करें॥ १९९॥ पति के जीते हुवे (उस की सम्मति से) जो कुछ अलङ्कार स्त्रियों ने धारण किया हो, उस को (पति के मरने पर) दायाद लोग न बांटें। जो उसको बांटते हैं, वे पतित होते हैं॥ २००॥

अनंशौ क्लीबपतितौजात्यन्धबधिरौ तथा। उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः॥२०१॥ सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा। ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत्॥२०२॥

अर्थ—नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, बधिर, उन्मत्त, जड़, मूक और जो जन्म से निरिन्द्रिय हों, ये सब पिता के धन के भागी नहीं हैं॥ २०१॥ इन सब नपुंसकादिकोंको आयुपर्यन्त न्याय से अन्न वस्त्र यथाशक्ति शास्त्र के जानने वाले धनस्वामी को देना चाहिये और यदि न देवे तो पतित हो॥२०२॥

यद्यर्थिता तु दारैःस्यात्क्लीबादीनां कथञ्चन। तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति॥२०३॥ यत्किञ्चित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति। भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः॥२०४॥

अर्थ—यदि कदाचित् नपुंसक को छोड़ कर (अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास जानो) पतितादि की विवाह करनेकी इच्छा हो तौ उन सन्तान वालों के सन्तान धनके भागी हैं।।२०३।।पिताके मरने पर ज्येष्ठ पुत्र जो कुछ धन पावे यदि छोटा भाई विद्वान् हो तौ उस में भी उनमें से उसका भाग है ।।२०४।।

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् । समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥२०५॥ विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् । मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥

अर्थ—सब अविद्वान् भाइयों का यदि कृषि वाणिज्यादि से कमाया हुवा धन हो तौ उस में पिता के कमाए धन को छोड़ कर सम विभाग करें (अर्थात् ज्येष्ठ को कुछ निकाल कर न देवें) यह निश्चय है ।।२०५।। विद्या मैत्री विवाह; इन से सम्पादित धन और मधुपर्कदान के काल में प्राप्त धन, जिस को मिला हो उसी का हो ।। २०६ ।।

भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा । स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किञ्चिद्दत्वोपजीवनम् ॥ २०७ ॥ अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् । स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥२०८॥

अर्थ—जो अपने पुरुषार्थ से धन कमा सकता है और भाइयों के साधारण धनों को नहीं चाहता,उस को अपने भाग में से कुछ निर्वाह योग्य धन देकर अलग करें (जिस से सब भाइयों के साझले कमाये धन में उस भाग न चाहने वाले के पुत्रादि झगड़ा न करें)।।२०७।।पिता के धन को न गमाता हुवा अपने श्रम से जो धन उपार्जित करे,वह धन न चाहे तौ भाइयों को न दे ।।२०८।।

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् । न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥२०९॥ विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि । समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते॥२१०॥

अर्थ—पिता अपने न पाए हुवे पैत्रिक द्रव्य को यदि फिर बड़े परिश्रम से पावे तौ विना इच्छाके उस अपने अर्जित धन को पुत्रों को न बांटे ।।२०९।। पहिले अलग हुवे हों और पश्चात् एकत्र हो व्यापारादि करते रहैं, और फिर यदि विभाग करें,तौ उसमें सम विभाग हो। उसमें बड़े का उद्धार नहीं है।।२१०।।

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः। म्रियेतान्यतरोवापि तस्य भागो न लुप्यते ॥२११॥ सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताःसमम्। भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः॥२१२॥

अर्थ—जिन भाइयों के बीच में कोई छोटा वा बड़ा भाई विभागकाल में संन्यासादि कारण से अपने अंश से छूट जावे अथवा मर जावे तो उस का भाग लुप्त न होगा ।।२११।। किन्तु सहोदर भाई और सहोदर भगिनी और जो मिले हुवे भाई हैं वे भी सब मिल के समान विभाग करलें ।।२१२।।

यो ज्येष्ठोविनिकुर्वीत लोभाद्भ्रातॄन् यवीयसः। सोऽज्येष्ठःस्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः॥२१३॥ सर्वएव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम्। न चादत्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठःकुर्वीतयौतकम्॥२१४॥

अर्थ—जो ज्येष्ठ भ्राता लोभ से कनिष्ठ भाइयों की वञ्चना (ठगई) करे, वह ज्येष्ठ भ्राता अपने (ज्येष्ठ) भाग से रहित होवे और राजों के दण्ड योग्य होवे ।।२१३।। विरुद्ध कर्म करने वाले सब भाई धन का भाग पाने योग्य नहीं और ज्येष्ठ भाई कनिष्ठों को न देकर कोरचा न करे ।।२१४।।

भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह। न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथञ्चन ॥२१५॥ ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम्। संसृष्टास्तेन वा येस्युर्विभजेत स तैः सह ॥ २१६॥

अर्थ—भाइयों के साथ रहने वाले साझले भाई यदि (धन के उपार्जन को) साथ ही उत्थान करें तो विभागकाल में पिता, पुत्रों का विषम विभाग कभी न करे ।। २१५ ।। (यदि जीते ही पिता ने पुत्रों की इच्छा से विभाग कर दिया हो) उस विभाग के अनन्तर उत्पन्न हुवा पुत्र, पिता ही का भाग लेवे, अथवा जो फिरसे पिताके साथ रहते हों, उनके साथ विभाग करे॥२१६॥

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्। मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ २१७ ॥ ऋणे धनं च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि। पश्चाद्दृश्येत यत्किञ्चित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥२१८॥

अर्थ—सन्तानरहित पुत्रका दाय माता ग्रहण करे और माता के भी मरने

पर पिता की माता ग्रहण करे ॥ २१७ ॥ ऋण और धन सब में यथाशास्त्र विभाग होजाने पर पीछे से जो कुछ पता लगे तौ उस सब को भी बराबर बांट लें (अर्थात् पता लगाने का वा ज्येष्ठ का उद्धार योग्य नहीं है) ॥२१८॥

वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः । योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥२१९॥ अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः । क्रमशःक्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥२२०॥

अर्थ—वस्त्र, वाहन, आभरण और पकाया हुवा अन्न, पानी (कूपादि) तथा स्त्री और निर्वाह की अत्यन्तोपयोगी वस्तु और प्रचार (मार्ग) ये विभाग योग्य नहीं हैं(अर्थात् जो जिस के काम में जिस प्रकार आरहा है, वही उसे वैसे ही रक्खे)।।२१९।।यह क्षेत्रजादि पुत्रों का क्रम से विभाग करने का प्रकार और क्रियाविधान तुम्हारे प्रति कहा। अब आगे द्यूतधर्म को सुनो ॥ २२० ॥

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् । राज्यान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥२२१॥ प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनस-माह्वयौ । तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥२२२॥

अर्थ—द्यूत और समाह्वय को राजा राष्ट्र में न होने देवे क्योंकि ये दोनों दोष राजाओं के राज्य का नाश करने वाले हैं ॥२२१॥ ये द्यूत और समाह्वय प्रकट चौर्य हैं। इन के दूर करने में राजा नित्य यत्न वाला होवे ॥२२२॥

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते । प्राणिभिःक्रियते य-स्तु स विज्ञेयःसमाह्वयः ॥२२३॥द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्का-रयेत वा। तान्सर्वान् घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥२२४॥

अर्थ—(कौड़ी फांसा इत्यादि) बेजान वस्तुओं से जो हार जीत होती है उस को "जुवा" कहते हैं और (मेंढा मुर्गा इत्यादि) प्राणियों से जो हारजीत होती है उसको "समाह्वय" जानना चाहिये ॥ २२३ ॥ द्यूत और समाह्वय को जो करे वा करावे उन सब को राजा मरवा देवे वा अन्य देहदण्ड देवे और यज्ञोपवीतादि द्विजचिन्ह धारण करने वाले शूद्रों को भी यही दण्ड देवे॥२२४॥

कितवान्कुशीलवान् क्रूरान् पाषण्डस्थांश्च मानवान्। विकर्मस्थान्

शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात्॥२२५॥एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः। विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाःप्रजाः ॥२२६॥

अर्थ—जुवारी,धूर्त,क्रूरता करने वाले,पाखण्डी, विरुद्ध कर्म करने वाले तथा शराबी मनुष्यों को राजा शीघ्र नगर से निकाल देवे ॥२२५॥ क्योंकि राजा के राज्य में ये छिपे चोर रहते हुवे,कुकर्म से भली प्रजाओं को पीड़ा देते हैं ॥ २२६ ॥

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत्। तस्माद्द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्॥२२७॥ प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः। तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥२२८॥

अर्थ—यह द्यूत पहिले कल्प में बड़ा वैर बढ़ाने वाला देखा गया है, इस कारण बुद्धिमान् हास्यार्थ भी द्यूत न खेले।।२२७।।जो मनुष्य इस जुवे को गुप्त वा प्रकट खेले,उसके दण्ड का विकल्प जैसी राजा की इच्छा हो वैसा करे ।।२२८।।

क्षत्रविट्शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन्। आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैःशनैः ॥ २२९ ॥ स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम्। शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम्॥२३०॥

अर्थ—क्षत्रिय वैश्य शूद्र ; निर्धन होने के कारण दण्ड देने को असमर्थ होवें तो नौकरी करके दण्ड का ऋण उतार देवें और ब्राह्मण धीरे धीरे देदे(अर्थात् ब्राह्मण से नौकरी न करावे) ।।२२९।। स्त्री, बाल, उन्मत्त, वृद्ध, दरिद्र, और रोगी को राजा—कमची, बेत, रस्सी, आदि से दमन करे ।।२३०।।

ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युःकार्याणि कार्यिणाम्। धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निस्स्वान्कारयेन्नृपः॥२३१॥ कूटशासनकर्तॄंश्च प्रकृतीनां च दूषकान्। स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्द्विट्सेविनस्तथा ॥२३२॥

अर्थ—जो पुरुष कार्यों (अदालतों) में नियुक्त हो धन की गरमी से पकते हुवे, कामवालों के कामोंको बिगाड़ें, उनका सर्वस्व राजा हरण करवाले ।। २३१ ।। राजा की मोहर करके वा अन्य किसी छल से राजकार्य करने वालों और अमात्यों के भेद करने वालों तथा स्त्री, बालक, ब्राह्मण को मारने वालों और शत्रु से मिले रहने वालों को राजा हनन करे ।। २३२ ।।

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत्।
कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ॥ २३३ ॥

अर्थ—जहां कहीं ऋणादानादि व्यवहार (मुकद्दमे) का न्याय से अन्त तक निर्णय और दण्डादि तक ठीक हो गया हो, तौ उस को फिर से न लौटावे।।२३३।।

(२३३ से आगे एक श्लोक मिलता है, जो कि अब केवल दो पुस्तकों में पाया गया है। परन्तु यथार्थ में उस की यहां आवश्यकता थी। वह यह है:—

[तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विकर्मणा।
द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत्]

यदि कोई कार्य्य (मुकद्दमा) निर्णीत हो चुका हो, और दण्ड भी हो चुका हो, परन्तु राजा की समक्ष में अन्याय हुवा हो तौ द्विगुण दण्ड (राजकर्मचारी पर) कर के उस कार्य को राजा फिर से करे) ।। २३३ ।।

अमात्याःप्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा।
तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥ २३४ ॥

अर्थ—मन्त्री अथवा मुकद्दमा करनेवाला जिस मुकद्दमे को अन्यथा करे, उस मुकद्दमे को राजा आप करे और उन को "सहस्र,, दण्ड देवे।।२३४।।

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः। एते सर्वे पृथक् ज्ञेया महापातकिनो नराः॥२३५॥ चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम्। शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

अर्थ—ब्राह्मण का मारने वाला और मद्य का पीने वाला और चौर और गुरु की स्त्री से व्यभिचार करने वाला, इन सब प्रत्येकों को महापातकी मनुष्य जानना चाहिये ।। २३५ ।। प्रायश्चित्त न करते हुवे इन चारों को (राजा) धर्मानुसार शरीरसम्बन्धी धनयुक्त दण्ड करे ।। २३६ ।।

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः। स्तेये च श्वपदकं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान्॥२३७॥ असंभोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्याऽविवाहिनः। चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः॥२३८॥

अर्थ—गुरुपत्नी के व्यभिचार में पुरुष को तप्त लोह से भगाकार चिन्ह

ललाट में करना चाहिये और सुरा के पीने में सुरापात्र के आकार सा चिन्ह, तथा चोरी करने में कुत्ते के पैर के आकार का चिन्ह करना चाहिये। और ब्राह्मण के मारने में सिर कटाना चाहिये॥२३७॥ ये (महापातकी) पङ्क्ति में भोजन कराने और यज्ञ कराने तथा पढ़ाने और विवाह सम्बन्ध के भी अयोग्य सम्पूर्ण धर्मों से वहिष्कृत हुवे दीन (ग़रीब) पृथिवी में पर्यटन करें।।२३८॥

ज्ञातिसंबन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः। निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशाशनम् ॥२३९॥ प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा यथोदितम्। नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम्॥२४०॥

अर्थ—ये चिन्ह वाले, जाति बिरादरी से त्यागने योग्य हैं और न इन पर दया करनी चाहिये और न ये नमस्कार करने योग्य हैं, इस प्रकार (सुफ) मनु की आज्ञा है ।।२३९।। परन्तु शास्त्रविहित प्रायश्चित्त किये हुवे ये सब वर्ण, राजा को ललाट में चिन्ह करने योग्य नहीं हैं किन्तु "उत्तम, साहस,, के दण्ड योग्य हैं ।। २४० ।।

आगः सु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः। विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः॥२४१॥ इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः। सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२ ॥

अर्थ—इन अपराधों में ब्राह्मण को ही "मध्यम, साहस" दण्ड करना चाहिये अथवा धन धान्यादि के सहित राज्य से निकाल देने योग्य है ।।२४१।। ब्राह्मण से अन्य क्षत्रियादि ने यदि इन पापों को अनिच्छा से किया हो तो सर्वस्वहरणयोग्य हैं और यदि इच्छा से किया हो तो देश से निकालने के योग्य हैं२४२

नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम्। आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते॥२४३॥ अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत्। श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥२४४॥

अर्थ—धार्मिक राजा महापातकी के धन को ग्रहण न करे, लोभ से उसको लेता हुआ उस पाप से लिप्त होता है।।२४३।। किन्तु उस दण्ड धन को पानी में धुलवा कर वरुण के यज्ञ में लगा देवे अथवा वेदसम्पन्न ब्राह्मण को दे देवे ।।२४४।।

ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः । ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥२४५॥ यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भ्यो-धनागमम् । तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥२४६॥

अर्थ—दण्ड का स्वामी वरुण है क्योंकि राजाओं को भी दण्ड का धर्त्ता (प्रभु) वरुण है । सम्पूर्ण वेद का जानने वाला ब्राह्मण सब जगत् का स्वामी है । (इस से दोनों दण्ड धन लेने के योग्य हैं) ॥२४५॥ जिस देश में राजा इन महापातकियों के धनको नहीं ग्रहण करता, उस देश में मनुष्य काल से दीर्घ आयुवाले होते हैं ॥ २४६ ॥

निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक् । बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥ २४७ ॥ ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादवरवर्णजम् । हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥२४८॥

अर्थ—और प्रजाओं के जैसे धान्यादि बोए गये वैसे ही अलग अलग उत्पन्न होते हैं और बालक नहीं मरते और कोई विकार नहीं उत्पन्न होता ॥ २४७ ॥ और जान बूझ कर ब्राह्मणों को पीड़ा देने वाले शूद्र को राजा भय देने वाले विचित्र मार पीट के उपायों से मारे ॥२४८॥

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे । अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥२४९॥ उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः । अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥२५०॥

अर्थ—अवध्य के वध में जैसा अधर्म राजा को शास्त्र से देखा गया है वैसा ही वध्य के छोड़ने में भी होता है । और यथाशास्त्र निग्रह करने में धर्म होता है ॥२४९॥ यह अठारह प्रकार के मार्गों में परस्पर विवादियों (मुद्दई मुद्दआइलह) के मुकद्दमें का निर्णय विस्तार के साथ कहा ॥२५०॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः । देशानलब्धाँल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥२५१॥ सम्यङ्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः । कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥२५२॥

अर्थ—इस प्रकार धर्म्य कार्यों को अच्छे प्रकार करता हुवा राजा अलब्ध देशों को पाने की इच्छा करे और लब्धों का परिपालन करे ।। २५१ ।। अच्छे प्रकार बसे देश में (सप्तमाध्याय में कही रीति के अनुसार) किले बना कर चोर डाकू आदि कण्टकों के उद्धार में सर्वदा प्रकृष्ट यत्न करे ।।२५२।।

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् । नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥२५३॥ अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः। तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते॥२५४॥

अर्थ—अच्छे आचरण वालों के रक्षण और चौरादिकों के शोधन से प्रजापालन में तत्पर राजा लोग स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ।। २५३ ।। जो राजा चौरादिकों को दण्ड न करके अपनी बलि (माल गुज़ारी) को लेता है, उस की प्रजा उस से बिगड़ती है और स्वर्ग से भी वह हीन होजाता है ।।२५४।।

निर्भयं तु भवेदस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् । तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥२५५॥ द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् । प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥२५६॥

अर्थ-जिस राजा के बाहुबल के आश्रय से प्रजा (चौरादिकों से) निर्भय रहती है, उस राजा का राज्य नित्य सिंचते हुवे वृक्ष के समान बढ़ता है ।।२५५।। चार (दूत) रूपी चक्षु वाला राजा, दो प्रकार से परद्रव्य के हरण करने वाले चोरों को जाने । एक प्रकट, दूसरे अप्रकट ।। २५६ ।।

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः । प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥२५७॥ उत्कोचकाश्चोपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा । मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥२५८॥

अर्थ—उन चौरादिकों में नानाप्रकार की दुकान्दारी से जीवन करने वाले प्रकाशवञ्चक (खुले ठग) हैं और चोर तथा जङ्गल आदि का आश्रय करने वाले लुटेरे छुपे वञ्चक हैं ।।२५७।। उत्कोचक=रिश्वतख़ोर । उपधिक=भय दिखाकर धन लेने वाले । वञ्चक=ठग । । कितव=जुवारी आदि । मङ्गलादेशवृत्त= "तुम्हारी भलाई होने वाली है" इत्यादि प्रकार प्रलोभन देने वाले । भद्र= सलमनसाहत से ठगई करने वाले । ईक्षणिक=हाथ देखने वाले आदि ।।२५८।।

असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः। शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाःपण्ययोषितः ॥२५९॥ एवमादीन्विजानीयात्प्रकशाँल्लोककण्टकान् । निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥ २६०॥

अर्थ–बुरा करने वाले उच्चकर्मचारी, वैद्य, शिल्पादिजीवी और चालाक वेश्याओं को ।।२५९।। इस प्रकार के प्रत्यक्ष ठगोंको राजा जानता रहे और दूसरे ठग जो आर्य वेष धारण करने वाले अनार्य हैं उन को भी जानता रहे।।२६०।।

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः । चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत्॥२६१॥तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः । कुर्वीत शासनं राजा सम्यक् सारापराधतः ॥ २६२ ॥

अर्थ–उन पूर्वोक्त वञ्चकों को सभ्य, गुप्त, प्रकट में उस काम को करने वाले, तथा कई जगह रहने वाले चारों (जासूसों) के द्वारा राजा चौर्य्यादि में प्रवृत्त करा कर (सज़ा देकर) ठीक करे ।।२६१ ।। उन प्रकाश और अप्रकाश तस्करों के निज२ चौर्यादि दोषों को ठीक २ प्रकट करके उन के धन शरीरादि सामर्थ्य और अपराध के अनुसार राजा सम्यक् दण्ड देवे ।।२६२ ।।

न हि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः । स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ।।२६३ ।। सभा प्रपा पूपशाला वेशमद्यान्नविक्रयाः । चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाःसमाजाःप्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥

अर्थ–पृथिवी में विनीत वेष करके रहने वाले पापाचरणबुद्धि चोरों को दण्ड के अतिरिक्त पाप का निग्रह नहीं हो सकता।।२६३॥सभा,प्याऊ, हलवाई की दूकान, रण्डी का मकान,कलाली, अनाज बिकने की जगह,चौराहे, बड़े और प्रसिद्ध वृक्ष, जनसमूहों के स्थान,तथा तमाशे देखने की जगह–।।२६४ ।।

जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च । शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६५॥ एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः । तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥२६६॥

अर्थ–जीर्ण वाटिका, अरण्य, शिल्पगृह, शून्य गृह, तथा बाग, बगीचे ।। २६५ ।। इस प्रकार के देशों को राजा एक स्थान में स्थित सिपाहियों को

चौकी और घूमने वाले चौकी पहरोंसे और गुप्तचारों से चोरों के निवारणार्थ विचरित करावे(क्योंकि प्रायः तस्कर इन स्थानों में पड़ते हैं) ।।२६६॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः । विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥२६७॥ भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः । शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥

अर्थ-उन की सहायता करने वाले और उन के पीछे चलने वाले और सेंध आदि अनेक कर्मों को जानने वाले पहिले चोर और उस कर्म में निपुण गुप्तचारों द्वारा (राजा) चोरों को जाने और उभरवावे ।।२६७।। वे (जासूस) उन चोरोंको खाने पीनेके बहानों और ब्राह्मणों के दर्शनों के मिष से और शूरवीरता के काम के बहाने से राजद्वारमें लिवाला के पकड़वादें ।।२६८।।

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये । तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥२६९॥ न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः । सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥२७०॥

अर्थ-जो वहां पर पकड़ जाने की शङ्कासे न जावें और उन गुप्तराजदूतों के साथ चालाकी=सावधानी से रहकर आपे को बचाते हों उन को राजा बलात्कार से पकड़ कर मित्र जाति भाइयों सहित वध करे ।। २६९ ।। धार्मिक राजा विना माल और सेंध आदि प्रमाण के चोर का वध न करे और माल तथा सेंध आदि के प्रमाणसहित हों तो विना विचारे मरवा देवे ।। २७०।।

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः । भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत्॥२७१॥ राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् । अभ्याघातेषु मध्यस्थान् शिष्याच्चौरानिव द्रुतम्॥२७२॥

अर्थ-ग्रामों में भी जो चोरों के भोजनादि(मदद) देने वाले और पता वा जगह देनेवाले हों उन सब को भी राजा दण्ड देवे।। २७१ ॥ राष्ट्र में रक्षा को नियुक्त (अर्थात् पुलिस) और सीमा पर रहने वालों में जो क्रूर चौरादि घात के उपदेश में मध्यस्थ हों उन को चौरवत् शीघ्र दण्ड देवे ।।२७२।।

यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः। दण्डेनैव तमप्योषे-

त्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम्॥२७३॥ ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मो-
षाभिदर्शने। शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः॥२७४॥

अर्थ–जो मिश्राई करने वाला (ब्राह्मण) धर्म की मर्यादा से भ्रष्ट हो उस स्वधर्म से पतित को भी दण्ड से ही क्लेश दे ॥ २७३ ॥ डांकू चोर आदि से गांव के लुटने और पुल के टूटने और मार्ग के चोरों की खोज में जो आस पास के रहने वाले यथाशक्ति राजा की सहायतार्थ दौड़ धूप नहीं करते उन को असबाब के सहित (ग्राम से) निकाल देवे ।।२७४।।

राज्ञः कोषापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् । घातयेद्विविधैर्दण्डैर-
रीणां चोपजापकान्॥२७५॥सन्धिं छित्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति
तस्कराः। तेषां छित्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्॥२७६॥

अर्थ–राजा के ख़ज़ाने में चोरी करने वालों तथा आज्ञाभङ्ग करने वालों और शत्रु को भेद देने वालों को नाना प्रकार के दण्ड देवे ।।२७५।। जो चोर रात को सेंध देकर चोरी करें, राजा उनके हाथ काट कर तेज सूली पर चढ़ावे ।। २७६।।

अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे । द्वितीये हस्तचरणौ तृ-
तीये वधमर्हति ॥ २७७ ॥ अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावका-
शदान्। संनिधातॄंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥२७८॥

अर्थ–गांठ काटने वाले की पहिली बार चोरी करने में अंगुलियें कटवा दे और दूसरी बार करने में हाथ पैर कटवा दे और तीसरी बार में वध योग्य है।।२७७।। उन चोरों को आग, अन्न, शस्त्र, स्थान देने वालों और चोरी के धन को पास रखने वालों को भी राजा चोरवत् दण्ड देवे ।।२७८।।

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा । यद्वापि प्रतिसंस्कुर्याद्दा-
प्यस्तूत्तमसाहसम्॥२७९॥कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान्।
हस्त्यश्वरथहर्तॄंश्च हन्यादेवाविचारयन्॥२८०॥

अर्थ–जो तालाब वा बावड़ी के जल को तोड़े उसको जल में डुबा कर वा सीधा ही मार डाले और यदि वह उसको फिर बनवा देवे तो " सहस्र पण " दण्ड दे ।।२७९।। राजा के धान्यागार (गोदाम) वा हथियारों के मकान

अथवा यज्ञमन्दिर को तोड़ने वालों और हाथी घोड़ा रथ के चुराने वालों को विना विचारे हनन करे–॥ २८० ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् । आगमं वाप्यपां भिद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥२८१॥ समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि । स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत्॥२८२॥

अर्थ– जो कोई पहले बने तालाब का सब पानी हर लेवे या पानी के सोत वा आगमन को बन्द करे, वह "प्रथम साहस" दण्ड योग्य है ॥२८१॥ जो रोगादिरहित सरकारी सड़क पर पाखाना फिरे वह दो कार्षापण दण्ड दे और उस मैले को शीघ्र उठवा देवे ॥ २८२ ॥

आपद्गतोऽथवा वृद्धो गर्भिणी बाल एव वा। परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः॥२८३॥ चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्याप्रचरतां दमः। अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥

अर्थ–(परन्तु) व्याधित, वृद्ध, बालक, गर्भिणी ये धमकाने योग्य हैं और उस मैले को साफ़ कराने योग्य हैं(दण्डयोग्य नहीं)यह मर्यादा है॥२८३॥ बे पढ़े उलटी चिकित्सा करने वाले सब वैद्यों को दण्ड करना चाहिये। उस में गाय बैल आदि की वृथा चिकित्सा करने वालों को "प्रथम, साहस" और मनुष्य की उलटी चिकित्सा करने वालों को "मध्यम, साहस" दण्ड होना चाहिये ॥२८४॥

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः । प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च॥२८५॥ अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा । मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥

अर्थ–लकड़ी के छोटे पुल की वा ध्वजा की लकड़ी और किसी प्रतिमा को तोड़नेवाला, उन सबको फिर बनवादेवे और पांचसौ पण दण्ड देवे ॥२८५॥ अच्छे वस्तुको दूषित (ख़राब) करने और तोड़ने और मणियोंके बुरा बींधने में "प्रथम, साहस" दण्ड होना चाहिये ॥ २८६ ॥

समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा । समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा॥२८७॥ बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत् । दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः॥२८८॥

अर्थ—बराबर की वस्तवों से वा मूल्य से जो घटिया बढ़िया वस्तु देनेका व्यवहार करे उसको "पूर्व" या "मध्यम, साहस" दण्ड मिले।।२८७।।राजा मार्ग में बन्धनगृहों को बनावे, जहां दुःखित और विकृत पाप करने वाले सब को दीखें।।२८८।।

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।
द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ २८९ ॥

अर्थ—प्राकार (फ़सील) के तोड़ने वाले और उसी की खाई को भरने वाले और उसी के किवाड़ों के तोड़ने वाले को शीघ्र ही (देश से) निकाल दे।।२८९।।

(२८९ के पूर्वार्ध से आगे (बीचमें) यह श्लोक एक पुस्तक में देखा जाता है:—

[एतेनैव तु कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।
कर्माण्यारभमाणं तु पुरुषं स्त्री निषेवते]

परन्तु यह सर्वथा असंबद्ध सा है। इस का बीच में कोई प्रसंग समझ में नहीं आता) ॥ २८९ ॥

अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः ।
मूलकर्मणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च ॥ २९० ॥

अर्थ—संपूर्ण अभिचारों (मारणादि प्रयोगों में यदि जिस का मारना चाहा हो वह मरे नहीं तो) और नाना प्रकार के (औषधादि द्वारा) उच्चाटनादि में जो अपने कुटुम्बी न हों तो दो सौ पण दण्ड होना चाहिये।। २९०।।

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च । मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम्॥२९१॥सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः । प्रवर्त्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥ २९२ ॥

अर्थ—उत्पन्न न होने वाले बीज को बेचने वाला, उसी प्रकार अच्छे बीज को बुरे के साथ मिला के बेचने वाला तथा सीमा (मर्यादा) का तोड़ने वाला; विकृत वध को प्राप्त हो।।२९१।। सब ठगों में अतिशय ठग अन्याय में चलने वाले सुनार को तो राजा चाकुओं से बोटी बोटी कटवावे ।। २९२ ।।

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च । कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत्॥२९३॥स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोश-

दण्डौ सुहृत्तथा। सप्त प्रकृतयोह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥२९४॥

अर्थ–हल कुदाड़ आदि के चुराने और शस्त्रों तथा दवा के चुराने में, समय और किये हुवे अपराध को विचार कर राजा दण्ड नियत करे।।२९३॥राजा, मन्त्री, पुर, राष्ट्र, कोश, दण्ड, मित्र; ये सात प्रकृति राज्य के सप्ताङ्ग कहाती हैं।।२९४॥

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम्। पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत्॥२९५॥सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत्। अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किञ्चिदतिरिच्यते॥२९६

अर्थ–राज्य की इन सात प्रकृतियों में क्रम से पहिली २ को अतिशय बड़ा भारी व्यसन(उत्तरोत्तर एक से एक को अधिक)बिगड़ने पर बुरा जाने ।।२९५।। जैसे तीन दण्ड परस्पर एक दूसरे के सहारे ठहरे हों ऐसे ही यह सप्ताङ्ग राज्य ७ में एक दूसरे के सहारे ठहरा है। इन सातों में अपने २ गुण की विशेषता से कोई भी एक दूसरे से अधिक नहीं है (अर्थात् यद्यपि पूर्व श्लोक में एक से दूसरे को अधिक कहा था परन्तु पूर्व पूर्व इस भूल में भी न रहें कि अगले २ हमारा कुछ कर ही नहीं सक्ते) ॥ २९६ ॥

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते। येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते॥२९७॥चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम्। स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥ २९८ ॥

अर्थ–उन उन कामों में वह २ अङ्ग अधिक है, जिस से जो काम सिद्ध होता है वह उस में श्रेष्ठ कहाता है ॥२९७।। (सप्तमाध्याय में कहे हुवे) चारों (जासूसों) से, उत्साहयोग से और कामों की काररवाई से अपने तथा शत्रु के सामर्थ्य को राजा नित्य जाचता रहे ।। २९८ ।।

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च। आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम्॥२९९॥आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः। कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते॥३००॥

अर्थ–काम क्रोध से हुवे सम्पूर्ण दुःखों और व्यसनों को और (अपने तथा शत्रु के) गौरव लाघवों को सोच कर काम का आरम्भ करे ।। २९९ ।। राज्य

की वृद्धि होने के काम राजा दम ले २ कर फिर फिर करता ही रहे क्योंकि कामों के आरम्भ करने वाले पुरुष को लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ३०० ॥

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च। राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥ कलिःप्रसुप्तो भवति सजाग्रद्द्वापरं युगम्। कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥

अर्थ—सत्ययुग त्रेतायुग द्वापरयुग कलियुग ये राजा ही के चेष्टाविशेष हैं, क्योंकि राजा भी युग कहाता है ॥ ३०१ ॥ जब राजा निरुद्यम होता है, वही कलियुग है। और जब जागता हुवा भी कर्म नहीं करना, वही द्वापर है। और जब कर्मानुष्ठान में उद्यत होता है उस समय त्रेता है। और जब यथाशास्त्र कर्मों का अनुष्ठान करता हुवा विचरता है, उस समय सत्ययुग है ॥३०२॥

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च। चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत्॥ ३०३॥वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति। तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥३०४॥

अर्थ—इन्द्र सूर्य वायु यम वरुण चन्द्र अग्नि पृथिवी, इन के सामर्थ्यरूप कर्म को राजा करे।।३०३।।वर्षा ऋतु के चार मास में जैसे इन्द्र वर्षा करता है,वैसे ही इन्द्र के काम को करता हुवा राजा,स्वदेश में इच्छित पदार्थों को वर्षावे।।३०४।।

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः। तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥३०५॥प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः। तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥३०६॥

अर्थ—आठ महीने जैसे सूर्य किरणों से जल लेता है,वैसे राज्य से कर लेवे यही नित्य सूर्य का व्रत है ॥ ३०५ ॥ जैसे वायु सब मनुष्यादि में प्राण रूप हो कर रहता है वैसे राजा दूतों द्वारा सब में प्रवेश करे (अर्थात् सब के चित्तवृत्तान्त ज्ञात कर लेवे) यही वायु का काम है॥ ३०६ ॥

यथा यमःप्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति। तथा राज्ञा नियन्तव्याःप्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥ ३०७ ॥ वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते। तथा पापान्निगृह्णीयाद्व्रतमेतद्धि वारुणम्॥३०८॥

अर्थ—जैसे यम (मृत्यु वा परमात्मा) प्राप्तकाल में मित्र शत्रु सब का निग्रह करता है वैसे ही राजा को अपराधकाल में प्रजा दण्डनीय होनी चाहिये। यम का यही व्रत है ॥ ३०७ ॥ जैसे वरुण के पाशों से (पापी) बंधे हुए दीखते हैं, वैसे ही राजा पापियों को शासन करे क्योंकि वरुण का यह व्रत है ॥ ३०८ ॥

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः। तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥३०९॥ प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु। दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥३१०॥

अर्थ—जैसे पूर्ण चन्द्र को देख कर मनुष्य हर्ष को प्राप्त होते हैं वैसे ही अमात्यादि राजा के देखने से प्रसन्न हों। वह राजा चन्द्रव्रत करने वाला है ॥३०९॥ पाप करने वालों पर सदा अग्निवत् जाज्वल्यमान रहे, तथा दुष्ट वीरों को भी हिंसा के स्वभाव वाला होवे। यह अग्निसम्बन्धी व्रत है ॥३१०॥

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम्। तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११ ॥ एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः। स्तेनान्राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे परएव च ॥ ३१२ ॥

अर्थ—जैसे पृथिवी सब को बराबर धारण करती है, वैसे राजा भी सब प्राणियों का बराबर पालन पोषण करे। यह पृथिवी का काम है ॥ ३११ ॥ इन उपायों तथा अन्य उपायों से सदा आलस्यरहित राजा चोरों को जो अपने राज्य में हों या दूसरे के राज्य में भाग गये हों, वश में करे ॥३१२॥

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत्। ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥३१३॥ "यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः। क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥ ३१४ ॥"

अर्थ—कोशक्षयादि बड़ी विपत्ति को प्राप्त हुवा भी राजा ब्राह्मणों को रुष्ट न करे क्योंकि वे बिगड़े हुवे, सेना हाथी घोड़ा आदि सहित उस राजा को शीघ्र नष्ट कर सकते हैं ॥३१३॥ (दीर्घदृष्टि से विचारा जावे तो निःसन्देह विद्या और विद्वानों के विरोधी का राज्य बहुत दिन तक नहीं रह सक्ता) ॥३१३॥

"जिन्हों ने अग्नि को सर्वभक्षी और समुद्र को खारा कर दिया और क्षयी चन्द्र को आप्यायित किया, उन को रुष्ट करके कौन नाश को प्राप्त न हो? ॥३१४॥"

"लोकानन्यान्सृजेयुर्येलोकपालांश्चकोपिताः । देवान्कुर्युरदेवांश्च कःक्षिण्वंस्तान्समृध्नुयात् ॥ ३१५ ॥ यानुपाश्रित्यतिष्ठन्तिलोका देवाश्चसर्वदा । ब्रह्मचैवधनंयेषांकोहिंस्यात्तान्जिजीविषुः॥३१६॥"

" अर्थ–जो कोप को प्राप्त हुवे दूसरे लोकों को उत्पन्न करदें, ऐसी सम्भावना है । और देवतों को अदेव करदें,तब उन को पीडा देता हुवा कौन वृद्धि को प्राप्त हो ? ।। ३१५ ।। जिन का आश्रय करके सर्वदा देव तथा लोक ठहरे हुवे हैं और वेद है धन जिन का, उन को,जीने की इच्छा करने वाला, कौन दुःखी करे ? ।।३१६।।"

"अविद्वांश्चैवविद्वांश्चब्राह्मणोदैवतंमहत् । प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतंमहत् ॥ ३१७ ॥ श्मशानेष्वपितेजस्वीपावको नैवदुष्यति । हूयमानश्चयज्ञेषुभूयएवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥"

"अर्थ–जैसे अग्नि प्रणीत हो, वा अप्रणीत हो, महती देवता है,ऐसे ही मूर्ख ब्राह्मण हो वा विद्वान् हो, महती देवता है ।।३१७।। तेज वाला अग्नि श्मशानों में भी (शव को जलाता हुवा) दोषयुक्त नहीं होता, किन्तु फिर से यज्ञ में हवन किया हुवा वृद्धि को पाता है ।। ३१८ ।।"

"एवंयद्यप्यनिष्टेषुवर्तन्तेसर्वकर्मसु ।
सर्वथाब्राह्मणाःपूज्याःपरमंदैवतंहितत् ॥३१९॥"

अर्थ"–यद्यपि इस प्रकार सम्पूर्ण कुत्सित कर्मों में रहते हैं, तथापि ब्राह्मण सर्व प्रकार से पूजन योग्य हैं, क्योंकि वे महती देवता हैं ।। ३१९ ।।"

(३१४ से ३१९ तक ६ श्लोक ब्राह्मणों की असंभव प्रशंसा से युक्त हैं । क्योंकि अग्नि को सर्वभक्षी और समुद्र को अपेय (खारा) ब्राह्मणों ने नहीं किन्तु प्रथमाऽध्याय के अनुसार परमात्मा ने ही इन को अपने २ स्वभावयुक्त बनाया है । और चन्द्रमा की क्षय वृद्धि भी सूर्य के प्रकाश पहुंचने में विलक्षणता के कारण होती है । यह विषय निरुक्तादि के प्रमाणपूर्वक हम ने सामवेदभाष्य में लिखा है ।। ब्राह्मणों का नवीनसृष्टि बना सकना भी कितनी अत्युक्ति नहीं, असंभव है।। अविद्वान् को ब्राह्मण और पूज्य मानना भी पक्षपातपूर्वक लेख तथा"यथा काष्ठमयो हस्ती"इत्यादि पूर्वोक्त मनुवचनों से विरुद्ध है ।। यज्ञ

में शूद्र के घर का अग्नि भी वर्जनीय है, फिर श्मशान (चिता) के अग्नि को निर्दोष मानना और उस दृष्टान्तसे कुकर्मी ब्राह्मण को भी निर्दोष सिद्ध करना पूर्वोक्त अनेक मनुवचनों के साक्षात् विरुद्ध है) ॥ ३१९ ॥

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः ।
ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥

अर्थ—ब्राह्मणोंके प्रति सर्वथा पीड़ा देनेमें अनुवृत्त क्षत्रियों को ब्राह्मण ही अच्छे प्रकार नियममें रक्खें, क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मणों से (संस्कार के जन्म से) उत्पन्न हैं ३२०

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् । तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥३२१॥ नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाऽक्षत्रं ब्रह्म वर्धते । ब्रह्म क्षत्रं च संयुक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥३२२॥

अर्थ—जल, ब्राह्मण, और पाषाण से उत्पन्न हुवे अग्नि, क्षत्रिय और शस्त्रों का तेज सब जगह तीव्रता करता है, परन्तु अपने उत्पन्न करने वाले कारणों में शान्त हो जाता है ॥३२१॥ ब्राह्मणरहित क्षत्रिय वृद्धि को प्राप्त नहीं होता। वैसे ही क्षत्रियरहित ब्राह्मण भी वृद्धि को नहीं प्राप्त होता । इस लिये ब्राह्मण क्षत्रिय मिले हुवे इस लोक तथा परलोक में वृद्धि को पाते हैं ॥३२२ ॥

दत्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् । पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥ ३२३ ॥ एवं चरन्सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः । हितेषु चैव लोकस्य सर्वान् भृत्यान्नियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

अर्थ—दण्ड का सम्पूर्ण धन ब्राह्मणों को देकर और पुत्र को राज्य समर्पण करके राजा रण में प्राणत्याग करे ॥३२३॥ राजधर्म में सदा युक्त रह इस प्रकार आचरण करता हुवा राजा सब लोगों के हित के लिये सम्पूर्ण नौकर चाकरों की योजना करे ॥ ३२४ ॥

एषोऽखिलःकर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः । इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः॥३२५॥ वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् । वार्त्तायां नित्ययुक्तःस्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥३२६॥

अर्थ—यह राजा की सम्पूर्ण सनातन कर्मविधि कही । अब आगे कही

यह वैश्य शूद्रों की कर्मविधि जाने ॥ ३२५ ॥ उपनयनादि संस्कार किया हुवा वैश्य, विवाह करके, व्यापार तथा पशुपालन में सदा युक्त होवे।।३२६॥

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् । ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥३२७॥ न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति। वैश्ये चेच्छति नाऽन्येन रक्षितव्याः कथञ्चन॥३२८॥

अर्थ–क्योंकि ब्रह्मा ने पशुओं को उत्पन्न करके (रक्षा के लिये) वैश्य को दे दिये और ब्राह्मण तथा राजा को सब प्रजा (रक्षा के लिये) दे दीं हैं।।३२७।। मैं पशुओं की रक्षा नहीं करूं, ऐसी वैश्य की इच्छा न होनी चाहिये । और वैश्यके चाहते हुवे दूसरे को पशुपालन कभी न करना चाहिये।।३२८।।

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च। गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम्॥३२९॥बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च। मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः॥३३०॥

अर्थ–मणि मोती मूंगा लोहा और कपड़ा तथा कर्पूरादि गन्ध और लवणादि रसों का घटी बढ़ी का भाव वैश्य जाने ॥ ३२९ ।। सब बीजों के बोने की विधि और खेत के गुण दोष का भी जानने वाला हो और सब प्रकार के माप तोल का भी जानने वाला हो।।३३०।।

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् । लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम्॥३३१॥भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम्। द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च॥३३२॥

अर्थ–गल्ले के अच्छे बुरे का हाल और देशों में सस्ते महँगे आदि गुण अवगुण का भाव और बिक्री के लाभ हानि का वृत्तान्त तथा पशुओं के बढ़ने का उपाय जाने ॥ ३३१ ॥ और नौकरों की तनख़्वाहों को जाने तथा नाना देश के मनुष्यों की बोली और माल के रखने की विधि तथा बेचने ख़रीदने का ढंग जानने वाला (वैश्य) होना चाहिये ।।३३२।।

धर्मेण चद्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् । दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः॥३३३॥विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्। शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥ ३३४ ॥

अर्थ—धर्म से धन के बढ़ाने में खूब यत्न करे। और सब प्राणियों को यत्न से अन्न पहुंचावे ही ॥३३३॥ वेद के जानने वाले विद्वान् गृहस्थ यशस्वी ब्राह्मणादि की सेवा ही शूद्र का परम सुखदायी धर्म है ॥ ३३४ ॥

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहङ्कृतः । ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते॥३३५॥एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः । आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तन्निबोधत ॥३३६॥

अर्थ—स्वच्छ रहने वाला और अच्छा महनती और मुलायमी से बोलने वाला तथा अहङ्काररहित, नित्य ब्राह्मणादि की सेवा करने वाला, शूद्र उच्च जाति को प्राप्त होजाता है ॥ ३३५ ॥ यह वर्णों की आपत्तिरहित समय में शुभ कर्मविधि कही। अब जो उन की आपत्काल की कर्मविधि है (दशमाध्याय में) उस को सुनो ॥ ३३६ ॥

इतिमानवे धर्मशास्त्रे(भृगुप्रोक्तायां संहितायां)

नवमोऽध्यायः॥९॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

नवमोऽध्यायः ॥९॥

ओ३म्

अथ दशमोऽध्यायः

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः । प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥ सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्त्युपायान्यथाविधि । प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—अपने कर्म में स्थित द्विजाति ब्राह्मणादि तीन वर्ण (वेद को) पढ़ें और ब्राह्मण इन को पढ़ावे । इतर (क्षत्रिय वैश्य) न पढ़ावें। यह निर्णय है ॥ १ ॥ ब्राह्मण सब वर्णों का जीवनोपाय यथाशास्त्र जाने और उन को बतावे और आप भी यथोक्त अनुष्ठान करे ॥ २ ॥

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात् । संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ३ ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः । चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ ४ ॥

अर्थ—विशेषता से, स्वाभाविक श्रेष्ठता से, नियम के धारण करने से तथा संस्कार की अधिकता से, सब वर्णों का ब्राह्मण प्रभु है ॥ ३ ॥ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ये तीन वर्ण द्विजाति हैं चौथा शूद्र एकजाति है । पञ्चम वर्ण नहीं है ॥ ४ ॥

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु । आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥ ५ ॥ स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान् । सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥

अर्थ—ब्राह्मणादि चार वर्णों में अपने समान वर्ण की (विवाह से पूर्व) पुरुष सम्बन्ध से रहित पत्नियों से क्रमसे जो संतान उत्पन्न हों उनको जाति से वे ही जानना चाहिये ॥ (इस प्रकरण में जो जातियों का विचार है सो इस लिये है कि गर्भाधान से लेकर जन्मपर्य्यन्त हुवे संस्कारों के प्रभाव से जन्मकाल में वह उस २ नाम से पुकारने योग्य है । परन्तु यह कथन उस अपवाद का बाधक नहीं, जो कि विपरीतआचरणादि से वर्णव्यवस्थापनमें शास्त्रका सिद्धान्त है) ॥ ५ ॥ क्रम के साथ अपने से (अर्थात् ब्राह्मण से क्षत्रिया में, क्षत्रिय से वैश्या में, इस

प्रकार) एक नीचे की हीन जाति की स्त्रियों में द्विजों के उत्पन्न किये हुवे संतानों को माता की जातिसे निन्दित,पिता के समान ही(पतित)कहते हैं ॥६॥

अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः । द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम्॥७॥ ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते। निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते॥८॥

अर्थ—अपने से एक वर्ण हीन स्त्रियों में उत्पन्न हुवों की यह सनातन विधि कही। अब दो वर्ण हीना स्त्रियों में (जैसे ब्राह्मण से वैश्या में) उत्पन्न हुवों की यह धर्म्यविधि जाने ॥ ७ ॥ ब्राह्मण से वैश्य कन्या में "अम्बष्ठ" नाम उत्पन्न होता है। और (ब्राह्मण से) शूद्र कन्या में "निषाद" नाम उत्पन्न होता है, जिस को "पारशव" भी कहते हैं ॥ ८ ॥

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान्। क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते॥९॥ विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः ॥ वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्षडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥ १० ॥

अर्थ—क्षत्रिय से शूद्रकन्या में क्रूर आचार विहार वाला और क्षत्रिय शूद्र शरीर वाला "उग्र" नामक उत्पन्न होता है ॥९॥ ब्राह्मण के तीन वर्ण की क्षत्रियादि स्त्रियों में,और क्षत्रिय के २ वैश्या वा शूद्रा में,तथा वैश्य के १ शूद्रा में उत्पन्न हुवे, ये छः "अपसद" कहे गये हैं ॥ १० ॥

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः । वैश्यान्मगधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ ११ ॥ शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम्। वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥१२॥

अर्थ—(ये अनुलोम कह के अब प्रतिलोम कहते हैं,) क्षत्रिय से ब्राह्मण की कन्या में "सूत"नाम जाति से होता है। और वैश्य से क्षत्रियामें "मागध" तथा वैश्य से ब्राह्मणी में " वैदेह " नाम उत्पन्न होते हैं ॥ ११ ॥ शूद्र से वैश्या, क्षत्रिया तथा ब्राह्मणी में, क्रम के साथ " आयोगव " " क्षत्ता " " चण्डाल " अधम, ये (श्लोक ६ से यहां तक कहे) मनुष्यों में वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ । क्षत्तृवैदेहकौ त-

हृत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥१३॥ पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम्। ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥१४॥

अर्थ—एक के अन्तर वर्ण में अनुलोम से जैसे अम्बष्ठ और उग्र कहे हैं, वैसे ही प्रतिलोम से जन्म में "क्षत्ता" और "वैदेह" कहे हैं ॥ १३ ॥ द्विजन्माओं के क्रम से कहे हुवे अनन्तर (एक वर्ण नीची) स्त्री से उत्पन्न हुवे पुत्रों को माता के दोष से "अनन्तर" नाम से कहते हैं ॥१४॥

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते । आभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यां तु धिग्वणः ॥१५॥ आयोगवश्च क्षत्ता च चण्डालश्चाधमो नृणाम् । प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥१६॥

अर्थ—ब्राह्मण से "उग्र" कन्या में "आवृत" नाम सन्तान उत्पन्न होती है और (ब्राह्मण से) "अम्बष्ठ" कन्या में "आभीर" नाम उत्पन्न होता है तथा "आयोगव" कन्या में (ब्राह्मण से) उत्पन्न हुवा "धिग्वण" कहाता है ॥१५॥ आयोगव, क्षत्ता, चण्डाल ; ये मनुष्यों में तीन अधम प्रतिलोम से जो उत्पन्न होते हैं, ये शूद्र से निकृष्ट हैं ॥ १६ ॥

वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूत एव तु । प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास्त्रयः॥१७॥जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः। शूद्राज्जातो निषाद्यां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥१८॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार वैश्य से मागध और वैदेह । तथा क्षत्रिय से सूत ; ये भी प्रतिलोम से अन्य ३ निकृष्ट उत्पन्न होते हैं ॥१७॥ निषाद से शूद्रा में उत्पन्न हुआ "पुक्कस" जाति होता है और शूद्र से निषाद की कन्या में उत्पन्न हुआ कुक्कुटक" कहा गया है ॥१८॥

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते । वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्यामुत्पन्नो वेण उच्यते ॥१९॥ द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान्। तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत्॥२०॥

अर्थ—ऐसे ही क्षत्ता से उग्र की कन्या में उत्पन्न हुवे को "श्वपाक" कहते हैं और वैदेह से अम्बष्ठा में उत्पन्न हुवे को "वेण" कहते हैं ॥१९॥ द्विजाति

अपने वर्ण की स्त्री में संस्काररहित जिन पुत्रों को उत्पन्न करते हैं उन समयानुसार उपनयनरहितों को "व्रात्य" कहे ॥ २० ॥

व्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः । आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च॥२१॥ झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्यान्निच्छिविरेव च। नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥२२॥

अर्थ—व्रात्य ब्राह्मण से पापात्मा "भूर्ज कण्टक" उत्पन्न होता है और उसी को (देशभेद से) आवन्त्यवाट, धान, पुष्पध और शैख भी कहते हैं ।।२१।।व्रात्य क्षत्रिय से झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस, द्रविड नामक उत्पन्न होते हैं ।। २२।।

वैश्यात्तु जायते व्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च । कारूषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च॥२३॥व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च। स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः ॥ २४ ॥

अर्थ—व्रात्य वैश्य से सुधन्वाचार्य, कारूष, विजन्मा, मैत्र और सात्वत नाम वाले उत्पन्न होते हैं (ये सब नाम पर्यायवाची देशभेद से समझें) ।। २३ ।। ब्राह्मणादि वर्णों से अन्योन्य स्त्री के गमन और सगोत्रमें विवाह करने तथा अपने कर्म के छोड़ने से ये वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं ।। २४ ।।

संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमाऽनुलोमजाः । अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २५ ॥ सूतो वैदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः । मागधः क्षत्तृजातिश्च तथाऽऽयोगव एव च ॥२६॥

अर्थ—जो कि संकीर्णयोनि प्रतिलोम अनुलोम के परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं, उन को विशेष करके मैं आगे कहता हूं ।।२५।। सूत, वैदेह, चण्डाल, ये अधम मनुष्य और मागध, क्षत्तृजाति तथा आयोगव—।। २६ ।।

एते षट् सदृशान्वर्णान् जनयन्ति स्वयोनिषु । मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु॥२७॥यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्माऽस्य जायते। आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात्॥२८॥

अर्थ—ये छः स्वयोनि में स्वतुल्य सुतोत्पत्ति करते हैं। और अपने से उत्तम योनियों में जन्में तो मातृजाति में गिने जाते हैं ।। २७ ।। जैसे ३ वर्णों में दो में से इस पुरुष का आत्मा उत्पन्न होता है और अनन्तर होने से अपनी

योनि में गिना जाता है, वैसे ही इन बाह्य वर्णसङ्करों में भी जानो ॥२८॥

ते चापि बाह्यान् सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान्। परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान्॥२९॥यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते। तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥

अर्थ—वे पूर्वोक्त आयोगवादि भी परस्पर जाति की स्त्री में बहुत से उन से भी अधिक दुष्ट और निन्दित सन्तान उत्पन्न करते हैं ॥ २९ ॥ जैसे शूद्र ब्राह्मणी में अधम जीव को उत्पन्न करता है, वैसे ही चारों वर्णों में वे अधम उन से भी अधमों को उत्पन्न करते हैं ॥ ३० ॥

प्रतिकूलं वर्त्तमाना बाह्या बाह्यतरान्पुनः। हीना हीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु ॥३१॥ प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम्। सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

अर्थ—प्रतिकूल चलने वाले अधम चाण्डालादि तीन, चारों वर्णों की स्त्रियों में अपने से अधिक अधम सन्तान को उत्पन्न करते हैं, तो एकसे एक हीन पन्द्रह वर्ण उत्पन्न होते हैं (चार वर्णों की स्त्रियों में तीन अधमों के तीन तीन, ऐसे बारह निकृष्ट सन्तान और उन के पिता तीन अधम, ऐसे पन्द्रह अधम उत्पन्न होते हैं) ॥३१॥ बालों में कंघी आदि करना और चरणादिकों का धोना और स्नानादि करवाना, इस प्रकारके काम से वा जाल फांसे बांध कर जीने वाला "सैरिन्ध्र" नाम (आगे कहे हुवे) दस्यु से आयोगवी में उत्पन्न होता है ॥ ३२ ॥

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं सं प्रसूयते। नॄन्प्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये॥३३॥ निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीविनम्। कैवर्त्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥३४॥

अर्थ—आयोगवी में वैदेह से मधुरभाषी "मैत्रेयक" उत्पन्न होता है, जोकि प्रातःकाल में घंटा बजा कर राजाप्रभृतियों की निरन्तर स्तुति करता है ॥ ३३ ॥ निषाद और आयोगवीसे "दास" इस दूसरे नाम वाला नाव के चलाने से जीने वाला "मार्गव" उत्पन्न होता है, जिस को आर्यावर्त्तनिवासी "कैवर्त्त" कहते हैं ॥ ३४ ॥

मृतवस्त्रभृत्सु नारीषु गर्हितान्नाशनासु च। भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥३५॥ कारावरो निषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते। वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥ ३६ ॥

अर्थ—मृतक के वस्त्र को पहरने वाली और उच्छिष्ट अन्न को भोजन करने वाली आयोगवी में अलग २ जातिहीन(तीन पुरुषोंके भेद से) ये तीन उत्पन्न होते हैं।।३५।।निषाद से तो कारावराख्य "चर्मकार" उत्पन्न होताहै और वैदेह से "अन्ध्र" और "मेद" ग्राम के बाहर रहने वाले उत्पन्न होते हैं॥ ३६ ॥

चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान्। आहिण्डिको निषादेन वैदेह्यामेव जायते॥३७॥चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान्। पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः॥३८॥

अर्थ—चण्डाल से, वैदेही में "पाण्डु,सोपाक" नामक बांस के सूप पंखा आदि बना के जीने वाला उत्पन्न होताहै। और निषाद से वैदेही में ही "आहिण्डिक" उत्पन्न होता है ॥ ३७ ॥ चण्डाल से पुक्कसी में पापात्मा सदा सज्जनों से निन्दित और जल्लाद वृत्ति वाला "सोपाक" उत्पन्न होता है।।३८।।

निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम्। श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम्॥३९॥ सङ्करे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः। प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥४०॥

अर्थ—निषाद की स्त्री चण्डाल से अधमों में निन्दित और चण्डालों से अतिनिकृष्ट श्मशाननिवासी और उसी वृत्ति से जीने वाला पुत्र उत्पन्न करती है ॥ ३९ ॥ वर्णसङ्करों में ये जाति बाप और मा के भेद से दिखाईं। इन ढकी या खुली हुइयों को अपने अपने कर्मों से जानना चाहिये।।४०॥

सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः। शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः॥४१॥ तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे। उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ४२ ॥

अर्थ—द्विजातियों के समान जाति वाले (तीन पुत्र अर्थात् ब्राह्मण ब्राह्मणी से इस क्रम से और आनुलोम्य से तीन अर्थात् ब्राह्मण से क्षत्रिया,

वैश्या में ये दो और क्षत्रिय से वैश्या में एक मिल के ३ इस प्रकार) ये छः पुत्र द्विज नाम वाले हैं । और जो दूसरे सूतादि प्रतिलोमज हैं वे सब शूद्रों के समान कहे हैं ।। ४१ ।। तपःप्रभाव से (विश्वामित्रवत्) और बीजप्रभाव से (ऋष्यशृङ्गादिवत्) सब युगों में मनुष्यों में जाति की उत्कर्षता को प्राप्त होते हैं और (आगे कहे अनुसार) नीचता को भी प्राप्त होते हैं ।।४२।।

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः । वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ।।४३ ।। पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः । पारदापल्हवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ।। ४४।।

अर्थ—ये क्षत्रियजातियें, क्रियालोप से और याजन अध्यापन प्रायश्चित्तादि के लिये ब्राह्मणों के न मिलने से, लोगों में धीरे धीरे शूद्रता को प्राप्त हो गईं (जैसेः—)।।४३।।पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, अपल्हव, चीन, किरात, दरद, खश, (ये क्षत्रिय क्रियालोप से शूद्रता को प्राप्त हुवे हैं) ।।४४।।

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः । म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ।। ४५ ।। ये द्विजानामपसदा ये चापध्वंसजाःस्मृताः । ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः।।४६।।

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रों की (क्रियालोप से) अधम जातियें म्लेच्छ भाषायुक्त वा आर्यभाषा युक्त सब " दस्यु " कही गईं है ।।४५ ।। जो पूर्व में द्विजों के अनुलोम से अपसद और प्रतिलोम से अपध्वंसज कहे हैं, वे द्विजों के ही निन्दित कर्मों से आजीवन करें ।।४६।।

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम् । वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः ।।४७।। मत्स्यघातो निषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च । मेदान्ध्रचुञ्चुमद्गूनामारण्यपशुहिंसनम् ।।४८।।

अर्थ—सूतों का (काम)अश्व कासारथि होना और अम्बष्ठों का चिकित्सा और वैदेहोंका अन्तःपुर का काम और मागधों का बनियांपन,(इन कामों को करके ये जीवन करते हैं)।।४७।।निषादों का मच्छ मारना और आयोगव का लकड़ी तोड़ना और मेद अन्ध्र चुञ्चु मद्गु इन का जङ्गल के जानवरों को मारना(पेशा है)।।४८।।

क्षत्तुग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधबन्धनम् । धिग्वणानां चर्मकार्यं वे-

णानां भाण्डवादनम् ॥४९॥ चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च । वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥

अर्थ-क्षत्ता, उग्र, पुक्कस, इन का (रोज़गार) बिलके रहने वाले जानवरों को मारना और बान्धना और धिग्वणोंका चमड़े का काम बनाना और वेणों का बाजा बजाना (काम) है ॥ ४९ ॥ ग्राम के समीप प्रसिद्ध बड़े २ वृक्षों के नीचे और श्मशान तथा पर्वत बाग़ बग़ीचों के पास अपने २ कामों को करने से ये प्रसिद्ध हुवे निवास करें ॥ ५० ॥

चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः । अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥ ५१ ॥ वासांसि मृतचैलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् । कार्ष्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥५२ ॥

अर्थ- चण्डालों और श्वपचों का निवास ग्रामके बाहर हो और ये निषिद्ध पात्र वाले होने चाहियें और इन का धन कुत्ता गधा है ॥ ५१ ॥ और इन के कपड़े मुरदे के वस्त्र वा पुराने चिथड़े हों तथा फूटे बरतनों में भोजन वाले, लोहे के आभूषण और घूमना स्वभाव, (यह इनका लक्षण है) ॥५२॥

न तैःसमयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् । व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥५३॥ अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने । रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ५४ ॥

अर्थ-धर्मानुष्ठान के समय में चण्डाल श्वपाक इत्यादि के साथ देखना बोलना आदि व्यवहार न करे। उन का व्यवहार और विवाह बराबर वालों के साथ हों ॥ ५३ ॥ इन को खपरे आदि में रख के अलग से अन्न देवें और वे रात को ग्रामों और नगरों में न घूमें ॥ ५४ ॥

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः । अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥५५ ॥ वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया । वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥ ५६॥

अर्थ-वे राजा की आज्ञा से चपड़ास पाए हुवे काम के लिये दिन में घूमें और बेवारिस मुरदे को लेजावें । यह मर्यादा है ॥ ५५ ॥ यथाशास्त्र

नृप की आज्ञा से निरन्तर फांसी के योग्यों को फांसी देवें और उस वध्यके कपड़े, शय्या और आभरणों को ग्रहण करें ।। ५६ ।।

(३९ वें तक मनु ने व्यभिचारोत्पन्न वर्णसङ्करों की नाना प्रकार के नामों से उत्पत्ति कही, उसका तात्पर्य यह है कि उन की व्यभिचारजनित वर्णसङ्करता की प्रसिद्धि रहे, आगे को लोग व्यभिचार न करें, वर्णसंकरों को उत्पन्न न करें। आर्य्यसन्तान की उत्तरोत्तर उन्नति हो। परन्तु ४२ वें में यह बता दिया है कि तप आदि के प्रभाव से नीचे ऊंच होजाते हैं। तथा ४३। ४४ में पौण्ड्रकादि का ऊंचे से नीचा हो जाना कहा है। ४६ से ५६ तक वर्णसङ्करों के नीच तथा निन्दित काम राजद्वारा नियत किये हैं, जिस से उन की नीच दशा को देखकर अन्यों को नीचत्व के कारण व्यभिचारादि से घृणा हो)॥५६॥

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् । आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥५७॥ अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता । पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—सङ्कर से हुवे रंग बदले और लोगों में नहीं जाने जाते हुवे देखने में आर्य से परंतु यथार्थ से अनार्य, अधम पुरुष को उस २ के निज २ कर्मों से निश्चय करे ॥५७॥ असभ्यपन और कठोरभाषणशीलता तथा कर्मानुष्ठान से रहितता; ये लक्षण इस लोक में नीचयोनिज पुरुष को प्रकट करते हैं ॥५८॥

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा । न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥५९॥ कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसङ्करः । संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ६० ॥

अर्थ—यह वर्णसङ्कर से उत्पन्न हुवा पितृसंबन्धी दुष्टस्वभाव को सेवन करता है, अथवा माता का या दोनों का स्वभाव स्वीकार करता है, किन्तु उस को गुप्त कभी नहीं कर सक्ता ॥ ५९ ॥ बड़े कुल में उत्पन्न हुवे का भी जिस का योनि से संकर (ढका) हुवा है, वह मनुष्य योनिका स्वभाव थोड़ा या बहुत पकड़ता ही है ॥ ६० ॥

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः । राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥६१॥ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुप-

स्कृतः। स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम्॥६२॥

अर्थ-जिस राज्य में ये वर्णसङ्कर (वर्णों के दूषक) बहुत उत्पन्न होते हैं, वह राज्य वहां के निवासियों के साथ शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है॥६१॥ ब्राह्मण, गाय, स्त्री, बाल; इन की रक्षा में दुष्ट प्रयोजन से रहित होकर प्रतिलोमजों का प्राणत्याग, सिद्धि का हेतु है ॥ ६२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥६३॥"शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते। अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात्॥६४॥"

अर्थ-हिंसा न करना, सत्यभाषण करना, दूसरे का धन अन्याय से न लेना, पवित्र रहना और इन्द्रियों का निग्रह करना, यह संक्षेप से चारों वर्णों का धर्म (सुक्ष्म) मनु ने कहा है ॥६३॥ "शूद्रा में ब्राह्मण से पारशवाख्य वर्ण उत्पन्न होता है, यदि दैववश से स्त्रीगर्भ हो तो वह स्त्री दूसरे ब्राह्मण से विवाह करे और फिर उसकी कन्या तीसरे ब्राह्मण से विवाह करे, इस प्रकार सातवें जन्म में ब्राह्मणता को प्राप्त होता है ॥६४॥"

(यह श्लोक इस लिये अमान्य है कि शूद्रागामी ब्राह्मण तृतीयाध्यायाऽनुसार पतित हो जाता है, तो ऐसे सात ब्राह्मणों को ७ पीढ़ी तक पतित कराने वाला श्लोक मनु का सम्मत हो, सो ठीक नहीं जान पड़ता) ॥ ६४ ॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥६५॥अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया। ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद्भवेत्॥६६॥

अर्थ-ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होता है और शूद्र ब्राह्मणता को प्राप्त होता है। क्षत्रिय से हुवा भी इसी प्रकार और वैसे ही वैश्य से हुवा पुरुष भी अन्य वर्ण को प्राप्त होता जानना चाहिये ॥६५॥ जो दैवयोग से ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न हुवा और जो शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुवा; इन दोनों में अच्छापन किस में है? यदि यह संशय हो (तो उत्तर यह है किः-) ॥ ६६ ॥

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः। जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः॥६७॥ तावुभावप्यसंस्कार्याविति ध-

र्मो व्यवस्थितः । वैगुण्याज्जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥६८॥

अर्थ—अनार्या स्त्री में आर्य से उत्पन्न हुआ, गुणों से आर्य होसकता है और शूद्र से ब्राह्मणी स्त्री में उत्पन्न हुवा गुणों से शूद्र उत्पन्न होना संभव है। यह निश्चय है ॥६७॥ धर्म की मर्यादा है कि पहला शूद्रा में उत्पन्न होने से जाति की विगुणता से और दूसरा प्रतिलोम से उत्पन्न होने के कारण; ऐसे ये दोनों उपनयन के अयोग्य हैं ॥६८॥

सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा । तथाऽर्याज्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥६९॥ बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनी—षिणः । बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥७०॥

अर्थ—जैसे अच्छा बीज अच्छे खेत में बोया हुआ समृद्ध होता है, वैसे ही आर्या में आर्य से उत्पन्न हुआ संपूर्ण उपनयनादि संस्कार के योग्य है ॥६९॥ कोई विद्वान् बीज को प्रधान कहते हैं और कोई खेत को और अन्य कोई दोनों को प्रधान कहते हैं, उन में यह व्यवस्था है कि—॥७०॥

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरेव विनश्यति । अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥७१॥ "यस्माद्बीजप्रभावेणतिर्यग्जा ऋषयोऽभवन् । पूजिताश्चप्रशस्ताश्चतस्माद्बीजंप्रशस्यते ॥७२॥"

अर्थ—ऊषर में बोया हुवा बीज भीतर ही नाश को प्राप्त होजाता है और बीजरहित अच्छा भी खेत कोरा चौंतरा ही रहेगा (इस से दोनों ही अपने २ गुण में मुख्य हैं) ॥७१॥ (यहां तक बीज और क्षेत्र की प्रधान के विवाद में गुण कर्मों का वर्णन नहीं है किन्तु स्वभाव, जो कि प्रायः रज वीर्य के शुद्धाऽशुद्ध होने से शुद्धाऽशुद्ध होता है, उसमें ही यह विचार प्रवृत्त किया है कि दोनों में प्रबलता किस को है) ॥७१॥ " बीज के माहात्म्य से तिर्यक् योनि (अर्थात् हरिणादि से उत्पन्न हुवे शृङ्गिऋष्यादि) ऋषित्व को प्राप्त पूजन योग्य और स्तुतियोग्य हुवे। इस से बीज को प्रधानता है ॥७२॥" (प्रथम तो तिर्यग्योनि से मनुष्ययोनि उत्पन्न नहीं होसक्ती । दूसरे ऋष्यादि की कथायें पीछे की हैं। मनु उन का भूतकाल करके वर्णन नहीं कर सक्ते थे) ॥७२॥

अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम् ।
संप्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥७३॥

अर्थ—द्विज, शूद्रों के कर्म करने वाले और शूद्र, द्विजों के कर्म करने वाले, इन को ब्रह्मा ने विचार कर कहा कि न ये सम हैं न असम हैं ।।७३।।(क्योंकि गुणों और स्वभावों के विना केवल कर्म से, अनार्य आर्य नहीं हो सक्ते। और गुणों तथा स्वभावों से युक्त आर्य, केवल कर्महीन होजाने से अनार्य नहीं हो सक्ता । अर्थात् मनु जी कहते हैं कि केवल कर्मसे हम कोई व्यवस्था नहीं दे सक्ते। किन्तु गुण कर्म स्वभाव सब पर दृष्टि डाल कर व्यवस्थापक विद्वान् वा सभा को व्यवस्था देनी चाहिये। मेधातिथि कहते हैं कि यहां तक वर्णसङ्करोंकी निन्दा और कर्मोंकी प्रशंसा रूप अर्थवाद ही है । विधि वा निषेध कुछ नहीं)।।७३।।

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः ।
ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम् ॥७४॥

अर्थ—जो ब्रह्मयोनिस्थ ब्राह्मण हैं और अपने कर्म से रहते हैं वे क्रमसे अच्छे प्रकार छः कर्मों का अनुष्ठान करें (उन कर्मों को कहते हैं:—) ।। ७४ ।।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः।।७५।।षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥७६॥

अर्थ—पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, और कराना, दान देना, और लेना ब्राह्मण के ये छः कर्म हैं ।। ७५ ।। छः कर्मों में इस ब्राह्मण को तीन कर्म जीविका हैं:—१ यज्ञ कराना,२ पढ़ाना, और ३ शुद्ध द्विजातियों से दान लेना।।७६॥

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति । अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ७७ ॥ वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः । न तौ प्रति हि तान् धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥७८॥

अर्थ—ब्राह्मण के धर्मों से क्षत्रिय के तीन धर्म छूटे हैं, पढ़ाना, यज्ञ कराना, और दान लेना, (अर्थात् इन को क्षत्रिय न करे) ।। ७७ ।। वैश्य के प्रति उसी प्रकार तीन धर्म छूटें। इस प्रकार मर्यादा है । क्योंकि क्षत्रिय वैश्यों की जीविकार्थ उन धर्मों को मुझ मनु प्रजापति ने नहीं कहा है ।। ७८ ।।

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः । आजीवनार्थं धर्मस्तु

दानमध्ययनं यजिः ॥ ७९ ॥ वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् । वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥८०॥

अर्थ—क्षत्रिय का शस्त्र अस्त्र धारण करना और वैश्य का व्यापार, गाय बैल आदि का रखना और खेती; ये कर्म दोनों के आजीवनार्थ कहे हैं और पढ़ना, याग करना, दान देना, धर्म कहा है ॥ ७९ ॥ ब्राह्मण का वेदाभ्यास करना, और क्षत्रिय का रक्षा करना, और वैश्य का वाणिज्य करना; ये जीवनार्थ अपने २ कर्मों में श्रेष्ठ कर्म हैं ॥८०॥

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा । जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥८१॥ उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् । कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥८२॥

अर्थ—ब्राह्मण अपने यथोक्त कर्मसे निर्वाह कर सकता हुवा (आपत्काल में) क्षत्रिय के धर्म से अपना जीवन करे क्योंकि वह इस के समीप है ॥ ८१ ॥ दोनों(ब्राह्मण और क्षत्रियों की जीविकाओं)से न जी सकता हुवा,कैसे जीवन करे? ऐसा संशय हो तो कृषि और गोरक्षा करके वैश्य की जीविका करे॥८२॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा । हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत्॥८३॥कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता । भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥८४॥

अर्थ—ब्राह्मण और क्षत्रिय वैश्यवृत्ति करके जीते हुवे भी बहुत हिंसावाली और पराधीन खेती को यत्न से छोड़ देवें ॥ ८३ ॥ "खेती अच्छी है" ऐसा कोई महात्मा कहते हैं । परन्तु यह वृत्ति साधुओं से निन्दित है क्योंकि कुदाल हलादि लोहा लगा हुवा काष्ठ भूमि के साथ भूमिके रहने वाले जन्तुवों का भी नाश करता है ॥ ८४ ॥

"इदंतुवृत्तिवैकल्यात्त्यजतोधर्मनैपुणम् । विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयंवित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥ सर्वान्रसानपोहेतकृतान्नंचतिलैः सह । अश्मनोलवणंचैवपशवोयेचमानुषाः ॥ ८६ ॥"

"अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रियों को अपनी वृत्ति के न होने में धर्म की यथोक्त

निष्ठा को छोड़ते हुवों को वैश्य के बेचने योग्य जो द्रव्य, उस में आगे कहे हुवों को छोड़ कर धनवृद्धिकारक विक्रय करना योग्य है ॥ ८५॥ सम्पूर्ण रसों को और पकाये अनाज को तिलों के सहित तथा पत्थर, नोन, मनुष्यों के पालन पशु इन को न बेचे ॥ ८६ ॥"

"सर्वंचतान्तवंरक्तंशाणक्षौमाविकानिच । अपिचेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥ ८७ ॥ अपःशस्त्रंविषंमांसंसोमंगन्धांश्च सर्वशः । क्षीरंक्षौद्रंदधिघृतंतैलंमधुगुडंकुशान् ॥ ८८ ॥"

"अर्थ—और सब रङ्गे तथा सनके कपड़े और रेशमी ऊनी कपड़े विना रङ्गे भी हों और फल मूल तथा ओषधियों को (न बेचे) ॥८७॥ जल, शस्त्र, विष मांस, सोमवल्ली तथा सब प्रकार के गन्ध, दूध, शहद, दही, घी, तेल, मधु (एक पुस्तक में मधु=मज्जा पाठ है !!!) गुड़, कुशा (इन को भी न बेचे)॥८८॥"

" आरण्यांश्चपशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्चवयांसिच । मद्यंनीलिंचलाक्षां चसर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥ ८९ ॥ काममुत्पाद्यकृष्यांतुस्वयमेवकृ-षीवलः । विक्रीणीततिलाञ्शूद्रान्धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥ ९० ॥

"अर्थ—अरण्य के रहने वाले सब पशु, तथा दान्तों वाले हिंसादि और पक्षियों तथा मद्य, नील, लाख और एक खुर वाले घोड़ा आदि (इन को भी न बेचे) ॥ ८९ ॥ खेती वाला आप ही खेती में तिलों को उत्पन्न करके दूसरे द्रव्य से न मिलाये हुवे तिलों का बहुत दिन न रख के धर्मकार्य में लगाने निमित्त विक्रय करे ॥९०॥"

"भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत्कुरुतेतिलैः । कृमिभूतःश्ववि-ष्ठायांपितृभिःसहमज्जति ॥९१॥ सद्यःपततिमांसेनलाक्षयाल-वणेनच । त्र्यहेणशूद्रीभवतिब्राह्मणःक्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥ "

"अर्थ—भोजन अभ्यञ्जन दान के सिवाय जो कोई तिलों से और कुछ करता है वह कृमि बन कर पितरों के साथ कुत्ते की विष्ठा में डूबता है ॥ ९१ ॥ मांस लाख और लवणके बेचनेसे ब्राह्मण उसी समय पतित होता है और दूध के बेचने से (ब्राह्मण) तीन दिन में शूद्रता को प्राप्तहोता है ॥९२॥"

"इतरेषांतुपण्यानांविक्रयादिहकामतः । ब्राह्मणःसप्तरात्रेण

वैश्यभावंनियच्छति ॥ ९३ ॥ रसारसैर्निमातव्यानत्वेवलव-
णंरसैः । कृतान्नंचाकृतान्नेनतिलाधान्येनतत्समाः ॥ ९४ ॥"

"अर्थ--ब्राह्मण उक्त मांसादिकों से अतिरिक्त पदार्थों को इच्छापूर्वक बेचने से सात दिनमें वैश्यत्वको प्राप्त होता है ॥९३॥ गुडादि का घृतादि से बदला कर लेवे परन्तु लवण का इनसे बदला न करे। सिद्ध किया अन्न बिना सिद्ध किये अन्न से बदल ले और तिल धान्य के समान हैं,धान्य से बदल लेवे ॥९४॥"

(८४ से ९४ तक ११ श्लोक भी अमान्य जान पड़ते हैं । इन में जो वस्तु विशेष का विक्रय वर्जित किया है सो बड़ा अस्तव्यस्त, पुनरुक्त,पूर्वापरविरुद्ध इत्यादि दोषयुक्त है । जब सभी रस वर्जदिये फिर लवणादि की गणना व्यर्थ है। जब ८६वें में पालतू पशु वर्जे और सब जंगली पशु ८९ वें में वर्जे,तब शेष कौन रहे ? और वन के पशु वर्जने से सिंहादि के पृथक् कथन की क्या आवश्यकता थी ? और मांस मज्जा का विक्रय क्या वैश्यका धर्म था? जो वैश्यवृत्ति ब्राह्मण को वर्जित किया ? रामचन्द्र के भाष्य में--क्षौमाविकानि=क्षौमविकारि, पाठ-भेद है । ९० वें में "शूद्रान्" की जगह "शुद्धान्" पाठ की छहों टीकाकारों ने व्याख्या की है। "शूद्रान्" की किसी ने नहीं । परन्तु ५ मूल पुस्तकों को छोड़ शेष २५ पुस्तकों में मूल का पाठ "शूद्रान्" ही है । ८९ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक भी है कि--

[त्रपु सीसं तथा लोहं तैजसानि च सर्वशः ।
बालांश्चर्म तथाऽस्थीनि सस्नायूनि च वर्जयेत्]

इस पर नन्दन का भाष्य भी है । अर्थ यहहै कि रांग,सीसा,तथा लोहा, और सब चमकीले धातु और बाल, चमड़ा, तथा तांत लिपटी हड्डी (न बेचे) ।। वास्तव में विचार से सब कोई देख सक्ता है कि इस में शुद्ध पदार्थों की व्यर्थ निन्दा और कई चरबी मांसादि वैश्य को भी निषिद्ध का वृथा निषेध कहा गया है । परन्तु जैसा महाभाष्य में तैल मांस विक्रय का निषेध और सरसों तथा गौ आदिके विक्रय की विधि कही है वह तौ युक्त है। क्योंकि अत्यन्त मलिन और पापजनक वृत्ति से बचना चाहिये) ॥ ९४ ॥

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।न त्वेव ज्यायसीं वृत्ति-
मभिमन्येत कर्हिचित्॥९५॥यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृ-

ष्टकर्मभिः ।तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥९६॥

अर्थ—आपत्ति को प्राप्त हुवा क्षत्रिय भी इस सब विधि से (वैश्यवत्) जीवन करे, परन्तु कदापि ब्राह्मण की वृत्ति का अभिमान न करे ॥ ९५ ॥ जो निकृष्ट जाति से उत्पन्न हुवा, (बिना व्यवस्थापकोंसे विधिपूर्वक उच्चता पाये, आप ही आप) लोभ से उत्कृष्ट जाति की वृत्ति करे, उस को राजा निर्धन करके देश से निकाल देवे ॥ ९६ ॥

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः । परधर्मेण जीवन्हि सद्यःपतति जातितः॥९७॥ वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्त्तयेत् । अनाचरन्नकार्याणि निवर्त्तेत च शक्तिमान् ॥९८॥

अर्थ—अपना धर्म (काम) छोटा मोटा भी श्रेष्ठ है और दूसरे का अच्छा भी श्रेष्ठ नहीं। क्योंकि पराये धर्म (पेशे)का आचरण करके जीविका करता हुवा, उसी समय अपनी जाति से पतित होजाता है ॥ ९७ ॥ वैश्य अपनी वृत्ति से जीवन न कर सकता हुवा, शूद्रवृत्ति भी करे (अर्थात् द्विजातियों की सेवा करे) परन्तु उच्छिष्टभोजनादि अकार्य को छोड़ कर, और हो सके तो सर्वथा ही बचे ॥ ९८ ॥

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्त्तुं द्विजन्मनाम् । पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः॥९९॥यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः। तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च॥१००॥

अर्थ—द्विजों की शुश्रूषा करने को असमर्थ हुवा शूद्र क्षुधा से पुत्र कलत्र आदि को कष्ट प्राप्त होते हुवे कारुक कर्मों (अर्थात् सूपकारादि) से जीवन करे ॥ ९९ ॥ जिन प्रचरित कर्मों से द्विजाति की शुश्रूषा करते हैं, उन को और नानाप्रकार के शिल्पों को भी कारुककर्म कहते हैं ॥१००॥

"वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथिस्थितः।अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥ सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयंगतः। पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥१०२॥"

"अर्थ—अपने मार्ग में स्थित ब्राह्मण जीविका के न होने से पीडा को प्राप्त हुआ, वैश्यवृत्ति को भी न कर सके तो इस वृत्ति को करेः—॥ १०१ ॥

ब्राह्मण विपत्ति को प्राप्त हुआ, सब से दान लेवे, क्योंकि पवित्र दोष को प्राप्त होता है, ऐसा धर्म से नहीं पाया जाता ॥ १०२ ॥"

"नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् । दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते॥१०३॥जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः । आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते॥१०४॥"

"अर्थ—ब्राह्मणों को निन्दित पढ़ाने और याग कराने तथा प्रतिग्रह से दोष नहीं होता, क्योंकि वे पानी तथा आग के समान हैं, (दो पुस्तकों में 'ज्वलनार्कसमा हि ते' और एक में "ज्वलनार्कसमाहितः" भी पाठ है) ॥ १०३ ॥ जो प्राणात्यय को प्राप्त हुवा जहां तहां अन्न भोजन करता है, वह कीचड़ से आकाश के सामान उस पाप से लिप्त नहीं होता ॥ १०४ ॥"

"अजीगर्तःसुतंहन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः । नचालिप्यतपापेनक्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥ श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुंधर्माधर्मविचक्षणः । प्राणानांपरिरक्षार्थंवामदेवोनलिप्तवान् ॥ १०६ ॥"

"अर्थ—अजीगर्त नाम ऋषि बुभुक्षित हुवा, पुत्र को मारने को चला, परन्तु क्षुधा के दूर करने को वैसा करता हुवा पाप से लिप्त नहीं हुवा ॥ १०५ ॥ वामदेव धर्म अधर्म का जानने वाला, क्षुधा से पीड़ित हुवा, प्राण की रक्षार्थ कुत्ते के मांस खाने की इच्छा करता हुवा पाप से लिप्त नहीं हुवा ॥१०६॥"

"भरद्वाजःक्षुधार्तस्तुसपुत्रोविजनेवने । बह्वीर्गाःप्रतिजग्राहवृधोस्तक्ष्णोमहातपाः ॥ १०७ ॥ क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रःश्वजाघनीम् । चण्डालहस्तादादायधर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥,,

"अर्थ—बड़े तपस्वी, पुत्र के सहित, निर्जन वन में क्षुधा से पीड़ित हुवे भरद्वाज ने, वृधुनामा बढ़ी की बहुत सी गायों को ग्रहण किया ॥ १०७ ॥ धर्म अधर्म के जानने वाले विश्वामित्र ऋषि क्षुधा से पीड़ित हुवे, चण्डाल के हाथ से कुत्ते की जांघ का मांस लेकर खाने को तैयार हुवे ॥ १०८ ॥"

(यद्यपि (१०१) से १०४ तक भी श्लोक अमान्य है। क्योंकि आपत्काल में भी आपद्धर्म से नीचे न गिरना चाहिये। और पूर्व मनु कह भी आये हैं कि स्वधर्मत्याग से पतितता होती है। परन्तु यदि यहां आपत्काल का तात्पर्य प्राणसंकट हो, अर्थात् कभी दैवयोग से कहीं ऐसा अवसर आजावे

कि सर्वथा ही प्राण न बच सके हों, तो प्राणरक्षार्थ ये श्लोक मान्य भी समझे जासक्ते हैं। और प्राणों को भी धर्मार्थ न्यौछावर कर देना तो बहुत ही अच्छा है। परन्तु कोई कोई विद्वान् जगत् के महान् उपकारक हैं, यदि वे अपने प्राणों को परोपकारार्थ बचाते हुवे निषिद्ध प्रतिग्रहादि ले भी लें और इस को धर्म भी मान लिया जावे तो इस में तो सन्देह ही नहीं कि १०५से १०८ तक के ४ श्लोक तो अवश्य ही मनुप्रोक्त वा भृगुप्रोक्त नहीं। जिन में मनु से पश्चात् हुवे अजीगर्त्त, वामदेव आदि की कथा को भूतकाल से वर्णन किया है) ॥१०८॥

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि। प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः॥१०९॥ याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम्। प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥

अर्थ—निन्दित प्रतिग्रह, याजन, अध्यापन; इन में निन्दित दान लेना, ब्राह्मण को परलोक में बहुत नीचता का हेतु है। (इस लिये याजन अध्यापन से जब तक काम चले तब तक निन्दित प्रतिग्रह न लेवे) ॥ १०९ ॥ याजन और अध्यापन तो उपनयनादि संस्कार वाले द्विजों ही का सर्वदा किया जाता है और प्रतिग्रह तो अन्त्य जन्म वाले शूद्र से भी करते हैं ॥११०॥

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम्। प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥१११॥ शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः। प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते॥११२॥

अर्थ—असत् याजन और अध्यापन से उत्पन्न हुवा पाप जप होमों से दूर होता है, और प्रतिग्रह निमित्त पाप, त्याग तथा तप से दूर होता है ॥ १११ ॥ ब्राह्मण अपनी वृत्ति से जीवन न कर सक्ता हुवा इधर उधर से शिलोञ्छों को भी ग्रहण करे (अर्थात् उस के होते हुवे निन्दित प्रतिग्रह न करे) क्योंकि प्रतिग्रह से शिल श्रेष्ठ है और शिल से उञ्छ श्रेष्ठ है ॥ ११२ ॥

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः। याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥ ११३ ॥ अकृतं च कृतात्क्षेत्राद्गौरजाविकमेव च। हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥ सप्त वित्तागमा धर्म्या दायोलाभः क्रयोजयः। प्रयोगः कर्मयोगश्च

सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ११५ ॥ विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्षं विपणिः कृषिः । धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥११६॥

अर्थ–धान्य कुप्य और धन की इच्छा करने वाले और कुटुम्बादि पोषण के लिये धन के न होने से पीड़ित हुवे स्नातक विप्रों को राजा से याचना करनी योग्य है। और जो राजा देना नहीं चाहता है वह याचना करने के योग्य नहीं है ॥११३॥ बनाये हुवे खेत से बे बनाया खेत और गाय, बकरी, भेड़, सोना, धान्य, अन्न; इन में (यथासंभव) पहिले २ में कम दोष है ॥ ११४ ॥ धर्म से प्राप्त इन सात प्रकार के धन का आगम धर्मानुकूल है। प्रथम वंश से चले आये हुवे धन का लाभ दायभाग, दूसरा भूमि आदि में दबा धन मिल जाना, तीसरे बेचना, चौथे सङ्ग्राम में जय करना, पांचवें व्याज आदि से बढ़ाना वा खेती करना आदि, छठा नौकरी करना, सातवां सज्जन से दान लेना ॥ ११५ ॥ ये दश जीवन के हेतु हैं– विद्या, कारीगरी, नौकरी, सेवा, पशुरक्षा, दुकानदारी, खेती, सन्तोष, भिक्षा, व्याज (ये दश हैं)॥११६॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत्। कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ॥११७॥ चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि। प्रजा रक्षन् परं शक्त्या किल्बिषात्प्रतिमुच्यते ॥ ११८ ॥

अर्थ–ब्राह्मण और क्षत्रिय सूद से धन बढ़ाने को न दे । आपत्कालमें चाहे तो धर्मकर्मनिर्वाहार्थ नीच लोगों को थोड़ा धन दे और थोड़ी सी वृद्धि ले ले ॥११७॥ आपत्काल में धनादि का चतुर्थ भाग भी ग्रहण करता हो, परन्तु प्रजा की शक्ति से रक्षा करता हुवा राजा उस (अधिक कर लेने के) पाप से छूट जाता है ॥ ११८ ॥

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः । शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्बलिम् ॥११९॥ धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षापणावरम्। कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥१२०॥

अर्थ–शत्रु का जय करना राजा का स्वधर्म है। सङ्ग्राम में पीठ न देवे। शस्त्र से वैश्यों की रक्षा करके, उन से उचित कर लेवे ॥११९॥ वैश्यों के धान्य के उपचय में आठवें भाग को राजा ग्रहण करे। और कार्षापण तक सर्राफ़ी के लाभ पर २० वां भाग ले (पूर्व धान्य का १२ वां और सुवर्णादि का ५० वां

कहा था, यहां आपत्काल में अधिक कहा है) तथा शूद्र कारीगर तक्षकादि काम करके कार्यरूप ही कर देने वाले हैं (इन से विपत्ति में भी कर न लेवे)॥१२०॥

शूद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्क्षन् क्षत्रमाराधयेद्यदि। धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत्॥१२१॥ स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः। जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥१२२॥

अर्थ—शूद्र यदि जीविका चाहे तो क्षत्रिय की सेवा करे। अथवा धनी वैश्य की सेवा करके निर्वाह करे॥१२१॥ स्वर्ग और अपनी वृत्ति की इच्छा वाला शूद्र ब्राह्मण की सेवा करे। "ब्राह्मण का सेवक" इस शब्द ही से इस की कृतकृत्यता है॥१२२॥ ("यातु ब्राह्मणसेवास्य" यह एक पुस्तक में तृतीयपाद का पाठान्तर है)

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते। यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम्॥१२३॥ प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः। शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम्॥१२४॥

अर्थ—क्योंकि ब्राह्मण की सेवा शूद्र को अन्य कर्मों से श्रेष्ठ कर्म कहा है। इस लिये इस से अतिरिक्त जो कुछ करता है, वह इस का निष्फल है॥१२३॥ उस परिचारक शूद्र की परिचर्या, सामर्थ्य और काम में चतुराई तथा उस के घर के पोष्यवर्ग का व्यय देख कर अपने घरके अनुसार उन द्विजों को जीविका नियत कर देनी चाहिये॥१२४॥

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च। पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः॥१२५॥ न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति। नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम्॥१२६॥

अर्थ—भोजन से बचा अन्न और पुराने कपड़े और धान्यों की छटन तथा पुराना बरतन भाण्डा देना चाहिये॥१२५॥ सेवक शूद्र को (द्विजों के घर का) कोई पातक नहीं है और न कोई संस्कार योग्य है। क्योंकि न तो (द्विजों के) धर्म में इस को अधिकार है, और न धर्म से इस को निषेध है॥१२६॥

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः।
मन्त्रवर्ज्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥१२७॥

अर्थ—धर्म की इच्छा वाले तथा धर्म को जानने वाले शूद्र मन्त्रवर्जित सत्पुरुषों का आचरण करते हुवे दोष को नहीं किन्तु प्रशंसा को प्राप्त होते हैं॥१२७॥

(भाव यह है कि धर्म कार्य यज्ञादि करने का शूद्रों को अधिकार (इस्तहक़ाक़) नहीं है। अर्थात् यदि द्विज लोग किसी शूद्र को अयोग्य समझ कर रोकें तो उस का यह अधिकार (इस्तहक़ाक़) नहीं है कि वह राजद्वारादि से क़ानूनन् अपना स्वत्व सिद्ध कर पावे। परन्तु उस को धर्म करने की मनाई भी नहीं है कि शूद्र यज्ञादि धर्म करे ही नहीं, किन्तु (धर्मेप्सवः) यदि शूद्र धर्म करना चाहें और धर्म करना जानते भी हों तो विना वेदमन्त्रों के उच्चारण ही यज्ञ होमादि कर सकते हैं, उस में उन को अमन्त्रक होम का कोई दोष नहीं (क्योंकि वे पढ़ना जानते ही नहीं) प्रत्युत उन की प्रशंसा होती है कि वे धर्म में श्रद्धा करते हैं) ॥१२७॥

यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।
तथातथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः॥१२८॥

अर्थ—घमण्ड से द्विजों की निन्दा न करने वाला शूद्र जैसे २ अच्छे आचरण करता है, वैसे २ इस लोक तथा परलोक में उत्कृष्टता को प्राप्त होता है॥१२८॥

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः। शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते॥१२९॥एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः। यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम्॥१३०॥

अर्थ—धनार्जन के लिये समर्थ शूद्र को भी धन सञ्चय न करना चाहिये क्योंकि शूद्र धन को पाकर ब्राह्मणादि को ही बाधा देता है ॥ १२९ ॥ ये चारों वर्णों के आपत्काल के धर्म कहे। जिन को अच्छे प्रकार आचरण करते हुवे (मनुष्य) मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥१३०॥

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्त्तितः।
अतःपरं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥१३१॥

अर्थ—यह सम्पूर्ण चारों वर्णों की कर्मविधि कही। अब इस के उपरान्त शुभ प्रायश्चित्त विधि कहूंगा ॥ १३१ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ओ३म्

अथ एकादशोऽध्यायः

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् । गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनौ ॥ १ ॥ नवैतान् स्नातकान्विद्याद्ब्राह्मणान्धर्मभिक्षुकान् । निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥२॥

अर्थ—सन्तानार्थ विवाह के प्रयोजन वाला और ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करने की इच्छा वाला तथा मार्ग चलने वाला और सम्पूर्ण धन दक्षिणा देकर जिस ने यज्ञ में लगा दिया वह, और गुरु के लिये धन का अर्थी तथा माता और पिता के लिये धन का अर्थी और विद्यार्थी और रोगी॥१॥इन नव ९ स्नातकों को धर्मभिक्षुक ब्राह्मण जाने, और ये निर्धन हों तो इन को विद्या की विशेषता के अनुसार दान देना चाहिये ॥२॥

एतेभ्यो हि द्विजाग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् । इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥३॥सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् । ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥४॥

अर्थ—इन द्विजश्रेष्ठों को दक्षिणा के साथ अन्न देना चाहिये और दूसरों को वेदी के बाहर पका अन्न देना कहा है ॥ ३ ॥ राजा वेद के जानने वाले ब्राह्मणों को यज्ञ के अर्थ सम्पूर्ण रत्न दक्षिणा यथायोग्य देवे ॥४॥

कृतदारोऽपरान्दारान् भिक्षित्वा योऽधिगच्छति । रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु सन्ततिः॥५॥धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् । वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥६ ॥

अर्थ—जो विवाहित पुरुष, भिक्षा मांग कर दूसरा विवाह करता है, उस को रतिमात्र फल है । और उस की सन्तति द्रव्य देने वाले की है ॥ ५ ॥ यथाशक्ति वेद के जानने वाले निःसङ्ग ब्राह्मणों को धन देवे (उस से) परलोक में स्वर्ग को पाता है ॥६॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये। अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति॥७॥ अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः। स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम्॥८॥

अर्थ–जिस के आवश्यक व्यय तीन वर्ष तक कुटुम्बियों के निर्वाह चलने योग्य धन हो वा इस से अधिक हो, वह सोमयज्ञ करने योग्य है॥७॥ इस से कम द्रव्य होने में जो द्विज सोमयज्ञ करता है उस का प्रथम सोमयज्ञ भी नहीं सम्पन्न होता। (इस से दूसरा यज्ञ करना ठीक नहीं है) क्योंकि–॥८॥

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि। मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः॥ ९ ॥ भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम्। तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च॥१०॥

अर्थ–जो कुटुम्बियों के दुःखी भूखे मरते हुवे परजन को देता है, वह मधु का त्याग और विष का चाटने वाला धर्मविरोधी है॥ ९॥ पुत्र स्त्री इत्यादि को क्लेश देकर जो परलोक के लिये दानादि करते हैं, वह दान इस लोक में तथा परलोक में उत्तरोत्तर दुःख फल देने वाला है॥१०॥

(इस से आगे ५ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रक्षिप्त है:–

[वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्त्तव्या मनुरब्रवीत्]

बूढ़े मा बाप, सती स्त्री, छोटा बालक, इन का भरण पोषण १०० अकाज करके भी करना चाहिये, यह मनु ने कहा है)॥ १०॥

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः। ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि॥११॥ यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः। कुटुम्बात्तस्य तद्द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये॥ १२॥

अर्थ–धार्मिक राजा के होते हुवे (क्षत्रियादि यजमानों का और) विशेष करके ब्राह्मण का यज्ञ किसी एक अङ्ग से रुका हो तो॥११॥ जो वैश्य बहुत से गाय बैल वाला और यज्ञ न करने वाला तथा सोमयज्ञ रहित हो उस के घर से यज्ञ की सिद्धि को वह द्रव्य ले आवे॥१२॥

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः। न हि शूद्रस्य य-

ज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः॥१३॥ योऽनाहिताग्निः शतगु-रयज्वा च सहस्रगुः । तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४ ॥

अर्थ–दो अङ्ग अथवा तीन अङ्ग की हीनता में चाहे शूद्र के घर से भी अपने यज्ञ सिद्ध्यर्थ उन २ वा ३ वस्तुओं को ले आवे ॥१३॥ जो अग्निहोत्री नहीं है और शत गौ परिमित धन उस के पास है, तथा जिस ने यज्ञ न किया हो और उस के पास सहस्र गौ परिमित धन है। उन दोनों के कुटुम्ब से भी विना विचारे ले आवे ॥ १४ ॥

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः । तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते ॥ १५ ॥ तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडन-श्नता । अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥

अर्थ–जिस के यहां प्रतिग्रहादि से धनग्रहण नित्य है, और दान नहीं है। उस से यज्ञ के लिये न देते हुवे से हठपूर्वक ले आवे, ऐसा करने से यश फैलता और धर्म वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ तीन दिन के भूखे को छः वार भोजन न मिला हो तो ७ वीं बार के भोजनार्थ अगले दिन के लिये न लेकर हीनकर्मी से विना आज्ञा लेलेने में दोष नहीं ॥ १६ ॥

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाप्युपलभ्यते । आख्यातव्यं तु तत्त-स्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥१७॥ ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रि-येण कदाचन। दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन् हर्तुमर्हति ॥१८॥

अर्थ–खरियान से या खेत से वा मकान से वा जिस जगह से मिलजावे वहीं से (पूर्व श्लोकोक्त अवस्था में) लेलेना चाहिये। यदि धनस्वामी पूंछे तो उस को कह दे (कि ६ वार की भूख में लिया है) ॥ १७ ॥ (इस दशामें भी) क्षत्रिय को ब्राह्मण की वस्तु कभी न लेनी चाहिये। क्षुधित हुवा क्षत्रिय निष्क्रिय और दस्यु का धन लेने को योग्य है ॥ १८ ॥

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति। स कृत्वा प्लवमा-त्मानं संतारयति तावुभौ ॥१९॥ यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं त-द्विदुर्बुधाः । अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ २० ॥

अर्थ–जो असाधुवों से धन लेके साधुवों को देता है, वह अपने को

नाव बना कर दोनों को पार उतारता है ॥ १९ ॥ सर्वदा यज्ञ करने वालों का जो धन है उस को पण्डित "देवधन" कहते हैं और यज्ञ न करने वालों का जो धन है वह "आसुरधन" कहाता है ॥ २० ॥

न तस्मिन्धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः । क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा॥२१॥तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः। श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत्॥२२॥

अर्थ—उस (६ वार की भूख में परधन लेने वाले) को धार्मिक राजा दण्ड न देवे । क्योंकि राजा ही के मूढ़ होने से ब्राह्मण क्षुधा से पीडित होता है ॥२१॥(बल्कि) उस ब्राह्मण के पुत्रादि पोष्यवर्ग और विद्या तथा सदाचार को जानकर राजा अपने यहां से उस को धर्मानुकूल व्यय का प्रबन्ध कर दे ॥२२॥

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः । राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात्॥२३॥न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित् । यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥२४॥

अर्थ—इस ब्राह्मण की जीविका नियत करके सब ओर से इस की रक्षा करे । क्योंकि उस की रक्षा से धर्म का छठा भाग राजा को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥ यज्ञ के लिये ब्राह्मण शूद्र से धन कभी न मांगे, क्योंकि (शूद्र से) भिक्षा मांग कर यज्ञ करने वाला मरने पर चण्डाल होता है ॥ २४ ॥

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति । स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥२५॥ देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः । स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥२६॥

अर्थ—यज्ञके अर्थ भिक्षा मांगकर जो सब नहीं लगाता, वह सौ वर्षतक भास(गोष्ठकुक्कुट) तथा काक भाव को प्राप्त होता है।।२५।।देवस्व और ब्राह्मण स्व को जो लोभसे हरता है,वह पापात्मा परलोकमें गिद्धकी झूंठसे जीता है।।२६।।

"इष्टिंवैश्वानरींनित्यं निर्वपेदब्दपर्यये । क्लृप्तानांपशुसोमानांनिष्कृत्यर्थमसम्भवे ॥ २७ ॥" आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः । स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥२८॥

अर्थ–"वर्ष के समाप्त होने में दूसरे वर्ष की प्रवृत्ति को अब्दपर्यय कहते हैं। उस चैत्र शुक्ल से आदि लेके वर्ष की प्रवृत्ति में विहित सोम यज्ञ के न होसकने में उस के दोष दूर करने को सर्वदा शूद्रादि से उक्त धन हरणरूप वैश्वानरी इष्टि करे ॥(४ । २६–२९) के हेतुओं से भी यह प्रक्षिप्तहै) ॥२७॥ जो द्विज आपत्काल के धर्म को अनापत्काल में करता है उस का कर्म परलोक में निष्फल होता है। ऐसा विचार है ॥२८॥

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः। आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः॥२९॥प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते। न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥३०॥

अर्थ–क्योंकि सब देवों और साध्यों तथा महर्षि और ब्राह्मणों ने आपत्काल में मरण से डरकर विधि का प्रतिनिधि आपद्धर्म नियत किया है॥२९॥ जो मुख्यानुष्ठान करनेकी शक्तिवाला होकर, आपत् के लिये विहित प्रतिनिधि अनुष्ठान करता है, उस दुर्बुद्धि का पारलौकिक फल नहीं है (इससे ऐसा न करे) ॥ ३० ॥

न ब्राह्मणो वेदयेत किञ्चिद्राजनि धर्मवित्। स्ववीर्येणैव तान् शिष्यान्मानवानपकारिणः ॥३१॥ स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम्। तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन् द्विजः ॥३२॥

अर्थ–धर्म का जाननेवाला ब्राह्मण कुछ थोड़े (नुकसान हुवे) को राजा से न कहे किन्तु अपने ही पुरुषार्थ से उन अपकार करने वाले मनुष्यों को शिक्षा देवे ॥ ३१ ॥ अपना सामर्थ्य और राजा का सामर्थ्य इन दोनों में अपना सामर्थ्य अधिक बलवान् है, इस कारण ब्राह्मण अपने ही सामर्थ्य से शत्रुओं का निग्रह करे ॥ ३२ ॥

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन्। वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः॥३३॥क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः। धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥३४॥

अर्थ–अथर्ववेद की दुष्टाभिचार श्रुतियों का (विना विचार)शीघ्र प्रयोग करे। इसी अभिचारके उच्चारणरूप शस्त्र वाला होनेसे ब्राह्मण की वाणी शस्त्र है। ब्राह्मण उस से शत्रुओं को मारे।॥३३॥ क्षत्रिय बाहुबल से अपनी आपत्ति को दूर करे। और धन से वैश्य शूद्र तथा जप होमसे ब्राह्मणआपद्को दूर करे ॥३४॥

(३१ से ३४ तक चारों वर्णों को अपनी २ आपत्ति से बचने के लिये उपदेश है। क्षत्रिय, बल से और वैश्य, शूद्र, धन वा दीनता से आपे को बचावें। परन्तु ब्राह्मण का धन वेद है, वह वेद से ही आपे को बचावे। अथर्व वेदादि में जो शत्रु से अपनी रक्षा की प्रार्थना और शत्रु के नाश की प्रार्थना हैं, उन्हीं को परमात्मा से सहायतार्थ मांगे। परमात्मा उस के सच्चे ब्राह्मणत्व को जानता हुवा अवश्य उस की रक्षा का साधन कुछ न कुछ उत्पन्न कर देगा। आस्तिकों को इस में कुछ सन्देह नहीं हो सक्ता। परन्तु ऐसे ब्राह्मण सहस्त्रों वर्ष में कोई २ कभी २ होते हैं। बहुत नहीं। तथा सर्व के हितकारी होने से उनके साथ शत्रुता भी बहुत ही थोड़े लोग करते हैं। परन्तु तौ भी ३३ वें में जो ब्राह्मण को पराये हनन के लिये प्रार्थना करने को उत्तेजित किया है सो कुछ अनुचित जान पड़ता है। यूं तौ अपने २ दुःखों और दुःखदायकों का निवारण सभी चाहते हैं, परन्तु ब्राह्मण को इस प्रकार उत्तेजित करना कि (हन्यादेव) मारे ही। और (अविचारयन्) विना विचारे शीघ्र ही। भला कुछ ठीक है? इसके अतिरिक्त इस में (इत्यविचारयन्) में "इति" शब्द बेढंगा और निरर्थक है जो मनु की शैली से नहीं मिलता। तथा एक पुस्तक में इसकी जगह (इत्यवधारितम्) और अन्य दो पुस्तकों में (इत्यभिचारयन्) पाठान्तर हैं और "इति" शब्द सब पाठों में व्यर्थ ही रहता है। तथा इस से आगे ३० पुस्तकों में से १ में नीचे लिखा श्लोक अधिक मिलता है। जिस से यह सन्देह पुष्ट सा होता है कि कदाचित् ऊपर का ३३ वां भी जिसके पाठ भी कई प्रकार के मिलते हैं और शैली भी भिन्न है, कदाचित् पीछे का बना ही हो। अधिक श्लोक जो सब पुस्तकों में नहीं मिलने पाया है, यह हैः—

[तदस्त्रं सर्ववर्णानामनिवार्यं च शक्तितः।
तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानपि बाधते]

अर्थात् तप और वीर्य के प्रभाव से जो अवध्यों को भी बाधा कर सकता है, वह यह अस्त्र शक्ति में किसी वर्ण से निवारित नहीं होसकता॥ ३४ वें श्लोक के बीच में ही पूर्वार्ध से आगे आधा श्लोक दो पुस्तकों में और मिलाया दीख पड़ता है किः—

[तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्॥]

इस से यह भी पाया जाता है कि कई श्लोकों में अर्धभाग भी प्रक्षिप्त हुवा है)॥३४॥

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते। तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥३५॥ न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः। होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा॥३६॥

अर्थ—विहित कर्मों का अनुष्ठान करने वाला तथा पुत्र शिष्यों का शासन करने वाला और प्रायश्चित्तादि धर्मों का कहने वाला, सर्व भूतों का मित्र, ब्राह्मण कहा है। उसके प्रति कुछ बुरी बात न बोले और रूखी बोली भी न बोले ॥३५॥ (यज्ञ में) कन्या, युवति, थोड़ा पढ़ा और कुपढ़ तथा बीमार और संस्काररहित, ऐसे लोग अग्निहोत्र के होता न हों ॥३६॥ (इससे वृद्धा स्त्रियों को भी होता बनाना पाया जाता है)

नरके हि पतन्त्येते जुह्वतः स च यस्य तत्। तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥३७॥ प्राजापत्यमदत्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम्। अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥३८॥

अर्थ—ये कन्यादि होता बनाये जाने के अनधिकारी होता बन के नरक को प्राप्त होते हैं और जिसका वह अग्निहोत्र है वह (यजमान) भी नरक को प्राप्त होता है। इस कारण श्रौत कर्म में प्रवीण और संपूर्ण वेद का जानने वाला, होता होना चाहिये ॥३७॥ आधान में धन के होते हुवे प्रजापति देवता के निमित्त अश्व और दक्षिणा को न देवे तौ ब्राह्मण अनाहिताग्नि होजाता है (अर्थात् आधान का फल प्राप्त नहीं होता) ॥३८॥

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः। न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथञ्चन ॥३९॥ इन्द्रियाणि यशःस्वर्गमायुःकीर्तिं प्रजाः पशून्। हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥ ४० ॥

अर्थ—जितेन्द्रिय श्रद्धा वाला अन्य पुण्य कर्मों को करे, परन्तु थोड़ी दक्षिणा के यज्ञ से कभी यजन न करे ॥३९॥ इन्द्रियों, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्ति, प्रजा और गौ आदि पशुओं को थोड़ी दक्षिणा वाला यज्ञ नष्ट करता है इस लिये थोड़े धन वाला यज्ञ न करे ॥ ४० ॥ (तात्पर्य यह है कि थोड़े धन वाला यज्ञ करेगा तो ऋत्विजों को थोड़ी दक्षिणा से दुःख होगा, यजमान भी

निर्धन हो जायगा, भूखा मरेगा और तब ४० वें में कही हानियें होंगी ही (परन्तु यह थोड़ी दक्षिणा के यज्ञ की बुराई (निन्दार्थवाद) कुछ अत्युक्ति सी प्रतीत होती है और (४० वें से आगे ६ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक भी पाया जाता है–

[अन्नहीनो दहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनस्तु ऋत्विजः ।
दीक्षितं दक्षिणाहीनो नास्ति यज्ञसमो रिपुः]

अन्नहीन यज्ञ राज्य को फूंकता है। और मन्त्रहीन ऋत्विजों का नाश करता है। दक्षिणाहीन दीक्षित को नष्ट करताहै। यज्ञके समान कोई शत्रु नहीं ॥ इस से यह भी संदेह होताहै कि ४० वां श्लोक भी कदाचित् हीनयज्ञ की निन्दापरक पीछेसे ही बढ़ाया गयाहो,जैसे कि यह केवल छः पुस्तकों में ही है)४०

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन् ब्राह्मणःकामकारतः । चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥४१॥ ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते । ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः॥४२॥

अर्थ–अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छासे अग्नि में सायंप्रातः होम न करे (नागा करे) तो एक मासपर्यन्त चान्द्रायण व्रत करे। क्योंकि वह पुत्रहत्या सम पाप है।।४१।।जो शूद्र से धन लेकर अग्निहोत्र किया करते हैं, वे ब्रह्म जानने वाले (वेदपाठियों) में निन्दित हैं क्योंकि एक प्रकारसे वे शूद्रों के ऋत्विक् हैं।।४२।।

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् । पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥४३॥ अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् । प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥

अर्थ–उन शूद्रों के धनसे सदा यज्ञ करने वाले मूर्ख ब्राह्मणों के शिर पर पैर रखकर वह दाता शूद्र दुःखोंसे तरता है(अर्थात् यज्ञ करने वालों को सदा शूद्र से दबना पड़ता है)।।४३।।विहित कर्मको न करता और निन्दित को करता हुवा तथा इन्द्रियों के विषयों में आसक्त मनुष्य प्रायश्चित्तके योग्य होजाता है।।४४।।

अकामतःकृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः । कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥ अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति । कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैःपृथग्विधैः ॥४६॥

अर्थ—विद्वान् लोग बिना इच्छा किये पाप में प्रायश्चित्त कहते हैं और दूसरे आचार्य वेद के देखने से कहते हैं कि इच्छा से किये में भी (प्रायश्चित्त होना चाहिये)।।४५।।बिना इच्छा से किया पाप वेदाभ्यास से शुद्ध होता है। और मोह वश इच्छा से किया हुवा पाप नाना प्रकार के प्रायश्चित्तों से शुद्ध होता है।।४६।।

प्रायश्चित्त का विचार

प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं वै तद्विशोधनम् ॥

और

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥
प्रायशश्च सम्मंचित्तं चारयित्वा प्रदीयते ।
पर्षदा कार्यते यत्तु प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥

तथा—

यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः । कृतस्याऽपक्वस्य नाशः,प्रधानकर्मण्यवापगमनं वा,नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति । यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य । यत्रेदमुक्तम्—द्वे द्वे कर्मणी वेदितव्ये (इत्यादि) व्यासभाष्य, योगदर्शन के—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः २ । १३

इस सूत्र पर है । जिस का तात्पर्य यह है कि जो पूर्व जन्म का जानने योग्य अनियतविपाक है,उस की तीन गति हैं।१—अपक्व कृत का नाश२—वा प्रधान कर्म के भीतर भुगत जाना ३—वा नियतविपाक प्रधान कर्म से दबे हुवे का बहुत काल तक स्थित रहना । जैसे पुण्य कर्म के उदय से पाप का वा श्वेतकर्म=वस्त्र धोने आदि से कलौंस का यहीं नाश हो जाता है । जिस में यह कहा गया है कि दो दो कर्म पाप पुण्य भेद से जानने चाहियें (इत्यादि)

अब जानना यह है कि पाप क्या वस्तु है और उस की निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है ? जिस प्रकार एक लकड़ी को मोड़ते रहने से वह तिरछी हो जाती है और वह सीधे कामों के योग्य नहीं रहती, इसी प्रकार आत्मा भी पराऽपकारादि पाप से अवस्थान्तर को प्राप्त हो कर शुद्ध अवस्था से भोग्य शुभ फलों के योग्य नहीं रहता । वा जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्र पर

जो रङ्ग काले वा अच्छे लगाये जावें, उन २ से वस्त्र की वह २ रङ्गत होजाती हैं। और उस रङ्गविशेष से वह वस्त्र रङ्गानुसार पुष्ट वा क्षीण भी होता है। इसी प्रकार आत्मा भी विचित्र कर्मों के करने से विचित्र अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है। और अवस्थानुसार ही फलभोग की योग्यता वा अयोग्यता होती है। इसी प्रकार कुकर्म से आत्मा में एक प्रकार की वासना, विषमता वा मलिनता उत्पन्न हो जाती है। उस के दूर करने का उपाय भोग है। वह भोग दो प्रकार का है। एक ईश्वर वा राजा की व्यवस्था से परवश होकर भोगना, दूसरा अपने आप ही समझ कर कि मैंने यह बुरा किया है, जिस से मेरे आत्मा में पाप वास करता है, जो मुझे अनिष्ट है। (स्मरण रहे कि यहां "आत्मा" शब्द का प्रयोग हम ने अन्तःकरणसहित आत्मा के लिये किया है, केवल आत्मा में पाप पुण्य नहीं लग सकते) मनुष्य विद्वान् लोगों से कहे कि मैंने यह पाप किया है, इस से मेरा आत्मा घुटता है, इस की निवृत्ति का उपाय बताइये। तब वे लोग देश काल अवस्था के विचार से शास्त्रानुसार वा शास्त्र में स्पष्ट न कहा हो तो शास्त्र की अविरोधिनी अपनी कल्पना से प्रायश्चित्त बतावें। वह पापी श्रद्धा और नम्रता और पश्चात्ताप से युक्त उस २ प्रकार से अनुष्ठान करे। जो कष्ट हों, उन को सहे, आगे को अपना सुधार करे। यथार्थ में राजदण्डादि से भी तो इस से अधिक फल नहीं होता। क्योंकि एक पुरुष ने दूसरे पुरुष को थप्पड़ से मारा और मारने वाले को राजदण्ड हो गया, तो उस राजदण्ड से जिस के थप्पड़ लगा था, उस की चोट दूर नहीं हुई, किन्तु एक तो उस थप्पड़ से पिटने वाले को जो दुःख था, सो इस अपराधी को दण्ड मिलने से शान्ति वा सन्तोष सा होकर चित्त की विषमता का निवारक हुवा। दूसरे अपराधी को यह बलपूर्वक ज्ञात कराया गया कि ऐसा काम करना योग्य न था। जिस से इस के चित्त की भी आगे के लिये और देखने वालों को पाप करने से पूर्व ही ग्लानि होकर उत्तरोत्तर संसार में शान्ति का प्रसार हुवा। तो प्रायश्चित्त का फल प्रत्युत एक प्रकार से राजदण्ड से भी उत्तम हो सकता है। क्योंकि बलात्कार से जब कभी एक पुरुष हानि उठा कर हानिकारक को राजद्वार से दण्ड दिलाता है तो कभी २ ऐसा देखा गया है कि कारागार से छुटते ही आकर पूर्व द्वेष से उसी अपराधी ने उसी पुरुष को द्वेष के शब्द प्रकट करके कि " तू ने ही मुझे जेल में भेजवाया

था ?" उस से भी अधिक हानियें फिर की हैं। परन्तु जब कि मनुष्य स्वयं अपराध स्वीकार करके प्रायश्चित्त करता है, तब ऐसा नहीं होसकता।।

प्रायः ऐसे भी प्रायश्चित्त हैं, जिन में बड़ा अपराध है और भोग थोड़ा जान पड़ता है। परन्तु देश काल अवस्था के विचार से होना ही चाहिये। एक पुरुष को बेत मारने से जितनी शिक्षा मिल सकती है, दूसरे को "तुम ने बुरा किया" इतना कहने का ही उस बेत खाने वाले से भी अधिक शिक्षादायक प्रभाव हो जाता है। ऐसे ही देश और काल से भी भेद समझिये। सभ्य देशों के समझदार मनुष्यों को तो "क्षमा मागने" से ही जितनी शिक्षा होती है उतनी असभ्य अशिक्षितों को कभी २ वध से भी नहीं होती। इत्यादि बहुत दूर तक विचार फैलाने से प्रायश्चित्त की सार्थकता समझ में आ सकती है। यहां थोड़ा ही लिख कर समाप्त करते हैं) ।।४६।।

प्रायश्चीत्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा। न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः।।४७।। इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा। प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ।।४८।।

अर्थ—दैववश से वा पूर्वजन्म के पाप से द्विज प्रायश्चित्त के योग्य होकर प्रायश्चित्त विना किये साधुवों के साथ संसर्ग न करे ।।४७।। (४७ वें से आगे एक पुस्तक में "प्रायो नाम तपः प्रोक्तम्"—इत्यादि श्लोक अधिक है) ।।४७।। कोई यहां के दुराचरण से और कोई पूर्वजन्म के दुराचरण से दुष्टात्मा मनुष्य रूप की विपरीतता को प्राप्त होते हैं ।।४८।। जैसा कि—

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम्। ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ।। ४९ ।। पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम्। धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः।।५०।।

अर्थ—सोने के चुराने वाला कुनखी होता है और मदिरा पीने वाला काले दांत को और ब्रह्महत्या करने वाला क्षयरोगिता को तथा गुरु की स्त्री के पास जाने वाला दुष्ट चर्म को पाता है।।४९।। चुगली करने वाला दुर्गन्ध नासिका को और झूंठी निन्दा करने वाला दुर्गन्ध मुख को और धन का चुराने वाला अङ्गहीनता को और धान्य में अन्य वस्तु मिलाने वाला अधिकाङ्गता को प्राप्त होता है ।। ५० ।।

अन्नहर्तामयावित्वं मौक्यं वागऽपहारकः ।
वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं पङ्गुतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥

अर्थ—अन्न का चुरानेवाला मन्दाग्निता को, वाणी का चुराने वाला गूंगापन को, कपड़े का चुराने वाला श्वेत कोढ़ और घोड़े का चुराने वाला पङ्गुपने को प्राप्त होता है ॥ (५१ वें से आगे अर्ध श्लोक १० पुस्तकों में अधिक है और रामचन्द्र ने उस पर टीका भी किया है :—

[दीपहर्त्ता भवेदन्धः काणो निर्वापको भवेत्]

दीपक चुराने वाला अन्धा और (चोरी से) दीपक बुझाने वाला काणा होता है । अन्य ९ पुस्तकों में इसी से आगे उत्तरार्धरूप और भी अर्ध श्लोक उपस्थित है कि:—

[हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगगित्वमहिंसया]

हिंसा से बहुत रोगीपना और अहिंसा से नीरोगिता होती है) ॥५१॥

एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः ।
जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५२ ॥

अर्थ—इस प्रकार कर्मविशेष से सज्जनों में निन्दित जड़ मूक अन्ध बधिर और विकृत आकृति वाले उत्पन्न होते हैं ॥५२॥

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये । निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥५३॥ ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः । महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैःसह ॥ ५४ ॥

अर्थ—विना प्रायश्चित्त करने वाले निन्द्य लक्षणों से युक्त उत्पन्न होते हैं, इस लिये विशुद्धि के लिये प्रायश्चित्त नित्य करना चाहिये ॥५३॥ ब्रह्महत्या, मदिरापान, चोरी, गुरु की स्त्री से व्यभिचार; इन को महापातक कहते हैं और उन के साथ रहना भी (उसी के समान है) ॥५४॥

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् । गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥५५॥ ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्बधः । गर्हितानाद्ययोर्जग्धिःसुरापानसमानि षट् ॥५६॥

अर्थ—अपनी बड़ाई के लिये असत्य भाषण करना, राजा से चुगली करना और गुरु से झूंठी खबर कहना, ये ब्रह्महत्या के समान हैं ॥५५॥ वेद को त्यागना, और वेद की निन्दा करना, झूंठी गवाही देना, तथा मित्र का वध, निन्दित लशुनादि का, और पुरीषादि अभक्ष्य का भक्षण, ये छः सुरा पान के समान हैं॥५६॥

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च। भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ५७ ॥ रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च। सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः॥५८॥

अर्थ—धरोहर का हर लेना और मनुष्य तुरङ्ग चान्दी भूमि हीरा और मणियों का भी हर लेना; सुवर्ण की चोरी के समान हैं ॥५७॥ सहोदर भगिनी कुमारी, चण्डाली, सखा और पुत्र की स्त्री, इन से व्यभिचार करना; गुरुभार्यागमनसमान महापातक है ॥५८॥

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः। गुरुमातृपितृत्यागःस्वाध्यायाग्न्योःसुतस्य च ॥५९॥परिवित्तितानुजेऽनूढे परिवेदनमेव च। तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥६०॥

अर्थ—गाय का मारना, और दुष्टों को यज्ञ कराना, परस्त्रीगमन करना, आत्मा का बेचना, गुरु माता पिता को त्यागना, ब्रह्मयज्ञ न करना, श्रौत स्मार्त अग्नि में होम न करना, पुत्र का पोषण न करना, ॥५९॥ छोटे का पहिले विवाह करने में ज्येष्ठ की परिवित्तिता, और कनिष्ठ को परिवेत्ता होना, उन दोनों को कन्या देना, और उन दोनों को यज्ञादि कराना, ॥६०॥

कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम्। तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः॥६१॥व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च। भृताच्चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥६२॥

अर्थ—और कन्या का दूषित करना, (वैश्य न होकर) सूद का लेना, और व्रतभङ्ग करना, तालाब बगीचा स्त्री और संतान का बेंचना, ॥ ६१ ॥ यथोचित काल में उपनयन का न होना, पितृव्यादि बान्धवों का त्याग, नियत वेतन लेके पढ़ाना, और ऐसे ही देके पढ़ने का ग्रहण, बेचने के अयोग्य वस्तु का बेचना, ॥६२॥

सर्वाकरेष्वधीकारोमहायन्त्रप्रवर्तनम् । हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च॥ ६३॥ इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् । आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा॥ ६४॥

अर्थ-सुवर्णादि संपूर्ण खानों में अधिकार, बड़े भारी यन्त्र का चलाना, ओषधियों का काटना, भार्यादि स्त्रियों को वेश्यावत् करके उस से जीवन करना, मारण और वशीकरण, करना ॥ ६३ ॥ इन्धन के लिये हरे वृक्षों को काटना,(देव पितरों के उद्देश विना केवल) आत्मार्थ पाकादि काम करना और निन्दित अन्न का भक्षण करना, ॥६४॥

अनाहिताग्निता स्तेयमृणानामनपक्रिया । असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया॥६५॥धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम् । स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधोनास्तिक्यं चोपपातकम्॥६६॥

अर्थ-अग्निहोत्र न करना,चोरी करना,ऋणों का न चुकाना,असत् शास्त्रों का पढ़ना,नाचनेगाने बजाने का सेवन करना,॥६५॥धान्य कुप्य और पशुओं की चोरी करना, मद्य पीने वाली स्त्री से व्यभिचार करना, स्त्री शूद्र वैश्य क्षत्रिय का वध और नास्तिकता (ये सब) उपपातक हैं ॥६६॥

(तडागादि के बेचने से पुण्य कर्म रुकता है । नौकरी के पढ़ने पढ़ाने में गुरु शिष्य का पूर्णभाव नहीं रहता । खानि खुदवाने के ठेके लेने और महायन्त्रों के चलवाने में जीवों की हिंसा है। उस के प्रायश्चित्त उन लोगों के करने चाहियें । मारण में दूसरे का स्पष्ट अपकार है । वशीकरण में दूसरे को अज्ञानी वा पराधीन करना बुरा है । वशीकरण किसी के पास सुन्दर स्त्री आदि भेज कर उस को मोहित करने से होता है) ॥६६॥

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः।जैह्मयं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥६७॥ खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा । संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

अर्थ-ब्राह्मण को लाठी आदि से पीड़ा देने की क्रिया करना,दुर्गन्ध और मद्य का सूंघना, और कुटिलता करना, तथा पुरुष से मैथुन करना, इन को जातिभ्रंशकर पातक कहा है।॥६७॥गर्दभ, तुरङ्ग, उष्ट्र, मृग, हस्ती, छाग, भेड़,

मत्स्य, सर्प, महिष, इन में प्रत्येक के वध को "संकरीकरण" कहते हैं ॥६८॥

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम्। अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम्॥६९॥कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम्। फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥७०॥

अर्थ-अप्रतिग्राह्य पुरुषों के धन का प्रतिग्रह लेना, और (वैश्य न होकर) वाणिज्य करना, तथा शूद्र की परिचर्या, झूंठ बोलना, इन को "अपात्रीकरण" जाने।।६९।।कीड़े मकौड़े पक्षी की हत्या, मद्य के साथ मिला भोजन, फल इन्धन और पुष्प का चुराना, अधीरता; इन को "मलिनीकरण" कहते हैं ॥७०॥

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक्। यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ्निबोधत॥७१॥ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत्। भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम्॥७२॥

अर्थ-ये सब ब्रह्महत्यादि पाप जैसे अलग अलग कहे गये, वे जिन जिन व्रतों से नाश को प्राप्त होते हैं, उन २ को अच्छे प्रकार सुनो ॥७१॥ जो ब्राह्मण को मारे वह वन में कुटी बनाकर और मुरदे के सिरका चिन्ह करके, भीख मांग कर खाता हुवा, अपनी शुद्धि के लिये बारह वर्ष वनमें रहे ॥७२॥

लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः। प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥७३॥ यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा। अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा ॥७४॥

अर्थ-अथवा शस्त्रधारण करने वाले विद्वानों का अपनी इच्छा से निशाना बने। अथवा नीचे सिर कर के जलती हुई अग्नि में अपने को तीन बार डाले ॥ ७३॥ अथवा अश्वमेध यज्ञ करे वा स्वर्जित, गोसवन, अभिजित, विश्वजित, त्रिवृत् वा अग्निष्टुत; (ये यज्ञविशेष) करे ॥ ७४ ॥

जपन्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्। ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्नियतेन्द्रियः॥७५॥सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्। धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—अथवा ब्रह्महत्या के दूर करने को किसी एक वेद का जप करता हुवा सौ योजन गमन करे, थोड़ा खाने वाला और जितेन्द्रिय होकर रहै ॥ ७५ ॥ अपनी सब धना पूंजी वेद जानने वाले ब्राह्मण को देदेवे, अथवा जीवनार्थ पुष्कल धन, वा असबाब सहित घर, वेद जानने वाले ब्राह्मण को देवे ॥७६॥

हविष्यभुग्वाऽनुसरेत्प्रतिस्रोतःसरस्वतीम् । जपेद्वा नियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम् ॥७७॥ कृतावपनोनिवसेद्ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा । आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥७८॥

अर्थ—अथवा हविष्य भोजन करता हुवा सरस्वती=नदी के स्रोत की ओर गमन करे वा नियमपूर्वक आहार करता हुआ वेद की संहिता को ३ वार पढ़े॥७७॥ बारह वर्ष तक सिर मुंडाया हुआ, गौ ब्राह्मण के हितमें रत होकर ग्राम के बाहर वा गाय के गोष्ठमें वा पुण्य देश में वृक्ष के नीचे निवास करे ॥७८॥

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यःप्राणान्परित्यजेत् । मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च ॥७९॥ त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा । विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥८०॥

अर्थ—अथवा ब्राह्मण के अर्थ वा गाय के अर्थ यदि उसी समय प्राण दे देवे तौ वह गौ ब्राह्मण की रक्षा करने वाला ब्रह्महत्या से छूट जाता है ॥७९॥ यदि ब्राह्मण का सर्वस्व चोर लेजाते हों, उस को तीन वार बचावे (अथवा ४ पुस्तक और राघवानन्द के टीकास्थ पाठभेद से "त्र्यवरम्" कमसे कम तीन ब्राह्मणों के सर्वस्व की चोरी को बचाने वाला) अथवा ऐसा यत्न ही करके, चाहे धन न भी छुड़ाने पाया हो, अथवा इस निमित्त प्राण त्यागने पर (अथवा कुल्लूकके अनुमत "प्राणलाभे" पाठ में, धन बचाने से ब्राह्मण का प्राण बचाने पर ब्रह्महत्या से) छूटता है ॥८०॥

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः । समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥८१॥ शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे । स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥८२॥

अर्थ—इस प्रकार दृढव्रत करता हुवा, प्रतिदिन ब्रह्मचर्य से रहने वाला, समाधान किये चित्त से बारह वर्ष व्यतीत होने पर ब्रह्महत्या को दूर करता है ॥ ८१ ॥ अथवा अश्वमेधयज्ञ में ब्राह्मणों और राजा के समागम में

(ब्रह्महत्या के पाप का) निवेदन करके अश्वमेध यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान करता हुआ (ब्रह्महत्या के पाप से) छूट जाता है ।।८२।।

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्यउच्यते । तस्मात्समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुद्ध्यति ॥८३॥ब्राह्मणः संभवेनैव देवानामपि दैवतम्। प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥८४॥

अर्थ-ब्राह्मण धर्म का मूल है और राजा अग्र है। इस कारण उनके समागम में पाप को निवेदन करके शुद्ध होता है।।८३।।ब्राह्मण सावित्रीके जन्मसे ही देवतों का देवता है। और लोक को प्रमाण है,इस में वेद ही कारण है ।।८४।।

तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनःसु निष्कृतिम् । सा तेषां पावनाय स्यात्पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥८५॥ अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः । ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥८६॥

अर्थ-उन ब्रह्महत्यादि करने वालोंको वेद के जाननेवाले तीन भी विद्वान्, पापोंके जो प्रायश्चित्त बतावें,वही उन पापियोंकी शुद्धिके लियेहो। क्योंकि उन विद्वानोंकी वाणी पवित्र है।।८५।।स्वस्थचित्त ब्राह्मण इनमें से कोई एक विधि ही करके आत्मवान्=मनस्वी होनेसे ब्रह्महत्यासे किये पापको दूर करता है ।।८६।।

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।
राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥८७॥

अर्थ-विना जाने गर्भ को मारके वा यज्ञ करते हुवे क्षत्रिय, वैश्य और गर्भवती स्त्री वा मित्र का वध करके भी (ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त को करे)।।८७।।

(८७ वें से आगे एक पुस्तक में आत्रेयी का लक्षण करने के लिये एक यह श्लोक अधिक पाया जाता है:-

[जन्मप्रभृति संस्कारैःसंस्कृता मन्त्रवाचया ।
गर्भिणीत्वथ वा स्यात्तामात्रेयीं च विदुर्बुधाः]

अर्थात् जो जन्म से लेकर संस्कारों से संस्कृता मन्त्रपूर्विका स्त्री,अथवा गर्भिणी हो, उसे विद्वान् लोग "आत्रेयी" जानते हैं) ।। ८७ ।।

उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुद्ध्य गुरुं तथा।
अपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥८८॥

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याऽकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ८९ ॥ सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् । तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥९०॥

अर्थ—यह विशुद्धि विना इच्छा से ब्राह्मण के वध में कही है और इच्छा से ब्राह्मण के वध करने में प्रायश्चित्त ही नहीं कहा ॥ ८९ ॥ द्विज अज्ञान से (दूसरे महापातक) सुरा को पीकर, आग के समान गरम सुरा पीवे, उस सुरा से शरीर जलने पर वह (द्विज) उस पाप से छूटता है ॥९०॥

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा । पयो घृतं वामरणाद्गोशकृद्रसमेव वा ॥९१॥ कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि । सुरापानापनुत्त्यर्थं बालवासा जटी ध्वजी ॥ ९२ ॥

अर्थ—अथवा गोमूत्र वा उदक अग्निवर्ण गरम करके पीवे अथवा मरणपर्यन्त दूध घृत ही पीकर रहे । अथवा गोबर का रस पीये(मद्यपान का पाप छूट जावेगा) ॥९१॥ अथवा चावल की खुद्दी वा कुटे तिल एक समय रात को १ वर्ष तक भक्षण करे । सुरापान के पाप दूर होने को कम्बल का कपड़ा पहिने और सिर के बाल रक्खे तथा सुरापात्र के चिन्ह युक्त होकर रहे॥९२॥

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते । तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्॥९३॥गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा । यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः॥ ९४ ॥

अर्थ—सुरा अन्न का मल है और मल को पाप कहते हैं । इस कारण ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, सुरा को न पीवें ॥९३॥ गुड़ की और पिट्ठी की तथा महुवे की; ये तीन प्रकार की सुरा जाननी चाहियें । जैसी एक वैसी ही सब द्विजोत्तमों के (सब सुरा) न पीनी चाहियें ॥९४॥ क्योंकि—

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् । तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥ ९५ ॥ अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत् । अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ ९६ ॥

अर्थ—यक्ष राक्षस पिशाचों के अन्न—मद्य,मांस,सुरा, आसव;देवतों का हविभक्षण करने वाले ब्राह्मणादि द्विज को भक्षण करने न चाहियें॥९५॥मद्य पी के

उन्मत्त हुवा ब्राह्मणादि अशुचि स्थान मोरी आदि में गिरेगा, वा वेद की बकवाद करेगा, वा और कोई निषिद्ध कार्य करेगा, (इस कारण मद्य न पीवे)॥९६॥

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत्। तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥ ९७ ॥ एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः। अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥ ९८ ॥

अर्थ–जिस ब्राह्मण के काय में रहनेवाला वेदज्ञान एक बार भी मद्य से मिलजाता है, उसकी ब्राह्मणता नष्ट होजाती है और वह शूद्रत्व को प्राप्त होजाता है ॥ ९७ ॥ यह सुरापान की विचित्र निष्कृति कही। अब (तीसरे महापातक) सोने की चोरी का प्रायश्चित्त कहता हूं ॥ ९८ ॥

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु। स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति॥९९॥गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्। वधेन शुद्ध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु॥१००॥

अर्थ–सोने की चोरी करने वाला ब्राह्मण राजा के पास जाकर अपने किये को प्रसिद्ध करके कहै कि मुझे आप शिक्षा दें ॥ ९९॥ राजा उसके कन्धे पर लिये हुवे मूसल को लेकर उस ब्राह्मण चोर को एक बार मारे, मारने (पीटने) से ब्राह्मण चोर शुद्ध होता है और तप करने से भी शुद्ध होता है॥१००॥

तपसाऽपनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम्। चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्ब्रह्महणो व्रतम्॥१०१॥ एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः। गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ–चोरी के पाप को तप से दूर करने की इच्छा करने वाला द्विज चीर को पहन कर वन में ब्रह्महत्या का व्रत करे ॥१०१॥ द्विज इन व्रतों से चोरी के पाप को दूर करे। और गुरुस्त्री के व्यभिचारसम्बन्धी पाप (चौथे महापातक) को इन (आगे कहें) व्रतों को करके दूर करे ॥ १०२ ॥

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये। सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुद्ध्यति॥१०३॥स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ। नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः॥१०४॥

अर्थ–गुरुभार्यागामी, पाप को प्रसिद्ध करके, लोहे के तप्त शयन में सोवे और लोहे की स्त्री लाल करके उस के साथ आलिङ्गन करे। उस से मृत्यु पाकर वह शुद्ध होता है ॥१०३॥ वा आप ही लिङ्ग तथा वृषणों को काट के अञ्जलि में लेकर, जब तक शरीर न गिर जावे, तब तक टेढी चाल को न चलता हुवा सूधा नैर्ऋत्य दिशा में गमन करे ॥१०४॥

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने। प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः॥ १०५॥ चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः। हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये॥१०६॥

अर्थ–अथवा खट्वाङ्ग चिह्न और केश नख लोम श्मश्रु इनका धारण करने वाला, यति हो के निर्जन वनमें एक वर्ष पर्यन्त प्राजापत्य व्रत करे॥१०५॥ अथवा जितेन्द्रिय रह कर ३ मास तक हविष्य तथा यवागु के भोजन से; गुरुभार्यागमनसम्बन्धी पाप दूर करने के लिये चान्द्रायण करे॥ १०६॥

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम्। उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः॥१०७॥ उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत्। कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः॥ १०८॥

अर्थ–इन कहे हुवे व्रतों को करके महापातकी पाप को दूर करें। और उपपातकी, (आगे कहे हुवे) नाना प्रकार के व्रतों से पाप दूर करें॥१०७॥ उपपातक से संयुक्त गौ का मारने वाला; एक मासपर्यन्त यवों को पीवे, मुण्डन किया हुवा और उस गौ के चाम से वेष्टित होकर गोष्ठ में रहे, ॥१०८॥

चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम्। गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः॥१०९॥ दिवानुगच्छेद्गास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत्। शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत्॥११०॥

अर्थ–और इन्द्रियों को वश में करता हुवा दो मास पर्यन्त गोमूत्र से स्नान किया करे और खारी लवण वर्जित हविष्य अन्न का चौथे काल में थोड़ा भोजन किया करे, ॥ १०९ ॥ और दिन में गायों के पीछे चले और खुरसे ऊपर उड़ी धूल को खड़ा हुवा पीवे, और सेवा तथा अन्नसत्कार करके रात को 'वीरासन' होके बैठे ॥ ११० ॥

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत्। आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः॥१११॥आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः। पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ११२ ॥

अर्थ—और मत्सरतारहित हुआ, नियमपूर्वक दृढ़ हो के, बैठी हुई गौ के पीछे बैठजावे, और चलती हुई के पीछे चले, और खड़ी हुई के साथ खड़ा रहै ।।१११।। व्याधियुक्ता और चोर व्याघ्रादि भयों से आक्रान्ता तथा गिरी हुई और कीचड़ लगी हुई गाय को सब उपायों से छुड़ावे ।। ११२ ।।

उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम्। न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥११३॥ आत्मनो यदि वान्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले। भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम्॥११४॥ अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति। स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥११५॥ वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः। अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥ ११६ ॥

अर्थ—उष्णकाल, शीत, वर्षा और अधिक वायु के चलने में यथाशक्ति गाय का बचाव न करके (गोहत्यारा) अपना बचाव न करे ।। ११३ ।। और अपने वा दूसरे के घर में वा खेत में या खरियान में भक्षण करती हुई गौ को न कहै और पीते हुवे बच्चे को भी प्रसिद्ध न करे ।।११४।। इस विधान से जो हत्यावाला गाय की सेवा करता है वह उस पाप को तीन महीने में दूर करता है।।११५।। अच्छे प्रकार प्रायश्चित्त व्रत करके एक बैल और दश गाय और इतना न हो तो अपना सर्वस्व धन वेद के जानने वाले ब्राह्मणों को दे देवे ।।११६।।

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः। अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥११७॥ अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे। पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ११८ ॥

अर्थ—उपपातक वाले द्विज भी इसी व्रत को करें, परन्तु अवकीर्णी को छोड़ कर। अथवा चान्द्रायण करें ।।११७।। अवकीर्णी, काणे गधे पर चढ़ कर रात को चौरास्ते में जा, पाकयज्ञ के विधान से निर्ऋति देवता का यज्ञ करे।।११८।।

एक महीने तक चान्द्रायण व्रत करे। और मलिनीकरणों में शुद्धि के लिये तीन दिन गरम यवागु पीवे ।। १२५ ।। अच्छे आचरण करने वाले क्षत्रिय के वध में ब्रह्महत्या का चौथाई प्रायश्चित्त है। वैसे ही वैश्य के वध में आठवां, और शूद्र के वध में सोलहवां भाग प्रायश्चित्त होना चाहिये ।। १२६ ।।

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः। वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्सुचरितव्रतः॥१२७॥त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम्। वसन्दूरतरे ग्रामाद्वृक्षमूलनिकेतनः ॥१२८॥

अर्थ—ब्राह्मण विना इच्छा से क्षत्रिय को मार कर अच्छे प्रकार व्रत करके, एक बैल के सहित १ सहस्र गौओं का दान करे ।।१२७।। अथवा जटा को धारण करके, दृढ होकर, तीन वर्ष तक ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त, ग्राम से बहुत दूर वृक्ष के नीचे रहता हुआ करे ।। १२८ ।।

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः। प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम्॥१२९॥एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान् शूद्रहा चरेत्। वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः॥१३०॥

अर्थ—इसी व्रत को(विना इच्छा से)अच्छे आचरण वाले वैश्यको मार कर ब्राह्मण एक वर्ष तक करे और एक सौ गौओं का दान देवे।।१२९।। इसी सम्पूर्ण व्रत को (विना इच्छा से) शूद्र का मारने वाला छः महीने तक करे अथवा एक बैल तथा दश श्वेत गाय ब्राह्मण को देवे ।। १३० ।।

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च। श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत्॥१३१॥पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत्। उपस्पृशेत्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाब्दैवतं जपेत्॥१३२॥

अर्थ—मार्जार नेवला चाष मेंडक कुत्ता गोधा उलूक काक; इन को (विना जाने) मार के शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त करे ।। १३१ ।। अथवा तीन दिन दुग्धपान करे, वा योजन भर तीन दिन रास्ता चले, वा तीन दिन नदी में स्नान करे, वा तीन दिन जल देवता के (आपोहिष्ठा०) इत्यादि यजुः ११ ५० वा ३६। १४ सूक्त को जपे ।। १३२ ।।

अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः। पलालभारकं षण्ढे

सैसकं चैकमाषकम् ॥१३३॥ घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ । शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायणम् ॥१३४॥

अर्थ–ब्राह्मण सर्प को मार के लोहे की करछुल का दान करे । और नपुंसक के मरने पर धान्य के पलाल का भार और १ माष मात्र सीसा देवे ॥१३३॥ सूकर के मरजाने पर घी भर के घड़ा देवे और तीतर के मरजाने में चार आढक तिल देवे और तोते के मर जाने पर दो वर्ष का वत्स और क्रौञ्च को मारके तीन वर्ष का वत्स देवे ॥ १३४ ॥

हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च । वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् ॥१३५॥ वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्च नीलान्वृषान्गजम् । अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥१३६॥

अर्थ–हंस, बलाका, बक, मोर, वानर, श्येन, भास; इन को मार के ब्राह्मण को गाय देवे ॥१३५॥ अश्व को मार के वस्त्र देवे और गज को मार के पांच नील वृष देवे । बकरे और मेंढ़े को मार के बैल देवे और गधे को मार के एक वर्ष का (वत्स) देवे ॥ १३६ ॥

क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् । अक्रव्यादान्वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥१३७॥ जीनकार्मुकबस्तावीन्पृथग्दद्याद्विशुद्धये । चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥१३८॥

अर्थ–क्रव्याद व्याघ्रादिकों को मार के दूध वाली गाय देवे । और हरिणादिकों को मार के बछिया देवे । और ऊंट को मार के कृष्णल (सोना) देवे ॥ १३७ ॥ चारों वर्णों की क्रम से बिगड़ी हुई स्त्रियों के विना जाने मर जाने पर अपनी शुद्धि के अर्थ चर्मपुट, धनुष्, छाग, मेष देवे ॥१३८ ॥

(१३८ वें से आगे यह श्लोक ५ पुस्तकों में अधिक मिलता है:–

[वर्णानामानुपूर्व्येण त्रयाणामविशेषतः ।
अमत्या च प्रमाप्य स्त्रीं शूद्रहत्याव्रतं चरेत्]

क्रम से तीनों वर्णों में से किसी की स्त्री को भूल से मारने वाला, शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त करे) ॥१३८॥

दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन् । एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥ १३९ ॥ अस्थिमतां तु सत्वानां सहस्रस्य प्रमापणे । पूर्णे चानस्यनस्थ्नां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १४० ॥

अर्थ—सर्पादिकों के वध के प्रायश्चित्तार्थ दान करने को असमर्थ हुवा द्विज, पाप दूर करने को एक एक कृच्छ्र करे ॥ १३९ ॥ अस्थि वाले सहस्र क्षुद्र जीवों के वध में शूद्रवध का प्रायश्चित्त करे और अस्थिरहित जीवों के एक गाड़ी भर के वध में भी (उसी प्रायश्चित्त को करे) ॥१४०॥

किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे । अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥१४१॥ फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् । गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम्॥१४२॥

अर्थ—अस्थि वाले क्षुद्र जन्तुओं के वध में ब्राह्मण को कुछ देदेवे । और अस्थिरहित क्षुद्र जन्तुवों के वध में प्राणायाम से शुद्ध होता है ॥ १४१ ॥ फल देने वाले वृक्षों और गुल्म,लता, वीरुध्, पुष्पितों के काटने में सौ (सावित्र्यादि) ऋचाओं को जपे ॥ १४२ ॥

अन्नाद्यजानां सत्वानां रसजानां च सर्वशः । फलपुष्पोद्भवानां च घृतप्राशो विशोधनम् ॥ १४३॥ कृष्टजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने । वृथालम्भेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकं पयोव्रतः ॥ १४४ ॥

अर्थ—अन्नादिकों में और गुड़ादि रसों में और फल पुष्पादि में उत्पन्न हुवे जीवों के वध में "घृत का प्राशन" पापशोधन है॥१४३॥ खेती से उत्पन्न हुवे धान्यों और वनों स्वयं उत्पन्न हुवे धान्यों के वृथा छेदन में,दुग्ध का आहार करता हुवा एक दिन गाय के पीछे चले ॥१४४॥

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम् । ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे ॥ १४५ ॥ अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुद्ध्यति । मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥१४६॥

अर्थ—इन प्रायश्चित्तों को करके हिंसाजनित पाप, जो कि जाने वा बे जाने किया हो,उस को दूर करना चाहिये। अब आगे अभक्ष्यभक्षण करने के

प्रायश्चित्त सुनो॥१४५॥ अज्ञान से वारुणी को पीकर संस्कार से ही शुद्ध हो जाता है और इच्छापूर्वक पीने से प्राणान्तिक वध अनिर्देश्य है। यह मर्यादा है॥१४६॥

अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा। पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीश्रितं पयः॥१४७॥ स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च। शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारि पिबेत् त्र्यहम्॥ १४८॥

अर्थ—मद्य की बोतल में रक्खा पानी तथा मद्य के करवे के पानी को पीकर शङ्खपुष्पी को पानी में औटाकर पाञ्च दिन पीवे॥ १४७॥ मदिरा को स्पर्श करके वा देकर तथा ग्रहण करके और शूद्र के उच्छिष्ट पानी को पीकर, तीन दिन विधिपूर्वक कुशा का काढ़ा पीवे॥१४८॥

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः। प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति॥ १४९॥ अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च। पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥१५०॥

अर्थ—सोमयज्ञ किया हुवा ब्राह्मण, मद्य पीने वाले को सूंघ कर, पानी में तीन वार प्राणायाम कर घृत का प्राशन करके शुद्ध होता है॥१४९॥ विना जाने हुवे मलमूत्र और सुरा से स्पर्श हुवे को प्राशन करके, तीनों द्विज वर्ण फिर से संस्कार के योग्य हैं॥१५०॥

वपनं मेखलादण्डौ भैक्षचर्या व्रतानि च। निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि॥१५१॥ अभोज्यानां तु भुक्त्वान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च। जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत्॥१५२॥

अर्थ—द्विजातियों के फिर से उपनयन होने में—मुण्डन, मेखला का धारण, दण्डधारण, भिक्षा और व्रत (ये सब) नहीं होते हैं॥१५१॥ जो लोग भोजन करने के योग्य नहीं उन का अन्न और स्त्री तथा शूद्र का उच्छिष्ट और मांस और अन्य अभक्ष्य खा लेवे, तो सात दिन जौ के सत्तू पीवे॥१५२॥

शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वा मेध्यान्यपि द्विजः। तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्न व्रजत्यधः॥१५३॥ विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः। प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्॥१५४॥

अर्थ—सिरका आदि सड़ी ग्राह्य वस्तु भी और काढ़ा पी कर, तब तक द्विज अशुद्ध रहता है, जब तक कि वह पच कर नीचे नहीं जाता ॥१५३॥ ग्राम का सूकर, खर, उष्ट्र, शृगाल, वानर, काक; इन के मूत्र या मल को द्विजाति भक्षण कर ले तो चान्द्रायण व्रत करे ॥१५४॥

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च। अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत्॥१५५॥ "क्रव्यादसूकरोष्ट्राणांकुक्कुटानांचभक्षणे । नरकाकखराणांचतप्तकृच्छ्रंविशोधनम् ॥१५६॥"

अर्थ—सूखे मांस और पृथ्वी में उत्पन्न हुवे कुकुरमुत्ता और बेजाने हिंसास्थान के मांस को भक्षण कर ले तो भी यही (चान्द्रायण व्रत) करे ॥१५५॥ "कच्चे मांस के खाने वाले और सूकर उष्ट्र मुरगा नर काक; इन का भक्षण कर ले तो (आगे कहे हुवे) तप्तकृच्छ्र व्रत को करे । यह शोधन है ॥१५६॥"

"मासिकान्नंतुयोऽश्नीयादसमावर्तकोद्विजः। सत्रीण्यहान्युपवसेदेकाहंचोदकेवसेत् ॥ १५७ ॥ ब्रह्मचारीतुयोऽश्नीयान्मधु मांसंकथञ्चन । सकृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत्॥ १५८॥"

"अर्थ—जो द्विज ब्रह्मचारी मासिक श्राद्ध के अन्न को भोजन करे, वह तीन दिन उपवास करे और एक दिन उदक में निवास करे ॥ १५७ ॥ जो ब्रह्मचारी मधु मांस को किसी प्रकार भक्षण करे, वह प्राकृत कृच्छ्रव्रत करके व्रतशेष को समाप्त करे ॥१५८॥"

(१५७। १५८ श्लोक भी मृतकश्राद्ध और मांस के प्रचारकों ने मिलाये जान पड़ते हैं। भला जब श्राद्ध वैदिक कर्म बताते हैं तो उस में भोजन करने वाले को प्रायश्चित्त क्यों बतलाते हैं। यह विरोध! और मांस सभी को अभक्ष्य है, तो ब्रह्मचारी को मद्य मांस के सेवन में प्राकृत कृच्छ्र मात्र अल्प प्रायश्चित्त क्यों)॥१५८॥

बिडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च । केशकीटावपन्नं च पिबेद्ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥१५९॥ अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता। अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाऽप्याशु शोधनैः ॥ १६० ॥

अर्थ—बिल्ली, काक, मूसा, कुत्ता, नेवला, इन के उच्छिष्ट और केश कीट से युक्त अन्न को भोजन करके ब्रह्मसुवर्चला का काढ़ा पीवे (दो पुस्तकों में "ब्राह्मीं सुवर्चलाम्" पाठ है) ॥ १५९ ॥ अपने को पवित्र रहनेकी इच्छा

करने वाला भोजन के अयोग्य अन्नका भोजन न करे और बिनाजाने खाये को वमन करके निकाले वा शोधन द्रव्यों से शीघ्र शोधन करे ॥ १६० ॥

एषोऽनाद्यदनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः। स्तेयदोषापहर्तॄणां व्रतानां श्रूयतां विधिः ॥१६१॥ धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद्द्विजोत्तमः। स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुद्ध्यति ॥१६२॥

अर्थ—अभक्ष्यभक्षण में जो प्रायश्चित्त हैं, उनके ये नाना प्रकार के विधान कहे। अब चोरी के दोष दूर करने वाले व्रतों का विधान सुनिये ॥१६१॥ ब्राह्मण अपने जाति वालों ही के घर से धान्य अन्न और धन की चोरी इच्छा से करके, एक वर्ष कृच्छ्रव्रत करने से शुद्ध होता है ॥१६२॥

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च। कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम्॥१६३॥द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेश्मतः। चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥१६४॥

अर्थ—पुरुष,स्त्री,क्षेत्र,गृह और कुआ बावड़ी और पानी के हरण करने में, चान्द्रायणव्रत कहा है। ॥ १६३ ॥ दूसरे के घर से (खीरा, ककड़ी, मूली, इत्यादि) तुच्छ वस्तुओं की चोरी करके अपनी शुद्धि के लिये वह वस्तु जिसकी है, उसको देकर (आगे कहे) सान्तपन कृच्छ्र को करे ॥१६४॥

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च। पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥१६५॥ तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च। चैलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥१६६॥

अर्थ—मोदक, खीर आदि और सवारी शय्या आसन तथा पुष्प मूल फल; इनके चुराने में पञ्चगव्य का पान करना (और वस्तु उसकी उसीको देदेना) शोधन है ॥१६५॥ घास लकड़ी वृक्ष और शुष्कान्न गुड़ तथा कपड़ा चमड़ा मांस ; इनके चुराने में तीन रात्रिदिन उपवास करे ॥१६६॥

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च। अयःकांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नता ॥१६७॥ कार्पासकीटजोर्णानां द्विशफैकशफस्य च। पक्षिगन्धौषधीनां च रज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥१६८॥

अर्थ–मणि, मोती, मूंगा, तांबा, चांदी, लोहा, कांसी, उपल (पत्थर) इनके चुराने में बारह दिन चावल की खुद्दी का भोजन करे।।१६७।। कपास, रेशम, ऊन, बैल आदि दो खुर वाले, घोड़ा आदि एक खुरवाले, पक्षी, चन्दनादि गन्ध और औषध तथा रस्सी के चुराने में तीन दिन पानी पीकर रहे।।१६८।।

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः। अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १६९ ॥ गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतःसिक्त्वा स्वयोनिषु। सख्युःपुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥१७०॥

अर्थ–द्विज इन व्रतों से चोरी के पाप को दूर करे और जो गमन करनेके अयोग्या है उसके साथ गमन के पाप को इन (आगे कहे) व्रतों से दूर करे।।१६९।।अपनी सगी बहन तथा मित्रकी भार्या और पुत्र की स्त्री तथा कुमारी और चाण्डाली; इनके साथ गमन करनेसे गुरुस्त्रीगमनका प्रायश्चित्त करे।।१७०।।

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरेव च। मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥१७१॥ एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान्। ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताःपतति ह्युपयन्नधः ॥१७२॥

अर्थ–पिता की बहिन की लड़की तथा माता की बहिन की लड़की और माता के भाई की बेटी, (इन ३) बहिनों के साथ गमन करने से चान्द्रायण व्रत करे। ॥१७१॥ इन तीनों को बुद्धिमान् भार्या के अर्थ न चाहे। ज्ञाति होने से ये विवाह करने के अयोग्य हैं, इनके साथ विवाह करने वाला नीचता को प्राप्त होजाता है ॥१७२॥

अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु। रेतःसिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥१७३॥ "मैथुनंतुसमासेव्यपुंसियोषितिवाद्विजः। गोयानेऽप्सुदिवाचैवसवासाःस्नानमाचरेत् ॥१७४॥"

अर्थ–अमानुषी योनियों और रजस्वला और जल में शुक्र को स्खलित करके पुरुष सान्तपन कृच्छ्र व्रत करे॥१७३॥ "द्विज, पुरुषमें मैथुन करके वा स्त्रीमें तथा बैलकी गाड़ीमें या पानीमें वा दिनमें मैथुन करके सचैल स्नान करे॥१७४॥" (१७४ वां श्लोक प्रक्षिप्त है। क्योंकि इस में कोई प्रायश्चित्त विशेष नहीं कहा। स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्। यह तो विहित मैथुन में भी स्नान का विधान

है। फिर भला ऐसे बड़े अप्राकृत कर्म में इतना अल्प स्नान और वस्त्र धो लेना मात्र भी कोई प्रायश्चित्त गिना जासक्ता है?) ।। १७४ ।।

चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च। पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति॥१७५॥ विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि। यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम्॥१७६॥

अर्थ—चण्डाल और नीच की स्त्रियों से गमन करके और इन के यहां भोजन करके तथा प्रतिग्रह लेकर विना जाने विप्र पतित होता है, और जान के करने से उन्हीं की जाति का हो जाता है ।। १७५ ।। प्रदुष्टा स्त्री को भर्त्ता एक घर में वन्द करे, और जो पुरुष को पराई स्त्री के गमन करने में प्रायश्चित्त कहा है, वह उस से करावे ।। १७६ ।।

सा चेत्पुनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयन्त्रिता।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥१७७॥

अर्थ—यदि अपने सजातीय पुरुष की बहकाई हुई फिर बिगड़ जावे, तौ कृच्छ्रचान्द्रायण व्रत, इस का पवित्र करने वाला कहा है ।। १७७ ।।

(१७७ वें से आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:—

[ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः शूद्रेऽपसंगताः।
अप्रजाता विशुध्येयुः प्रायश्चित्तेन नेतराः]

द्विजों की जो स्त्रियें शूद्र से संग करें, वे सन्तान उत्पन्न न करें तब तौ (उक्त) प्रायश्चित्त से शुद्ध हों, परन्तु सन्तान उत्पन्न करने वाली नहीं) ।। १७७ ।।

यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद्द्विजः।
तद्भैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥१७८॥

अर्थ—वेश्या वा शूद्रागमन में एक रात्रि में ब्राह्मण जो पाप करता है, उस को नित्य भिक्षा मांगकर भोजन करता हुवा और गायत्री का जप करने से तीन वर्ष में दूर कर पाता है ।। १७८ ।।

एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः। पतितैः संप्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥१७९॥ संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्। याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात्॥१८०॥

अर्थ–ये पाप करने वाले चारों वर्णों की निष्कृति अर्थात् प्रायश्चित्त कहा, अब ये पतितों के साथ मिलने वालों के प्रायश्चित्त सुनिये ॥ १७९ ॥ १ वर्ष तक पतित के साथ मिल के यज्ञ कराने, पढ़ाने और योनिसम्बन्ध करने से पतित हो जाता है, परन्तु यान आसन और भोजन से नहीं (अर्थात् इन से तो उसी समय पतित हो जाता है) ॥ १८० ॥

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः। स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥१८१॥ "पतितस्योदकंकार्यंसपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः। निन्दितेऽहनिसायाह्णेज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ ॥ १८२ ॥"

अर्थ–जो मनुष्य इन पाप करने वालों के बीच में जिस के संसर्ग को पाकर पतित होताहै वह उस संसर्ग की शुद्धि के लिये उस ही व्रत को करे ॥१८१॥ "सपिण्ड बान्धव लोग जीते हुवे ही पतित की ग्राम के बाहर उदक क्रिया निन्दित दिन के सायंकाल में ऋत्विग् गुरु के सामने करें॥१८२॥"

"दासीघटमपांपूर्णंपर्यस्येत्प्रेतवत्पदा । अहोरात्रमुपासीरन्नशौचंबान्धवैःसह ॥१८३॥ निवर्तेरंश्चतस्मात्तुसंभाषणसहासने । दायाद्यस्यप्रदानंचयात्राचैवहिलौकिकी ॥१८४॥"

"अर्थ–दासी जलभरे घड़ेको प्रेतवत्(दक्षिणाभिमुख होकर)पैरसे गिरावे और बान्धवोंके साथ एक दिन रात अशौच रक्खें॥१८३॥और उस पतित से बोलना, साथ बैठना और दायभाग देना और नौता खौत सब छोड़ देवें ॥१८४॥"

"ज्येष्ठताचनिवर्तेतज्येष्ठावाप्यंचयद्धनम्। ज्येष्ठांशंप्राप्नुयाच्चास्ययवीयान्गुणतोऽधिकः ॥१८५॥प्रायश्चित्तेतुचरित्तेपूर्णकुम्भमपांनवम्। तेनैवसार्धंप्रास्येयुःस्नात्वापुण्येजलाशये॥ १८६॥"

"अर्थ–और बड़ाई छूटजावे और ज्येष्ठपने का उद्धार धन भी छूट जावे तथा बड़े का भाग, जो छोटा गुण में अधिक हो वह पावे ॥ १८५ ॥ परन्तु प्रायश्चित्त करने पर पानी से भरे हुवे नये घड़े को उस के साथ बान्धव लोग पवित्र जलाशय में स्नान करके डाल देवें ॥ १८६ ॥"

"सत्वप्सुतंघटंप्रास्यप्रविश्यभवनंस्वकम्। सर्वाणिज्ञातिकार्याणियथापूर्वंसमाचरेत् ॥१८७ ॥ एतदेवविधिंकुर्याद्योषित्सुप-

तितास्वपि । वस्त्रान्नपानंदेयंतुवसेयुश्चगृहान्तिके ॥ १८८ ॥"

"अर्थ—और वह उस घड़े को पानी में फेंक कर अपने मकान में आकर यथोक्त सम्पूर्ण ज्ञातिकर्मों को करने लगे ॥ १८७ ॥ पतित स्त्रियों के विषय में भी यही विधि करे और खाना कपड़ा देवे तथा घर के पास दूसरे मकान में रहने दे ॥१८८॥"(१८२ से १८८ तक ७ श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। क्योंकि प्रथम तो मृतकश्राद्ध ही वैदिक नहीं। फिर पतित का जीवते हुवे ही मृतकवत् श्राद्ध अशौचादि सब व्यर्थ है। पतित के साथ सब प्रकार के सम्बन्ध का छोड़ देना पूर्व कह ही आये। उस के भाग का निषेध दाय भाग प्रकरण में कर आये। यहां प्रायश्चित्त मात्र का प्रकरण है। अशौच और दायभाग का वर्णन यहां प्रकरणविरुद्ध भी है) ॥१८८॥

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किञ्चित्सहाचरेत् । कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥१८९॥ बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः । शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥ १९० ॥

अर्थ—विना प्रायश्चित्त किये हुवे पाप करने वालों के साथ कुछ भी लेन देन न करे और प्रायश्चित्त किये हुवों की कभी निन्दा न करे।॥१८९॥परन्तु बालक को मारने वाले और किये उपकार को दूर करने वाले तथा शरण आये को मारने वाले और स्त्री को मारने वाले के साथ, धर्मसे शुद्ध होने पर भी,न रहै ॥१९०॥

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि। तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥१९१॥ प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाःब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत्॥१९२॥

अर्थ—जिन द्विजातियों का उक्तकाल में यथाशास्त्र गायत्री उपदेश और उपनयन न किया गया हो,उन का तीन कृच्छ्र कराकर यथाशास्त्र उपनयन करे ॥१९१॥ विरुद्ध कर्म करने वाले और वेद को न पढ़े हुवे द्विज प्रायश्चित्त करना चाहें तो उनको भी इस तीन कृच्छ्रात्मक प्रायश्चित्त को बतावे॥१९२॥

यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम्। तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जपेन तपसैव च॥१९३॥जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः।मासं गोष्ठे पयःपीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥१९४॥

अर्थ—जो ब्राह्मण निन्दित कर्म करके धन कमाते हैं वे उसके छोड़ने और जप तपसे शुद्ध होते हैं॥१९३॥ एकाग्रचित्त हुवा तीन हज़ार गायत्री का जप कर, गोष्ठ में १ महीने भर दुग्धाहार करके, बुरे दान लेने के पापसे छूटता है॥१९४॥

उपवासकृशं तं तु गोव्रजात्पुनरागतम्। प्रणतं प्रति पृच्छेयुःसाम्यं सौम्येच्छसीति किम् ॥१९५॥ सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम्। गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥ १९६ ॥

अर्थ—उस उपवास करके कृश हुवे और गोष्ठ से आये तथा नम्र हुवे को (ब्राह्मण) पूछें कि सौम्य ! क्या तू हम लोगों के बराबर होना चाहता है ?॥१९५॥ (ब्राह्मणों) के आगे ठीक २ कह कर, गायों को घास देवे, गायों के पवित्र किये तीर्थ में वे ब्राह्मण उस का समान व्यवहार आरम्भ करें॥१९६॥

व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च। अभिचारमहीनं च त्रिभिःकृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ १९७॥ शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः। संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९८ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त व्रात्यों को यज्ञ कराने और दूसरों की अन्त्येष्टि कराने से तथा अहीन अभिचार के करते पर ३ कृच्छ्रों से शुद्ध होता है॥१९७॥ शरण आये को परित्याग करके और पढ़ाने के अयोग्य को वेद पढ़ाके, उस से उत्पन्न हुवे पाप को एक वर्ष तक जौ का आहार करने वाला दूर करता है॥१९८॥

श्वशृगालखरैर्दष्टोग्राम्यैःक्रव्याद्भिरेव च।
नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥१९९॥

अर्थ—कुत्ता, सियार, खर, मनुष्य, घोड़ा, ऊंट, सूकर, वा अन्य ग्रामवासी मांसाहारी; इन से काटा हुआ मनुष्य प्राणायाम से शुद्ध होता है॥१९९॥

(१९९ वें से आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:—

[शुना घ्रातोपलीढस्य दन्तैर्विदलितस्य च।
अद्भिःप्रक्षालनंप्रोक्तमग्निना चोपचूलनम्]

जो वस्तु कुत्ते ने सूंघी वा चाटी वा दान्तों से चाबी हो, उस का पानी से धोना और अग्नि से पकाना कहा है)॥१९९॥

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजपएव वा।
होमाश्चसकला नित्यमपाङ्क्त्यानां विशोधनम् ॥२००॥

अर्थ—पङ्क्तिरहितों का विशेष करके शोधन यह कहा है कि तीनदिन उपवास करके सायंकाल में एक मास तक भोजन करना और वेदसंहिता का पाठ और संपूर्ण होमों को करना(८ पुस्तकों में,सकला=शाकला, पाठ भेद है)॥२००॥

उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः।स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥२०१॥ विनाद्भिरप्सु वाप्यार्तःशारीरं सन्निवेश्य च। सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति ॥२०२॥

अर्थ—ऊंट तथा गधे की सवारी पर इच्छा से चढ़ कर, ब्राह्मण नग्न हुवा स्नान करके प्राणायाम से शुद्ध होता है॥ २०१ ॥ विना जल से या जल में ही मलमूत्रादि करके, चाहे रोगी भी हो, वस्त्र के सहित नगर के बाहर (नदी में) स्नान करके और गाय को छूकर शुद्ध होता है ॥ २०२ ॥

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे।स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम्॥२०३॥ हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः।स्नात्वाऽनश्नन्नहःशेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥२०४॥

अर्थ—वेद में कहे हुवे नित्यकर्म के छूटने और स्नातक ब्रह्मचारी के व्रत के लोप में, भोजन का न करना प्रायश्चित्त कहा है ॥२०३॥ब्राह्मण को "हुम्" ऐसा कह कर और विद्यादि में बड़े को " तू " ऐसा कह कर, स्नान करके भूखा रह, दिनभर हाथ जोड़ कर अभिवादन से प्रसन्न करे ॥ २०४॥

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वाबध्य वाससा। विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥२०५॥ "अवगूर्यत्वब्दशतंसहस्रमभिहत्यच। जिघांसयाब्राह्मणस्यनरकंप्रतिपद्यते ॥ २०६ ॥"

अर्थ—तृण से भी (ब्राह्मण को)मार के वा गले में कपड़ा डाल के तथा बकवाद में जीत कर, हाथ जोड़ कर प्रसन्न करे ॥२०५॥ "ब्राह्मण को मारने की इच्छापूर्वक दण्ड उठाने से सौ वर्ष तक नरक को प्राप्त होता है और यदि दण्ड से मारे तो १००० वर्ष तक नरक में रहता है ॥२०६॥"

"शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥२०७॥"

"अर्थ-(मारे हुवे ब्राह्मण का) रुधिर भूमि के जितने रजःकणों को मिलाता है, उतने हज़ार वर्ष रुधिर निकालने वाला नरक में वास करता है।" (२०६ । २०७ भी प्रकरणविरुद्ध और अत्युक्त हैं । पुनरुक्त भी हैं । यहां प्रायश्चित्त मात्र का प्रकरण है, सो २०८ वें में ब्राह्मण को डण्डा उठाने, मारने और रुधिर निकालने के प्रायश्चित्त कहे ही हैं। फिर पूर्ववर्णित नरकादि गति की यहां दुबारा वर्णन करने की आवश्यकता कुछ भी नहीं है)॥२०७॥

अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥२०८॥

अर्थ-ब्राह्मण को मारने के लिये दण्डा उठाने से कृच्छ्र प्रायश्चित्त करे,और मार देने से (आगे कहा हुवा) अतिकृच्छ्र, और रुधिर निकल आवे तो दोनों प्रायश्चित्तों को करे ॥२०८॥

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये। शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्॥२०९॥ यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति। तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥२१०॥

अर्थ-जिन पापों का प्रायश्चित्त नहीं कहा है । उन पापों के दूर करने को शक्ति और पाप को देख कर प्रायश्चित्त की कल्पना कर लेवे ॥२०९॥ जिन उपायों से मनुष्य पापों को दूर करता है, उन देव, ऋषि, पितरों के किये हुवे उपायों को तुम्हारे प्रति कहता हूं ॥२१०॥

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् । त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन् द्विजः ॥२११॥ गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥२१२॥

अर्थ-प्राजापत्य कृच्छ्र का आचरण करने वाला द्विज, तीन दिन प्रातःकाल भोजन करे और तीन दिन सायंकाल भोजन करे और तीन दिन अयाचित अन्न का भोजन करे तथा परले तीन दिन उपवास करे । (यह बारह दिन का एक " प्राजापत्य " व्रत होता है) ॥२११॥ गोमूत्र गोबर दुग्ध दधि

घृत और कुशा का पानी; इन को एक दिन भक्षण करे और इस के पश्चात् एक दिन रात्रि का उपवास करे। इस को "सान्तपन, कृच्छ्र„ कहा है।।२१२।।

एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्। त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः।।२१३।।तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्।प्रति त्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः।।२१४।।

अर्थ–कृच्छ्रवत्, "अति कृच्छ्र" आचरण करने वाला, ३ सायं,३ प्रातः,३ अयाचित; इन ९ दिन में एक एक ग्रास भोजन करे और अन्त के तीन दिन उपवास करे ।।२१३।। "तप्तकृच्छ्र" का आचरण करने वाला द्विज, स्थिरचित्त हुआ,एक बार स्नान करके तीन दिन उष्ण जल पीवे और तीन दिन उष्ण दूध;इसीप्रकार तीन दिन उष्ण घृत और ३ दिन उष्ण वायु पीवे ।।२१४।।

(२१४ से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:–

[अपां पिबेच्च त्रिपलं पलमेकं च सर्पिषः।

पयः पिबेत्तु त्रिपलं त्रिमात्रं चोक्तमानतः।]

जल ३ पल, घृत १ पल,दूध ३ पल, उक्त प्रमाण से ३ मात्रा (उस २ दिन में उस २ वस्तु को) पिया करे ।। २१४ ।।

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम्। पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः।।२१५।। एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्। उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्।।२१६।।

अर्थ–स्वस्थ और स्वाधीन चित्तवाले का बारह दिन भोजन न करना "पराक" नाम कृच्छ्र, सब पाप दूर करता है ।।२१५।। तीन काल स्नान करता हुआ, कृष्णपक्ष में एक एक पिण्ड=ग्रास को घटावे और शुक्लपक्ष में एकएक बढ़ावे, इस व्रत को "चान्द्रायण" कहा है ।। २१६।।

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे। शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम्।।२१७।। अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्यन्दिने स्थिते। नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन्।।२१८।।

अर्थ–इसी पिण्ड=ग्रास के घटाने बढ़ाने और त्रिकाल स्नानात्मक "यव-

मध्याख्य* चान्द्रायण" को शुक्लपक्ष से प्रारम्भ करके जितेन्द्रिय होकर करे ।।२१७।। जितेन्द्रिय हविष्य अन्न का भोजन करने वाला "यति चान्द्रायण" व्रत का आचरण करता हुवा, मध्याह्न में आठ आठ पिण्ड=ग्रास भोजन करे ।।२१८।।

चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः। चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ।।२१९।। यथाकथञ्चित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः।मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैतिसलोकताम्।।

अर्थ–विप्र, प्रातःकाल चार ग्रास भोजन करे और चार सायङ्काल में भक्षण करे। इस को "शिशु,चान्द्रायण" कहते हैं ।।२१९।। स्वस्थ हुवा, जब कभी हविष्य अन्न के, महीने में तीन ८०=दोसौ चालीस ग्रास भोजन करने वाला चन्द्रवत् निर्मल लोक (देह) को प्राप्त होता है ।। २२० ।।

एतद्रुद्रास्तथादित्या वसवश्चाचरन् व्रतम् । सर्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ।।२२१।। महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् । अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ।।२२२।।

अर्थ–इस "चान्द्रायणाख्य" व्रत को रुद्र आदित्य वसु मरुत् इन संज्ञा वाले विद्वानों ने महर्षियों के साथ संपूर्ण पापके नाशार्थ किया है ।।२२१।। (२२०। २२१ भी अनावश्यक और अत्युक्त और भिन्न शैली,के जान पड़ते हैं)।।२२१।। (व्रती) आप नित्य महाव्याहृतियों से होम करे,तथा अहिंसा सत्य अक्रोध और आर्जव का आचरण करे ।।२२२।।

त्रिरह्नस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् । स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ।। २२३ ।। स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा। ब्रह्मचारी व्रती च स्याद् गुरुदेवद्विजार्चकः ।।२२४।।

अर्थ–दिवस में ३ वार और रात्रि में तीन बार सचैल गोता लगाके स्नान करे और स्त्री शूद्र पतित इनके साथ कभी न बोले ।। २२३ ।। स्थान

* यवमध्याख्य=जिस चान्द्रायण में जैसे 'यव, बीच में मोटा और किनारों पर पतला होता है, तद्वत् शुक्लपक्ष से आरम्भ करने के कारण ग्रास वृद्धि कर के फिर कृष्णपक्ष में ग्रास घटने से बिच के ग्रासों का भोजन यवमध्य के समान मोटा हो जाता है ।

आसनों पर उठा बैठा करे और यदि अशक्त होवे तौ भूमि पर नीचे सोवे। व्रती ब्रह्मचर्यको धारण करने वाला तथा गुरु देव द्विजका पूजन करने वाला हो॥२२४॥

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः । सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ २२५ ॥ एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः । अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥२२६॥

अर्थ-यथाशक्ति नित्य गायत्री और अन्य पवित्र मन्त्रों को जपे, संपूर्ण व्रतों में इसी प्रकार प्रायश्चित्त के लिये अनुष्ठान करे ॥२२५॥ लोकविदित पाप वाले द्विजाति इन व्रतों से शोधने योग्य हैं । और अप्रकाशित पापवालों को मन्त्रों और होमों से पवित्र करे ॥ २२६ ॥

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च। पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि॥२२७॥यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते । तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥२२८॥

अर्थ-पाप करने वाला पाप के प्रकाश करने और पश्चात्ताप करने तथा तप और अध्ययन करनेसे और यदि इनमें असमर्थ हो तौ दान करनेसे, पाप से छूटता है ॥ २२७ ॥ मनुष्य जैसे जैसे अधर्म करके उसे कहता है, वैसे वैसे मनुष्य उस अधर्म से छूटता है । जैसे सांप कांचली से॥२२८॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।तथा तथा शरीरं तत्तेनाऽधर्मेण मुच्यते॥२२९॥कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते। नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्या पूयते तु सः॥२३०॥

अर्थ-जैसे जैसे उस का मन दुष्कृत कर्म की निन्दा करता है, वैसे वैसे वह शरीर उस अधर्म से छूटता है ॥ २२९ ॥ पाप को करके पश्चात् संतापयुक्त होने से उस पाप से बचता है और " फिर ऐसा न करूं " इस प्रकार कह कर निवृत्त होने से वह पवित्र होता है ॥ २३० ॥

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् । मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत्॥२३१॥अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम्। तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत्॥२३२॥

अर्थ–इस प्रकार मनसे परलोक में कर्म के फलोदय को विचार कर मन वाणी शरीर से नित्य शुभ कर्म करे।।२३१।।समझ से वा विनासमझे अशुभ कर्म करके उस से छूटने की इच्छा करने वाला फिर उस को दूसरी बार न करे।।२३२।।

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम्। तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत्॥ २ ३ ३ ॥तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्। तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः॥२३४॥

अर्थ–इस पाप करने वाले के मन का जिस अनुष्ठान के करने में भारीपन हो उस में उतना प्रायश्चित्त करे जितने से इस को तुष्टि करने वाला हो।।२३३।।यह सब देव मनुष्यों के सुख का आदि और मध्य और अन्त भी वेद के जानने वाले पण्डितों ने तप को ही कहा है।।२३४।।

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्। वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्॥ २ ३ ५॥ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः। तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम्॥ २ ३ ६॥

अर्थ–ब्राह्मण का वेदशास्त्र जानना और क्षत्रिय का रक्षा करना, वैश्य का व्यापार करना और शूद्र का सेवा करना तप है ।। २३५ ।। इन्द्रियों को जीतने वाले और कन्द मूल फल के भोजन करने वाले ऋषि, संपूर्ण तीनों लोकों के चर तथा अचर को तप ही से देखते हैं।।२३६।।

औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः। तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥२३७॥ यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥२३८॥

अर्थ–औषध और आरोग्य तथा विद्या और नाना प्रकार की देवतों की स्थिति; ये सब तप ही से प्राप्त होते हैं क्योंकि उन का साधन तप ही है ।। २३७ ।। जो दुस्तर है और दुःख से पाने योग्य है, तथा जहां दुःख से जाया जाता है और जो दुःख से किया जाता है, वह सब तपसे मिलने योग्य है। क्योंकि तप दुरतिक्रम है ।।२३८।।

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः। तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः॥२३९॥"कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि

च। स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात्॥२४०॥"

अर्थ—महापातकी और शेष उपपातक वाले, उक्त प्रकार से तप ही के अनुष्ठान करने से उस पाप से छूट जाते हैं ॥ २३९ ॥ "कीड़े सांप पन्तग पशु पक्षी और वृक्ष लता इत्यादि सब तप के प्रभाव से स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। (जड़ पदार्थों का तप और स्वर्गति असम्भव है)॥ २४० ॥"

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः। तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः॥२४१॥ तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः। इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥२४२॥

अर्थ—मनुष्य, मन वाणी काय से जो कुछ पाप करते हैं, उन सब पापों को तप करने वाले तप से ही जला देते हैं ॥२४१॥ तप करने से शुद्ध हुवे ब्राह्मण के यज्ञ में देवता आहुति को ग्रहण करते हैं और उन के मनोवाञ्छित फलों की वृद्धि करते हैं ॥२४२॥

"प्रजापतिरिदंशास्त्रंतपसैवासृजत्प्रभुः।
तथैववेदानृषयस्तपसाप्रतिपेदिरे ॥२४३ ॥,,

अर्थ—"प्रभु मनु जी ने तप ही से इस शास्त्र को बनाया। उसी प्रकार ऋषियों ने तप ही से वेदों को पाया ॥ २४३ ॥"

(२४३ वां श्लोक तो स्पष्ट ही मनु से भिन्नपुरुष का वचन है। परन्तु इसी से यह भी प्रतीत होता है कि कदाचित् यह तप का सब ही व्याख्यान अन्यकृत हो। क्योंकि मनु की शैली यह नहीं देखी जाती कि वह एक बात का इतना बड़ा गीत बढावें। जो हो, परन्तु नन्दन टीकाकार ने "।शास्त्रं=सर्वम्"। माना है। तदनुसार तो यह श्लोक मनुप्रोक्त ही है। परन्तु नन्दन ने भी लिखा है कि (इदं शास्त्रमिति च पठन्ति) इस से जान पड़ता है कि नन्दन के समय में भी "शास्त्रं" पाठ चल गया था) ॥ २४३ ॥

इत्येतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते।
सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥ २४४ ॥

अर्थ—इस सम्पूर्ण तप के उत्तम पुण्य को इस प्रकार देखते हुवे देवता लोग; यह तप का माहात्म्य कहते हैं ॥ २४४ ॥

(२४४ से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:—और इस पर रामचन्द्र ने टीका भी किया है:—

[ब्रह्मचर्यं जपो होमः काले शुद्धाल्पभोजनम् ।
अरागद्वेषलोभाश्च तप उक्तं स्वयंभुवा]

ब्रह्मचर्य, जप, होम, समय पर शुद्ध थोड़ा भोजन, राग द्वेष लोभों का वर्जना, यह ब्रह्मा ने 'तप' कहा है) ।।२४४।।

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा । नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ।।२४५।। यथैधस्तेजसा वह्निःप्राप्तं निर्दहति क्षणात् । तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ।।२४६।।

अर्थ—प्रतिदिन यथाशक्ति वेद का अध्ययन करना और पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करना तथा अपराध को सहन करना; ये महापातक के भी कुसंस्काररूप पापों का शीघ्र नाश करते हैं ।। २४५ ।। जैसे अग्नि तेज से पास के इन्धन को क्षण में सर्वथा जला देता है, वैसे ही वेद का जानने वाला ज्ञानाग्नि से सम्पूर्ण कुसंस्काररूपी पापों को जलाता है ।।२४६।।

"इत्येतदेनसामुक्तंप्रायश्चित्तंयथाविधि। अतऊर्ध्वंरहस्यानांप्रायश्चित्तंनिबोधत ।।२४७।। सव्याहृतिप्रणवकाःप्राणायामास्तु षोडश । अपिभ्रूणहणंमासात्पुनन्त्यहरहःकृताः ।। २४८ ।।"

"अर्थ—इस प्रकार ये पापों के प्रायश्चित्त यथाविधि कहे । अब अप्रकाश (छुपे) पापों का प्रायश्चित्त सुनो ।। २४७।। प्रणव और व्याहृति के साथ प्रतिदिन किये हुवे कुम्भक रेचक पूरक की विधि से सोलह प्राणायाम महीने भर में भ्रूणहत्या वाले को भी पवित्र करदेते हैं ।।२४८।।"

(२४७से २५१ तक ५ श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं । क्योंकि २४७ वें में जो कहा है कि यह प्रत्यक्ष पापों का प्रायश्चित्त कहा । अब छुपों का प्रायश्चित्त सुनो । प्रथम तो प्रायश्चित्त छुपाने पर होता नहीं । प्रत्युत, छिपाना भी एक और पाप है । और पूर्व कह आये हैं कि पाप का स्वीकार करके प्रकट करना भी एक प्रकार से प्रायश्चित्ताङ्ग है । दूसरे यह प्रतिज्ञावाक्य सब पुस्तकों में पुराने समय में न था, क्योंकि कुल्लूक टीकाकार कहते हैं कि "यह श्लोक गोविन्दराज टीकाकारने नहीं लिखा । परन्तु मेधातिथि ने लिखा है।"

तथा राघवानन्द टीकाकार ने इस का पूर्वार्ध इस प्रकार लिखा है कि "इत्येषोभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य वो विधिः" यदि यह पाठ ठीक माने तौ प्रायश्चित्तों की समाप्ति यहीं हो जानी चाहिये। तथा छिपे पाप का गुरुतर=बड़ाभारी प्रायश्चित्त होना चाहिये। यहां २५१ में तौ गुरुस्त्रीगमनके शरीर त्यागरूप प्रायश्चित्तके स्थान में कुछ ऋचाओं, मन्त्रों और सूक्तों का पाठ मात्र ही विधान किया है। इत्यादि हेतुओंसे यह कल्पना प्रतीत होतीहै) २४८

"कौत्संजप्त्वापइत्येतद्वासिष्ठंचप्रतीत्यृचम्।माहित्रंशुद्धवत्यश्चसुरापोऽपिविशुद्ध्यति॥२४९॥ सकृज्जप्त्वास्यवामीयंशिवसंकल्पमेवच।अपहृत्यसुवर्णंतुक्षणाद्भवतिनिर्मलः॥ २५० ॥

अर्थ—कुत्स ऋषि वाला "अप नः शोशुचदघम्" ८ ऋचाका ऋग्वेदस्थ १।९७।१ से सूक्त और वसिष्ठ ऋषि वाली "प्रतिस्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा०" इत्यादि ७।८०।१। ऋचा और "महित्रीणामवोस्तु०" इत्यादि १० । १८५ । १ और "एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन०" इत्यादि८।९५।७ इन शुद्धवती ऋचाओं को जप कर सुरापान करने वाला भी शुद्ध होता है (दो पुस्तकोंमें—माहित्रं=माहेन्द्रम्)।।२४९।। सोना चुराकर एक वार प्रतिदिन "अस्यवामीयं"=जिस में 'अस्यवाम' शब्द है (मतौ छः सूक्तसाम्नोः। अष्टा० ५।२।५९) उस—"अस्यवामस्य पलितस्य होतुः० इत्यादि १।१६५।१—५२ ऋचा के सूक्त को पढ़ कर वा "शिवसंकल्प०" (यजुः ३४। १—६) इस सूक्त को पढ़ कर क्षण भर में निर्मल होता है ।।२५०।।

"हविष्यन्तीयमभ्यस्यनतमंहइतीतिच। जपित्वापौरुषंसूक्तंमुच्यतेगुरुतल्पगः॥ २५१॥,, एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम्।अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किञ्चेदमितीति वा ॥२५२॥

अर्थ—हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि० १०।८८।१ इस ११ ऋचा के सूक्त को और "न तमंहो न दुरितम्०" २।२३।५ अथवा १०।१२६।१ और "इति वा इति मे मनः" १०।११९।१ इस को तथा "सहस्रशीर्षा०" इत्यादि १०।९०।१—१६ इस १६ ऋचाओं के सूक्त को पढ़ कर गुरुस्त्रीगमन का पाप छूट जाता है।।२५१।।"

छोटे बड़े पापों का प्रायश्चित्त करने की इच्छा वाला मनुष्य "अव ते हेळो वरुण नमोभिः" इत्यादि १।२४।१४ ऋचा को अथवा "यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जने०" इत्यादि ७।८९।५ ऋचा को १ वर्ष तक जपे ।।२५२।।

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम्। जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहात् ॥२५३॥ सोमारौद्रं तु बह्वेना मासमभ्यस्य शुद्ध्यति। स्रवन्त्यामाचरन् स्नानमर्यम्णामिति च त्र्यृचम्॥२५३॥

अर्थ—प्रतिग्रह के अयोग्य का प्रतिग्रहण करके और निन्दित अन्न भोजन करके "तरत्समन्दी धावति" यह जिन में आता है उन पवमान देवता की ऋ० ९। ५८। १–४ ऋचाओं को तीन दिन पढ़ने से मनुष्य पवित्र होता है ॥२५३॥ "सोमारुद्रा धारयेथा०" ६। ७४। १–४ सूक्त और "अर्यम्णामिति" "अर्यमणं वरुणं मित्रं०" ऋ० ४। २। ४ (ठीक 'अर्यम्णाम्, प्रतीक वाला ३ ऋचा का कोई सूक्त नहीं मिलता) इन ३ ऋचाओं का एक मास अभ्यास करने से नदी में स्नान करता हुवा बहुत पाप वाला शुद्ध होता है ॥२५४॥

अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत्। अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्षभुक् ॥२५५॥ मन्त्रैःशाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः। सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नमइत्यृचम्॥२५६॥

अर्थ—पापी पुरुष,छः मास तक "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमूतये" १। १०६। १–७ इत्यादि ७ ऋचा का जप करे। और जिसने जल में कोई न करने का काम किया हो,वह १ मास तक भिक्षाभोजन से निर्वाह करे ॥ २५५ ॥ (३ पुस्तकों में अप्रशस्तं=अप्रकाशं पाठ है) "देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि०" यजु ८। १३ इत्यादि ८ मन्त्र कात्यायन श्रौतसूत्र १०। ८। ६ के अनुसार शाकलहोमीय कहाते हैं। इन का पाठ करके हवन करने वाला वा "नमः कपर्दिने०" इत्यादि० यजु १६। २९ (वा "नम आशवे० यजु० १६। ३१ इत्यादि वा "नमो मित्रस्य वरुणस्य०" इत्यादि ऋ० १०।३७।१) ऋचा को जपकर एक वर्षमें बड़े पाप को भी नष्ट करदेता है ॥ २५६ ॥

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गाःसमाहितः। अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुद्ध्यति ॥२५७॥ अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम्। मुच्यते पातकैःसर्वैःपराकैःशोधितस्त्रिभिः ॥२५८॥

अर्थ—बड़े २ पातकों से युक्त हुवा, जितेन्द्रिय होकर गायों को चरावे और पावमानी=पवमान देवता की ऋ० ९। १। १ से ९। ११४। ४ तक अ-

र्थात् ९ वें मण्डल की समस्त ऋचों को एक वर्ष पर्यन्त पढ़कर भिक्षाभोजन करे तब शुद्ध होता है (दो पुस्तकों में महापातक के स्थान में उपपातक पाठ है। वही ठीक भी जान पड़ता है) ॥२५७॥ पूर्वोक्त तीन पराकों से पवित्र हुवा और बाह्य आभ्यन्तर शौचयुक्त होकर अरण्य में वेदसंहिता मात्र को पढ़कर सम्पूर्ण पातकों से छूट जाता है ॥२५८॥

त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः। मुच्यते पातकैःसर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥ २५९॥ यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः। तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ २६० ॥

अर्थ-संयत होकर त्रिरात्र उपवास करे और प्रतिदिन त्रिकाल स्नान करता रहे। उसी समय जल में खड़ा हुवा-"ऋतं च सत्यं०" ऋ० १०। १९०। १-३ इस अघमर्षण सूक्त को त्रिरावृत्ति पढ़कर सब पापों से बच जाता है ॥२५९॥ जैसे अश्वमेध यज्ञ सब यज्ञों में श्रेष्ठ है और सब पापों को दूर करने वाला है, वैसे ही सब पापों को दूर करने वाला यह अघमर्षण सूक्त है।॥२६०॥

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः। ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनःप्राप्नोति किञ्चन ॥२६१॥ ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः। साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैःप्रमुच्यते ॥२६२॥

अर्थ-इन तीन लोकों को भी मारकर और जहां तहां के भी अन्न को भोजन करता हुवा,ऋग्वेद को धारण करने वाला विप्र,कुछ पाप को नहीं प्राप्त होता। (यह ऋग्वेद धारण की अत्युक्ति से प्रशंसा मात्र है। यथार्थ नहीं जान पड़ती। असम्भव भी है) ॥ २६१ ॥ ऋक् संहिता वा यजुष् संहिता अथवा साम संहिता की ब्राह्मणोपनिषदादि सहित समाहित चित्त हो कर तीन वार आवृत्ति करने से सब पापों से बच जाता है ॥२६२॥

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्ठं विनश्यति। तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥ २६३ ॥ ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च। एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥२६४॥

अर्थ-जैसे बड़ी नदी में डाला हुवा ढेला गलजाता है, वैसे सम्पूर्ण पाप त्रिरावृत्ति वेद में डूब जाता है (यह भी वेदों की प्रशंसा है) ॥२६३॥ ऋग्यजुः

और साम के नानाप्रकार के मन्त्र,यह त्रिवृद्वेद जानने के योग्य है। जो इन को जानता है, वह वेदवित् है ।। २६४।।

आद्यं यत् त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता ।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायांसंहितायाम्)
एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अर्थ—सब वेदों का जो प्राथमिक तीन अक्षरयुक्त ओंकाररूप वेद है, जिस में तीनों वेद स्थित हैं,वह दूसरा त्रिवृद्वेद प्रणवाख्य गुप्त (बीजरूप) है। जो इस के स्वरूपार्थ (परमात्मा) को जानता है, वह वेदवित् है ।।२६५।।

(३ प्राचीन पुस्तकों में और राघवानन्द के भाष्य में नीचे लिखा श्लोक अधिक मिलता है। जिस की आवश्यकता भी है। क्योंकि उपसंहार करना उचित भी था। तथा जैसा कि मनु की शैली है,तदनुसार इस श्लोक में पूर्वाध्याय के विषयका उपसंहार और अगले अध्याय के विषय का प्रस्ताव है। अनुमान है कि १२ द्वादशाध्याय के आरम्भ के दो प्रक्षिप्त श्लोकों को बढ़ाने वाले ने यह श्लोक मनुसंहिता को भृगुसंहिता बनाने के लिये निकाल दिया है। वह यह है:—

[एष वोभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य निर्णयः ।
निश्श्रेयसं धर्मविधिं विप्रस्येमं निबोधत]

यह तुम से समस्त प्रायश्चित्त का निर्णय कह दिया। अब ब्राह्मण के इस मोक्षधर्मविधान को सुनो] तथा इसी से आगे दो पुस्तकों में अर्ध श्लोक यह अधिक पाया जाता है:—

[पृथग्ब्राह्मणकल्पाभ्यां स हि वेदस्त्रिवृत्स्मृतः]

यह वेद ब्राह्मण ग्रन्थों और कल्प ग्रन्थों से पृथक् "त्रिवृत्" कहा गया है)२६५

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे
एकादशोऽध्यायः ।। ११।।

—:—:—

ओ३म्

अथ द्वादशोऽध्यायः

"चातुर्वर्ण्यस्यकृत्स्नोऽयमुक्तोधर्मस्त्वयानघ। कर्मणांफलनिर्वृत्तिंशंसनस्तत्त्वतःपराम् ॥१॥ सतानुवाचधर्मात्मामहर्षीन्मानवोभृगुः। अस्यसर्वस्यशृणुतकर्मयोगस्यनिर्णयम् ॥ २ ॥"

"अर्थ—हे पापरहित! तुमने चारों वर्णों का यह संपूर्ण धर्म कहा। अब कर्मों की शुभाऽशुभ परमार्थरूप फलप्राप्ति को हमारे प्रति कहिये (इस प्रकार महर्षि लोगों ने भृगु जी के प्रति पूंछा) ॥ १ ॥ वह धर्मात्मा मनु के पुत्र भृगु उन महर्षियों के प्रति बोले कि इस सम्पूर्ण कर्मसंबन्ध के निश्चय को सुनिये ॥२॥"

(स्पष्ट है कि इन १। २ श्लोकों का कर्त्ता न मनु है, न भृगु। किन्तु कोई ग्रन्थ का संपादक वा संग्राहक कहता है। जिस ने इस धर्मशास्त्र में भृगु का ऋषियों से संवाद मान रक्खा है) ॥२॥

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम्। कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाऽधममध्यमाः ॥ ३ ॥ तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः। दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥

अर्थ—मन और वाणी तथा शरीर; इन से उत्पन्न जो शुभाशुभ फल वाला कर्म है, उसी से मनुष्यों की उत्तम मध्यम अधम गति अर्थात् जन्मान्तर की प्राप्ति होती है ॥३॥ उस देही के उत्तम मध्यम अधम और मन वाणी शरीर के आश्रित फल के देने वाले तीन प्रकार के १० लक्षण युक्त कर्म का चलाने वाला मन को जाने ॥ (यहां से कर्मफल कहते हुवे मोक्ष का क्रमपूर्वक वर्णन करेंगे) ॥४॥

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्। वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥५॥ पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः। असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥

अर्थ—अन्याय से परद्रव्य लेने की इच्छा और (ब्रह्मवध आदि) अनिष्ट का चिन्तन करना तथा "परलोक में कुछ नहीं है" ऐसा विश्वास, यह

तीन प्रकार का मानस कर्म है ।। ५ ।। कठोर और असत्यभाषण तथा सब प्रकार की चुगली करना और असम्बद्ध बकवाद करना; यह चार प्रकार का वाङ्मय कर्म है ।।६।।

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः। परदारोपसेवा च शा-
रीरं त्रिविधं स्मृतम् ।।७।। मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभा-
शुभम्। वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ।।८।।

अर्थ-अन्याय से दूसरे का धन लेना और शास्त्र के विधान (वध्य के वधादि) से अतिरिक्त हिंसा करना तथा दूसरे की स्त्री से गमन करना; यह तीन प्रकार का शारीरक कर्म है ।।७।। मन से किये हुवे शुभ अशुभ कर्मफल का यह मन ही से भोग करता है। वैसे ही वाणी से किये हुवे का वाणी से और शरीर से किये हुवे का शरीर से भोग करता है ।।८।।

(८ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम् ।
मनसा त्रिविधं कर्म दशाऽधर्मपथाँस्त्यजेत्]

३ प्रकार का शारीरक, ४ प्रकार का वाचिक और ३ प्रकार का मानसिक; यह १० अधर्म के मार्ग त्यागने चाहियें) ।।८।।

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ।।९।।

अर्थ-शरीर के कर्मदोषों से मनुष्य वृक्षादिकों की योनि में प्राप्त होता है और वाणी के कर्मदोष से पक्षी, मृग; इन की योनि में प्राप्त होता है, तथा मन के कर्म दोषों से चण्डाल जाति में उत्पन्न होता है ।।९।।

(९ वें श्लोक से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानवो भवेत् ।
अशुभैः केवलैश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते] ।।१।।

शुभ कर्मों से देवभाव, शुभाऽशुभ मिश्रितों से मनुष्यभाव की प्राप्ति और केवल अशुभों से नीच योनियों में जन्म होता है ।। एक अन्य पुस्तक सहित ५ पुस्तकों में निम्नलिखित श्लोक और भी अधिक मिलता है:-

[वाग्दण्डो हन्तिविज्ञानं मनोदण्डःपरांगतिम् ।
कर्मदण्डस्तु लोकांस्त्रीन्हन्यादपरिरक्षितः] ॥२॥

विना रक्षा किया हुवा वाग्दण्ड विज्ञान को, मनोदण्ड परम गति को और कर्म दण्ड तीनों लोकों को नष्ट करता है ॥२॥ तथा एक अन्य पुस्तक सहित ६ पुस्तकों में यह श्लोक और भी पाया जाता है:-

[वाग्दण्डोथ भवेन्मौनं मनोदण्डस्त्वनाशनम् ।
शारीरस्य हि दण्डस्य प्राणायामो विधीयते] ॥३॥

मौन को वाग्दण्ड अनाशन को मनोदण्ड और प्राणायाम को शारीरक दण्ड कहते हैं) ॥९॥

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥१०॥

अर्थ-वाणी का दमन करना अर्थात् अशुभ कर्म से रोकना, ऐसे ही मन को दमन करना और काय को दमन करना; ये तीनों जिस की बुद्धिमें स्थित हैं उस को "त्रिदण्डी" कहते हैं ॥१०॥

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः । कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति॥११॥योऽस्यात्मनःकारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१२॥

अर्थ-मनुष्य सम्पूर्ण जीवों पर इन तीनों प्रकार के दमन को करके और काम क्रोधों को रोककर,फिर सिद्धि को प्राप्त होता है॥११॥जो इस शरीराख्य आत्मा का कर्म में प्रवृत्त कराने वाला है उस को पण्डित"क्षेत्रज्ञ"कहते हैं और जो कर्म करता है उस को भूतात्मा (शरीरसहित आत्मा) कहते हैं ॥१२॥

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजःसर्वदेहिनाम्। येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥१३॥ तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च । उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

अर्थ-संपूर्ण देहियों के साथ होने वाला दूसरा जीवसंज्ञावाला (अन्तःकरण) अन्तरात्मा है, जिस साधन से जन्मों में संपूर्ण सुख दुःख जाना जाता है ॥ १३ ॥ वे दोनों महान् (अन्तःकरण) और क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा)

जो कि पृथिव्यादि पञ्चभूतों से मिले हुवे हैं, उत्कृष्ट अपकृष्ट सब भूतों में स्थित उस परमात्मा को आश्रय करके रहते हैं ।।१४।।

(१४ वें से आगे एक श्लोक तीन पुस्तकों में मिलता है । और वह इसी प्रकरण में गीता में भी आया है । गीता से मनु प्राचीनहै । इस लिये कदाचित् मनु से गीता में गया हो । और यहां अन्तःकरण,शरीर और जीवात्मा का वर्णन किया तो साथ में प्रसङ्गोपयोगी १४ वें श्लोकोक्त "तम्" पदवाच्य परमात्मा के वर्णन की आवश्यकता भी थी । कदाचित् यह श्लोक वास्तव में हो, पीछे जाता रहा हो:--

[उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः)
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्ययईश्वरः]

उत्तम पुरुष तो अन्य है, " जो परमात्मा " कहाता है । और जो ३ लोकों में प्रवेश किये हुवे समर्थ अविनाशी होने से इन का धारण पोषण करता है ।। और अगले १५ वें में भी उसी का प्रसंग है) ।। १४ ।।

असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः। उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः॥१५॥पञ्चभ्यएव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् । शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥१६ ॥

अर्थ—उस परमात्मा के शरीर तुल्य पञ्चभूतसमुदाय से असंख्य शरीर निकलते हैं जो कि उत्कृष्ट अपकृष्ट भूतों में परिणत हुवे निरन्तर कर्म कराते हैं ।।१५ ।। दुष्ट कर्म करने वाले मनुष्यों का मर कर पञ्चतन्मात्रा से दुःख सहन करने के लिये दूसरा शरीर अवश्य उत्पन्न होता है ।। १६ ॥

तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः । तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥१७॥ सोऽनुभूयासुखोदर्कान्दोषान्विषयसङ्गजान् । व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥१८॥

अर्थ—उस शरीर से यम (परमात्मा) की दी हुई यातनाओं को यहां भोग कर प्राणी उन्हीं भूतमात्राओं में विभाग से फिर लुप जाते हैं ।। १७ ।। वह प्राणी निषिद्ध विषयों के उपभोगजनित दुःखों को भोग कर, पाप को दूर करके,बड़े पराक्रम वाले उन्हीं दोनों (अपने मुक्त जीवात्मस्वरूप और परमात्मा) को प्राप्त होता है ।।१८।।

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह। याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम्॥१९॥यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः। तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते ॥२०॥

अर्थ—वे आलस्यरहित (मुक्तात्मा, परमात्मा दोनों) उस (बद्धावस्था युक्त प्राणी) के धर्म और पाप को साथ २ देखते हैं। जिन से मिला हुवा इस लोक तथा परलोक में सुख और दुःख को प्राप्त होता है ।। १९ ।। वह जीव यदि अधिक करके धर्म्य कर्म करता है और अधर्म न्यून, तौ उन ही उत्तम पञ्चभूतों से युक्त, स्वर्ग में सुख को भोगता है ।। २० ।।

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः। तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥२१॥ यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः। तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः॥२२॥

अर्थ—और यदि वह जीव पाप अधिक करे और धर्म थोड़ा करे तौ उन उत्तम भूतों से त्यक्त हुआ यम की यातनाओं को प्राप्त होता है ॥ २१ ॥ उन यम की यातनाओं को प्राप्त होकर वह जीव (भोग से) पापरहित होने पर फिर उन्हीं उत्तम पञ्चभूतों को भाग से प्राप्त होजाता है ।।२२।।

एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा। धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः ॥ २३ ॥ सत्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान्। यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥२४॥

अर्थ—इस जीव की धर्म और अधर्म से इन गतियों को अपने मन से ही देख कर सर्वदा मन को धर्म में लगावे ।। २३ ।। सत्वगुण रजोगुण तमोगुण इन तीनों को आत्मा(प्रकृति)के गुण जाने, जिन से व्याप्त हुवा यह "महान्" स्थावरजङ्गमरूप सम्पूर्ण भावों को अविशेषता से व्याप कर स्थित है।।२४।।

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते। स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥२५॥ सत्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्। एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः॥२६॥

अर्थ—जिस शरीर में गुणोंके बीचमें जो गुणसाकल्य से जब अधिक होताहै, तब वह उस प्राणी को उसी गुण के अधिक लक्षणयुक्त कर देता है।।२५।।यथार्थ

वस्तुका जानना ज्ञान है,वह सत्व का लक्षण है। और उस के विपरीत=न जा-नना=अज्ञान,यह तम का लक्षण है। और राग द्वेष रज के लक्षण हैं। इन सब प्राणियों का आश्रित शरीर, इन सत्वादि गुणों की व्याप्ति वाला होता है।।२६।।

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् । प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्वं तदुपधारयेत्॥२७॥यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकर-रमात्मनः। तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम्॥२८॥

अर्थ—इन तीनों में जो कुछ प्रीति से मिला हुवा और शान्त, प्रकाश-रूप सा आत्मा में जाना जावे उसको सत्व जान लेवे ।।२७।। और जो दुःख से मिला हुवा तथा आत्मा की अप्रीति करे और सर्वदा शरीरियों को वि-षयों की ओर प्रतिकूल खींचने वाला है, उस को रज जाने ।। २८ ।।

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥ त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः । अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥३०॥

अर्थ—जो मोह से युक्त हो, और प्रकट न हो तथा विषय वाला हो और तर्क के अयोग्य और बुद्धिद्वारा जानने के भी अयोग्य हो, उस को तम समझ लेवे ।।२९।। इन सत्वादि तीनों गुणों का यथाक्रम उत्तम मध्यम अ-धम जो फलोदय है, उस संपूर्ण को आगे कहता हूं ।। ३०।।

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्विकं गुणलक्षणम् ॥ ३१ ॥ आरम्भरुचिता धैर्यमसत्कार्य परिग्रहः। विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—वेदका अभ्यास और तप ज्ञान शौच तथा इन्द्रियों का निग्रह, धर्मक्रिया और आत्माका मनन, ये सात्विक गुण के लक्षण हैं ।। ३१ ।। आरम्भ में रुचि होना, फिर अधैर्य तथा निषिद्ध कर्म को पकड़ना और नि-रन्तर विषयभोग, यह राजसी गुण का लक्षण है ।। ३२ ।।

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता । याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३३ ॥ त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् । इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥

अर्थ–लोभ होना, नींद आना, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, और अनाचारी होना, तथा याचनस्वभाव होना, प्रमाद होना, यह तामसी गुण का लक्षण है ॥ ३३ ॥ इन तीनों सत्वादि गुणों का, जोकि तीन काल में रहने वाले हैं, यह क्रमसे संक्षिप्त गुण लक्षण जानना चाहियेः–॥३४॥

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति। तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥ येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्। न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥

अर्थ–जिस कर्म को करके और करते हुवे और आगे करने का विचार करते हुवे (तीनों काल में) लज्जा आती है, उस सब को विद्वान् तम का लक्षण जाने ॥ ३५ ॥ जिस कर्म से इस लोक में बड़ी प्रसिद्धि को चाहता है और विपत्ति(असिद्धि) में शोच नहीं करता, उसको राजस जाने ॥३६॥

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन्। येन तुष्यति चात्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम्॥३७॥ तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते। सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥३८॥

अर्थ–जिस कर्म को सर्वथा जानने के लिये इच्छा करता है और जिस कर्म को करता हुवा तीनों काल में लज्जित नहीं होता, तथा जिस कर्म से इसके मनको आनन्द होवे, वह सत्व गुण का लक्षण है ॥ ३७ ॥ तम का प्रधान लक्षण काम है और रज का प्रधान लक्षण अर्थ कहते हैं। तथा सत्व का प्रधान लक्षण धर्म है। इन में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है ॥३८॥

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते। तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥३९॥ देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः। तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥४०॥

अर्थ–इन सत्वादि गुणों के बीच में जिस गुण से जीव जिस गति को प्राप्त होता है, इस सब जगत् के उस गुण को संक्षेप से यथाक्रम कहता हूं ॥३९॥ सात्विक, देवत्व को और राजस, मनुष्यत्व को, तथा तामस सदा तिर्यक् योनि को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार तीन प्रकार के जन्म की प्राप्ति है॥४०॥

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः। अधमा मध्यमा-

ग्र्या च कर्मविद्याविशेषतः॥४१॥स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः। पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः॥४२॥

अर्थ-जो सत्वादि गुणत्रयनिमित्त तीन प्रकार की जन्मान्तर प्राप्ति कही वह देशकालादि भेद से फिर भी उत्तम मध्यम अधम तीन तीन प्रकार की है और फिर कर्म का विशेष अनन्त जानना चाहिये॥४१॥ वृक्षादि,कीट,कृमि, मत्स्य, सर्प, कछुवे, तथा पशु और मृग; यह तमोनिमित्त निकृष्टगतिहै ॥ ४२ ॥

हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः। सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः॥४३॥चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः। रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥

अर्थ-हाथी, घोड़े, शूद्र, निन्दित म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र और सूकर; यह तमोनिमित्त मध्यम गति है ॥४३॥ और चारण (खुशामदी) तथा पक्षी और दम्भ करने वाले पुरुष और राक्षस (हिंसक) तथा पिशाच (अनाचारी)यह तमोनिमित्तगतियों में उत्तम गति है ॥ ४४ ॥

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः। द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥४५॥ राजानःक्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः। वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥

अर्थ-(दशम अध्याय में कहे हुवे) झल्ल तथा मल्ल और नट तथा शस्त्र से आजीविका वाले मनुष्य और जुवा तथा मद्यपान में आसक्त पुरुष; यह रजोगुण की निकृष्ट गति है ॥ ४५ ॥ राजा लोग तथा क्षत्रिय और राजा के पुरोहित और वाद झगड़ा करनेवाले,यह मध्यम राजस गति है (राघवानन्दने- "प्रधानाः=प्रसक्ताः"की और रामचन्द्र ने"वाद=दान"की व्याख्याकी है)॥४६॥

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये। तथैवाप्सरसःसर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥४७॥ तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः। नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्विकी गतिः॥ ४८ ॥

अर्थ गन्धर्व, गुह्यक यक्ष और देवतों के अनुचर तथा सब अप्सरा, यह रजोगुण की गतियों में उत्तम गति है ॥ ४७ ॥ तप करने वाले यति विप्र

और विमानों पर घूमने वाले, तथा चमकते नक्षत्र और दैत्य, सत्वगुण की अधम गति है ॥ ४८ ॥

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः । पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्विकी गतिः॥४९॥ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मोमहानव्यक्तमेव च । उत्तमां सात्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः॥५०॥

अर्थ–यज्ञ करने वाले,ऋषि लोग,देव(तेंतीस)और चारों वेदज्ञ तथा तारे और कालज्ञ, पितर और साध्य, यह मध्यमा सात्विक गति है ॥ ४९ ॥ ब्रह्मा और विश्व को उत्पन्न करने वाले सृष्टिके आरम्भके ब्रह्माण्डादि और धर्म तथा महान् और अव्यक्त(मूल प्रकृति)इन को विद्वान् लोग उत्तम सात्विकगति कहते हैं॥५०॥

एष सर्वःसमुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः । त्रिविधस्त्रिविधःकृत्स्नः संसारःसार्वभौतिकः ॥५१॥ इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च । पापान्संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२ ॥

अर्थ–यह संपूर्ण तीन तीन प्रकार के कर्म का सार्वभौतिक ३ प्रकार का सब संसार कहा ॥५१॥ इन्द्रियों के प्रसंग से और धर्म के आचरण न करने से मूढ अधम मनुष्य कुत्सित गतियों को प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

यां यांयोनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा । क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस्तत्तत्सर्वं निबोधत ॥५३॥ "बहून्वर्षगणान्घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात् । संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥५४॥"

अर्थ–यह जीव जिस जिस योनि में जो जो कर्म करके इस लोक में जन्म लेता है । वह वह सब सुनो ॥ ५३ ॥ "ब्रह्महत्यादि महापातक करने वाले जीव बहुत वर्ष पर्यन्त घोर नरकों में पड़कर उन के क्षय से संसार में ये जन्म धारण करते हैं ॥ ५४ ॥"

(५३ वें में योनिप्राप्ति की प्रतिज्ञा करके ५५ वें में योनियों का वर्णन है । इस लिये बीच के ५४ वें की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। यह रचना नरकों को संसार से अलग मानने के हेतु की गई जान पड़ती है) ॥५४॥

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् । चण्डालपुक्कसानां च

ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५॥ कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम् । हिंस्त्रानां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥५६॥

अर्थ—कुत्ता, सूकर, गर्दभ, ऊंट, बैल, बकरा, भेड़, मृग, पक्षी, चाण्डाल, पुक्कस, इन की योनि को ब्रह्महत्या करने वाला प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥ सुरा पीने वाला ब्राह्मण—कीड़े, मकौड़े, पतंगे, मैला खानेवाले पक्षियों और हिंसा करने वाले प्राणियों की योनि को प्राप्त होता है ॥५६॥

लूताहिसरठानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् । हिंस्त्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥५७॥ तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि । क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥

अर्थ—लूता, सरठ, सर्प तथा जल में रहने वाले तथा हिंसा करने वाले पिशाचों के जन्म को हज़ारों वार, चोरी करने वाला ब्राह्मण प्राप्त होता है ॥५७॥ घास, गुच्छे, लता और कच्चे मांसको खानेवाले और क्रूर कर्म करने वाले; इन सब का जन्म गुरुपत्नी से गमन करने वाला सैंकड़ों बार पाता है ॥५८॥

हिंस्त्रा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः । परस्परादिनः स्तेनाः प्रेत्यान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ५९ ॥ संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् । अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

अर्थ—जो प्राणियों को वध करने के स्वभाव वाले हैं वे मार्जारादि कच्चे मांस के खाने वाले होते हैं और जो अभक्ष्य के भक्षण करने वाले हैं वे कृमि होते हैं और जो चोरी करते हैं वे परस्पर एक दूसरे को खाने वाले होते हैं। तथा चाण्डाल की स्त्री से गमन करने वाले भी मर कर इसी गति को प्राप्त होते हैं (दो पुस्तकों के अतिरिक्त अन्यों में 'प्रेतान्त्य' अशुद्ध पाठ है) ॥ ५९ ॥ पतितों के साथ रहने और पराई स्त्री से मैथुन करने तथा ब्राह्मण के धनको चुराने से ब्रह्मराक्षस होता है ॥६०॥

मणिमुक्ताप्रबालानि हृत्वा लोभेन मानवः । विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्त्तृषु ॥६१॥ धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः । मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलोघृतम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—मणि, मोती, मूंगा और नाना प्रकार के रत्नों को चुरा कर हेमकारपक्षियों में जन्म को प्राप्त होता है ॥६१॥ और धान्य को चुरानेसे चूहा होता है और कांसे के चुरानेसे हंस तथा जलके चुराने से प्लव नाम पक्षी होता है। मधु को चुराने से मक्खी वा डांस,दूध के चुराने से कौवा और रस को चुराने से कुत्ता और घृत को चुराने से नेवला होता है ॥ ६२ ॥

मांसं गृध्रो वपां मद्गुस्तैलं तैलपकः खगः । चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्दधि ॥६३॥कौशेयं तित्तिरिर्हत्वा क्षौमं हत्वा तु दर्दुरः । कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—मांस को चुराने से गिद्ध होता है और वपा (चरबी) के चुराने से मद्गु नाम पक्षी होता है तथा तेल को चुराने से तेल पीने वाला पक्षी होता है। लवण को चुराने से चीरीवाक पक्षी और दधि के चुराने से बलाका नाम पक्षी होता है ॥६३॥ रेशमी कपड़े के चुराने से तीतर होता है और अलसी के वस्त्र को चुराने से मेंडक तथा कपासके कपड़ों को चुरानेसे क्रौंच, गाय के चुरानेसे गोधा और गुड़ के चुराने से वाग्गुद नाम पक्षी होता है ॥६४॥

छुच्छुन्दरिः शुभान् गन्धान्पत्रशाकं तु बर्हिणः । श्वावित्कृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः॥६५॥ बको भवति हत्वाग्निं गृहकारी ह्युपस्करम् । रक्तानि हत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥६६॥

अर्थ—अच्छे सुगन्धित पदार्थों को चुराने से छछूंदर होता है और साग पात के चुराने से मोर तथा सिद्ध किये विविध अन्न को चुराने से श्वावित् और कच्चे अन्न के चुराने से शल्यक होता है ॥ ६५ ॥ आग को चुराने से बक होता है। शूर्प मुसलादि के चुरानेसे गृहकारी पक्षी (मकड़ी) और रङ्गे वस्त्रों के चुराने से जीवजीवक (चकोर) होता है ॥ ६६ ॥

वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः । स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥६७॥ यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः । अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥६८॥

अर्थ—मृग हाथी को चुराने से भेड़िया होता है और घोड़े के चुरानेसे व्याघ्र होता है तथा फल और मूल के चुराने से बन्दर होता है और स्त्री के

चुराने से रीछ होता है। पीने के पानी को चुराने से चातक पक्षी तथा सवारियों के चुराने से ऊंट तथा पशुओं के चुराने से बकरा होता है ॥ (एक पुस्तक में-स्तोकक=चातक, है) ॥ ६७ ॥ मनुष्य को दूसरे का कुछ असार पदार्थ भी चुराने और विना होम किये हवि के भोजन करने से अवश्य तिर्यक् योनि प्राप्त होती है ॥ ६८ ॥

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हृत्वा दोषमवाप्नुयुः । एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः॥६९॥स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि । पापान्संसृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥ ७० ॥

अर्थ-स्त्री भी इसी प्रकार चुराने से दोषों को प्राप्त होती हैं और उसी पाप से उन्हीं जन्तुवों की स्त्री होती हैं ॥ ६९ ॥ चारों वर्ण विना आपत्ति अपने नित्यकर्म न करने से कुत्सित योनियों को प्राप्त होकर फिर शत्रुओं के दासत्व को प्राप्त होते हैं ॥ ७० ॥

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः । अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः॥७१॥ मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक् । चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः॥७२॥

अर्थ-अपने कर्म से भ्रष्ट ब्राह्मण मरकर वमन का भोजन करने वाला ज्वालामुख होता है और स्वकर्मभ्रष्ट क्षत्रिय पुरीष और शव का भोजन करने वाला कटपूतनाख्य योनिविशेष में उत्पन्न होता है।।७१।।तथा स्वकर्मभ्रष्ट वैश्य मरकर पीव का भक्षण करने वाला मैत्राक्षज्योतिनाम उत्पन्न होता है और वैसे ही स्वकर्मभ्रष्ट शूद्र कपड़े की जूं आदि खाने वाला चैलाशक नाम होता है ।।७२॥

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः । तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥७३॥ तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः । संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥

अर्थ-विषयासक्त पुरुष जैसे जैसे विषयों का सेवन करते हैं,वैसे वैसे उन में उन की कुशलता होजाती है।।७३।। वे निर्बुद्धि उन पाप कर्मों के अभ्यास से यहां उन उन योनियों में दुःखों को प्राप्त होते हैं ।।७४।।

तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्त्तनम् । असिपत्रवनादीनिबन्ध-

नच्छेदनानि च ॥७५॥ विविधाश्चैव संपीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम् । करम्भबालुकातापान्कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥ ७६ ॥

अर्थ–तामिस्रादि उग्र नरकों में दुःख का अनुभव करते हैं, तथा असिपत्रवनादि बन्धन छेदन वाले घोर नरकों को प्राप्त होते हैं ॥ ७५ ॥ और नाना प्रकार की पीड़ा तथा काक उलूक आदियों से भक्षण और तप्त बालुकादि से तपाये जाने और दारुण कुम्भीपाकों को प्राप्त होते हैं ॥७६॥

संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः । शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥७७॥ असकृद्गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम् । बन्धनानि च काष्ठानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥

अर्थ–अधिक दुःख वाली तिर्यक्‌योनियों में नित्य २ उत्पत्ति को प्राप्त होते हैं और नाना प्रकार की शीत आतप की पीड़ा तथा अनेक प्रकार के भयों को भी प्राप्त होते हैं ॥ ७७ ॥ बारम्बार गर्भस्थान में वास और अतिकठिन उत्पत्ति तथा उत्पन्न होने पर शृङ्खलादि के बन्धनों और दूसरे की नौकरी, इत्यादि दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥७८॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः । द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनम् ॥७९॥ जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनम् । क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥ ८० ॥

अर्थ–बन्धु और प्यारों की जुदाई तथा दुर्जनों के साथ रहना और धन कमाने का परिश्रम और धन का नाश और क्लेश से मित्र का मिलना तथा विना कारण शत्रुओं का उत्पन्न होना (ये सब प्राप्त होते हैं) ॥७९॥ अनिवारणीय (वृद्धावस्था) और व्याधियों से क्लेशित होना तथा नाना प्रकार के (क्षुत्पिपासादि) क्लेशों और दुर्जय मृत्यु को भी प्राप्त होते हैं ॥८०॥

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते । तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥८१॥ एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः। नैश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥८२॥

अर्थ–जिस जिस (सात्विक राजस तामस) भाव से जो जो कर्म

करता है वैसे वैसे शरीर से उस उस फल का भोग करता है ।। ८१ ।। यह सब कर्मों का फलोदय तुम से कहा । अब आगे ब्राह्मण का कल्याण करने वाले इस कर्म को सुनो ।।८२।।

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥८३॥ सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् । किञ्चिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥८४॥

अर्थ—वेद का अभ्यास,तप,ज्ञान, इन्द्रियों का रोकना तथा हिंसा न करना और गुरु की सेवा; यह परम कल्याण को देने वाला है।।८३।। इन सब कर्मों में कुछ अधिक श्रेय का देने वाला कर्म पुरुष के लिये कहा है (कि:—) ।।८४।।

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् । तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥८५॥ षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च । श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥८६॥

अर्थ—इन सब में आत्मज्ञान श्रेष्ठ कहा है। वह संपूर्ण विद्याओं में प्रधान है,क्योंकि उससे मोक्षप्राप्त होता है।।८५।।इन छः कर्मों में इस लोक तथा परलोक में सर्वदा अतिशय श्रेय को देने वाला वैदिक कर्म जानना चाहिये।।८६।

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः । अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन् क्रियाविधौ॥८७॥सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च । प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—वैदिक(परमात्माकी उपासनादि)कर्मयोग में ये सब पुण्य उस २ कर्मविधि में संपूर्णता से क्रमपूर्वक आजाते हैं।।८७।।सुख का अभ्युदय करने वाला और मोक्ष का देनेवाला एक प्रवृत्त दूसरा निवृत्त, यह दो प्रकार का वैदिक कर्म है।।८८।।

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥८९॥

अर्थ—इस लोक तथा परलोक में भोगार्थ जो कामना से कर्म किया जाता है उस को प्रवृत्त कहते हैं और जो निष्काम तथा ज्ञानपूर्वक किया जाता है उस को निवृत्त कहते हैं ।।८९।।

८९ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है—

[अकामोपहतं नित्यंनिवृत्तं च विधीयते ।

कामतस्तु कृतं कर्म प्रवृत्तमुपदिश्यते ॥]

अकाम से उपहत कर्म निवृत्त और कामसे किया कर्म प्रवृत्त कहाताहै) ॥८९॥

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।

निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ९० ॥

प्रवृत्त कर्म के करनेसे देवताओं के साम्य को प्राप्त होता है तथा निवृत्त कर्म के करने से पञ्चभूतों को लांघकर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥९०॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥९१॥यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥९२॥

अर्थ—सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को बराबर देखने वाला आत्मयाजी (अर्थात् आत्मयाग करने वाला) स्वाराज्य (मोक्ष)को प्राप्त होता है ॥९१॥ ब्राह्मण चाहे यथोक्त कर्मों को भी छोड़ कर आत्मज्ञान और इन्द्रियनिग्रह तथा वेद के अभ्यास में यत्न करे ॥९२॥

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥९३॥ पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्। अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥९४॥

अर्थ—ब्राह्मण का विशेष करके जन्मसाफल्य यही है । क्योंकि इस को पा कर द्विज कृतकृत्य होता है, दूसरे प्रकार नहीं ॥९३॥ पितर देव मनुष्यों की वेद आंख है और वह वेद सनातन है तथा न्यायादि पढ़ने मात्र से जानने को अशक्य और अप्रमेय है । इस प्रकार वेद शास्त्र की स्थिति है ॥९४॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥९५॥ उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥९६॥

अर्थ—जो स्मृति वेदबाह्य हैं और जो कुदृष्टि हैं,वे सब निष्फल हैं क्योंकि वे अन्धकार में ले जाने वाली हैं॥९५॥ (एक प्रकार से मानो मनु अपनी ही स्मृति

को किसी अंश में वेदविरुद्ध होजाना सम्भव मानते हुवे,यह वचन कहते हैं। क्यों कि मनु के लक्ष्य में रखने को अन्य स्मृति तो उस समय थी ही नहीं) ॥९५॥ वेद से अन्यमूलक जो कुछ ग्रन्थ हैं वे उत्पन्न और नष्ट होते हैं। वे अर्वाक्काल के होने से निष्फल और असत्य हैं(इस लिये जो वेद से प्रमाणित है वही प्रमाण है)॥९६॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥९७॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः। वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः ॥ ९८ ॥

अर्थ-चार वर्ण, तीन लोक, अलग अलग चार आश्रम, तथा भूत भविष्यत् वर्तमान, सब वेद ही से प्रसिद्ध है ॥९७॥ शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ये पांच भी वेद ही से उत्पन्न हैं। यद्यपि उत्पत्ति सत्त्वादि गुणों के कर्म से है।९८॥

(अर्थात् यद्यपि सब पदार्थ अपने २ उपादान से उत्पन्न हैं, परन्तु उन सब का ज्ञान वेद से ही आरम्भ हुवा, इस लिये शब्दादि विषयों की उत्पत्ति वेद से कही गई) ॥९८॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्। तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥९९॥ सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च। सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ १०० ॥

अर्थ-सनातन वेदशास्त्र सर्वदा संपूर्ण जीवों का धारण और पोषण करता है। इस प्राणी के लिये इस वेद के साधन को मैं (मनु)परम मानता हूं ॥९९॥ सेनापत्य और राज्य तथा दण्डनेतापन और सब लोगों पर आधिपत्य को वही पाने योग्य है,जो वेदशास्त्र का जानने वाला है ॥१००॥

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥१०१॥

अर्थ-जैसे बलवान् हुवा अग्नि गीले वृक्षों को भी जला देता है, वैसे ही वेद का जानने वाला अपने कर्मज दोष को जला देता है ॥१०१॥

(१०१ से आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक मिलता है,जो कि आवश्यक भी था,:-

[न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरुचिर्भवेत्।
अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म नेतरत्]

परन्तु वेदबल के भरोसे मनुष्य को (निर्भय हो) पापकर्म में रुचि वाला

नहीं बनना चाहिये। क्योंकि अज्ञान वा प्रमाद से जो कर्म बन जाते हैं, उन्हीं का पूर्व श्लोकानुसार हनन हो सकता है, अन्यों का नहीं) ॥१०१॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०२ ॥

वेद शास्त्रार्थ के तत्त्व को जानने वाला जिस किसी आश्रम में रह कर इसी लोक में रहता हुवा वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥१०२॥

अज्ञेभ्योग्रन्थिनःश्रेष्ठा ग्रन्थिभ्योधारिणोवराः । धारिभ्योज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्योऽव्यवसायिनः॥१०३॥तपोविद्या च विप्रस्य निश्रे-यसकरं परम्। तपसाकिल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते॥१०४॥

अर्थ–विना पढ़ने वालों से ग्रन्थ के पढ़ने वाले श्रेष्ठ हैं, उन से धारण करने वाले श्रेष्ठ हैं, तथा उन से भी उन के अर्थ जानने वाले श्रेष्ठ हैं और अर्थज्ञानियों से अनुष्ठान करने वाले श्रेष्ठ हैं ॥१०३॥ तप और विद्या ब्राह्मण का परम कल्याणप्रद है। तप से पाप दूर होता है और विद्या से मोक्ष प्राप्त होता है ॥१०४॥

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥१०५॥ आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽवि-रोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥

अर्थ–धर्म के तत्त्व को जानने की इच्छा करने वाले को प्रत्यक्ष अनुमान और विविध शास्त्र; इन तीनों को भले प्रकार से जानना चाहिये ॥१०५॥ ऋषियों के कहे हुवे धर्म के उपदेश रूप धर्म को वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क से जो सिद्ध करता है वह धर्म को जानता है, इतर नहीं ॥१०६॥

" नैश्रेयसमिदंकर्मयथोदितमशेषतः।मानवस्यास्यशास्त्रस्यर-हस्यमुपदिश्यते ॥ १०७॥,, अनाम्नातेषु धर्मेषुकथंस्यादिति चेद्भवेत्। यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुःस धर्मःस्यादशङ्कितः॥१०८॥

अर्थ–"यह निश्रेयस का साधन कर्म निःशेष करके यथावत् कहा। अब इस मनु के शास्त्र का रहस्य बताया जाता है॥१०७॥" (यह स्पष्ट ही अन्यकृत है। तथा इस के विना भी प्रसङ्ग में कुछ भेद नहीं पड़ता) ॥१०७॥ जहां पर

सामान्य विधि हो और विशेष न हो वहां कैसा होना चाहिये, इस शङ्का पर कहते हैं कि जो शिष्ट ब्राह्मण कहें, वहां वही अशङ्कित धर्म है ॥ १०८ ॥

धर्मेणाधिगतोयैस्तु वेदःसपरिबृंहणः । ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥१०९॥दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् । त्र्यवरा वाऽपि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥११०॥

अर्थ–ब्रह्मचर्यादि युक्त धर्म से जिन्हों ने षडङ्गादि सहित वेद पढ़ा है वे श्रुति के प्रत्यक्ष करने वाले लोग शिष्ट ब्राह्मण जानने चाहियें ॥ १०९ ॥ (आगे कहे हुवे लक्षण वाले) दश भी श्रेष्ठ विद्वान् जिस धर्म को कहें, वा (उन के अभाव में) सदाचारी तीन भी कहें; उस धर्म को न लांघे ।।११०।।

(११० वें से आगे चार पुस्तकों में १ यह श्लोक प्रक्षिप्त है:–

[पुराणं मानवोधर्मो साङ्गोपाङ्गचिकित्सकः ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः]

१ पुराण २ मनुप्रोक्त धर्म ३ साङ्गोपाङ्ग चिकित्सा शास्त्र ४ साधु आदि की आज्ञा से सिद्ध; इन ४ को हेतुओं से खण्डित न करे) ।।११०।।

त्रैविद्योहेतुकस्तर्की नैरुक्तोधर्मपाठकः । त्रयश्चाश्रमिणःपूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा॥१११॥ ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च । त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥११२॥

अर्थ–१–३ तीन वेद के जानने वाले और ४ (श्रुतिस्मृति के अविरुद्ध) न्यायशास्त्र का जानने वाला तथा ५ मीमांसात्मक तर्क का जानने वाला और ६ निरुक्त जानने वाला तथा ७ धर्मशास्त्रका जानने वाला और ८–१० पूर्व के तीन (ब्रह्मचारी गृही वनी) आश्रम वाले, यह दशावरा सभा (परिषत्) है ॥ १११ ॥ ऋग् यजु साम इन तीन वेदों को जानने वालों की धर्म संशय निर्णय के लिये त्र्यवरा परिषत् जाननी चाहिये ॥ ११२ ॥

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः । स विज्ञेयः परो धर्मोनाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥११३॥अव्रतानाममन्त्राणांजातिमात्रोपजीविनाम्। सहस्रशःसमेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥११४॥

अर्थ–वेद का जानने वाला ब्राह्मण एक भी जिस धर्म को कहे उस को

श्रेष्ठ धर्म जानना चाहिये और अज्ञों का दशहज़ार का भी कहा कुछ न ॥११३॥ व्रतरहित और वेदमन्त्रों से रहित तथा खाली जातिमात्रसे जीते हुवे हजारों भी इकट्ठे हुवों को परिषत्त्व (धर्मनिर्णय का सामर्थ्य) नहींहै॥११४॥

यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः। तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननु गच्छति ॥११५॥ एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम्। अस्मादप्रच्युतोविप्रःप्राप्नोति परमां गतिम् ॥११६॥

अर्थ—तमोगुणप्रधान मूर्ख और धर्मप्रमाण वेदार्थ को न जानने वाले प्रायश्चित्तादि धर्म जिस पुरुष को बताते हैं, उस का पाप सौगुणा होकर उन बताने वालों को लगता है ॥ ११५ ॥ यह निःश्रेयस का साधन प्रकृष्ट धर्मादि सब तुम से कहा। इस के अनुष्ठान से न गिरने वाले ब्राह्मणादि परमगति को प्राप्त होते हैं ॥ ११६ ॥

"एवंसभगवान्देवोलोकानांहितकाम्यया। धर्मस्यपरमंगुह्यंममेदं सर्वमुक्तवान् ॥११७॥" सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः। सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥११८॥

अर्थ—"इस प्रकार उस भगवान् देव (म[illegible] [illegible]गों के हित की इच्छा से धर्म का परमगुह्य यह सब मुझ को उपदेश[illegible]।" (भृगु वा सम्पादक कोई कहता है) ॥ ११७ ॥ सत् और असत् [illegible] समाहित चित्त होकर आत्मा में देखे, क्योंकि सब को आत्मा में दे[illegible]ने वाला (परमात्मा के भय से) अधर्म में मन नहीं लगाता ॥ ११८ ॥

आत्मैव देवताःसर्वाःसर्वमात्मन्यवस्थितम्।आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥११९॥खं संनिवेशयेत्खेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम्। पक्तिदृष्ट्योःपरं तेजःस्नेहेऽपोगां च मूर्तिषु॥१२०॥

अर्थ—आत्मा ही संपूर्ण देवता है, क्योंकि सब कुछ आत्मा में ही स्थित है और इन शरीरियों (जीवात्माओं) के कर्मयोग को आत्मा ही उत्पन्न करता है ॥ ११९ ॥ अपने आकाशों में आकाश को निविष्ट करे और चेष्टा तथा स्पर्श में वायु को और जाठराग्नि तथा दृष्टि में परमतेज को और शरीर के स्नेह में जल को तथा मूर्त्ति (शरीरों) में पृथिवी को सन्निविष्ट करे। (इस क्रम से ध्यानावस्थित होवे) ॥१२०॥

मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम्। वाच्यग्निं मित्रमुत्स-
र्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥१२१॥ प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसम-
णोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥१२२॥

अर्थ—मन में चन्द्र को, कान में दिशाओं को, गति में विष्णु को, [illegible]
को, वाणी में अग्नि को, गुदा में मित्र को, लिङ्ग में प्रजापति को निवेशित करे ॥१२१॥
इन २ इन्द्रियों के ये २ अधिष्ठातृ देवता=दिव्य गुण हैं। ध्यान करनेवाला
प्रथम उस २ इन्द्रिय के साथ उस २ के अधिष्ठातृ देवता की भले प्रकार स्थिति
सम्पादन करे। अर्थात् इन्द्रियों से अनुचित विषयग्रहण को वर्जे) ॥१२१॥
सब के नियन्ता और अणु से अणु तथा सुवर्ण की सी आभा वाले और स्वप्न
की सी (एकाग्र) बुद्धि से गम्य को परम पुरुष जानना चाहिये ॥ १२२ ॥

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे
ब्रह्म शाश्वतम् ॥१२३॥ एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्ति-
भिः। जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥१२४॥

अर्थ—इस को कोई अग्नि कहते हैं और कोई मनु, कोई इन्द्र, कोई प्राण
और कोई शाश्वत ब्रह्म [illegible] १२३॥ यह आत्मा सब जीवों को पञ्च महा-
भूतों से व्याप्त कराकर नि[illegible] समान जन्म वृद्धि क्षयों से घुमाता है ॥१२४॥

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यन्नात्मानमात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्र-
ह्माभ्येति परं पदम् ॥१२५॥ "इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्
द्विजः। भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ॥१२६॥"

अर्थ—इस प्रकार जो सब में आत्मा से परमात्मा को देखता है, वह
समदृष्टि होकर परमपद ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ १२५॥ "इस प्रकार यह
मनु का शास्त्र, भृगु ने कहा है। इस को पढ़ने वाला द्विज, सर्वदा आचार
वाला होता है और यथेष्ट गति को प्राप्त होता है ॥१२६॥" (यह वचन भृगु
से भी पीछे बना कर मिलाया गया स्पष्ट है)

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वादशो-
ऽध्यायः ॥१२॥ समाप्तैषा मनुसंहिता च ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे
द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥